संस्कृत के प्रमुख काव्यों में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

डॉ० राजदेव मिश्र
डॉ० शुचिता राय

संस्कृत के प्रमुख काव्यों में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

समीक्षा-लेखक
डॉ० राजदेव मिश्र
पूर्वकुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

लेखिका
डॉ० (कु०) शुचिता राय
एम० ए०, साहित्याचार्य, पी-एच० डी०

प्रकाशक
शारदा प्रकाशन
फैजाबाद

प्रकाशक :
शारदा प्रकाशन
आलोकपुरी (नयी कालोनी)
नियावाँ रोड, फैजाबाद (उ० प्र०)
फोन : 20233

●

प्रकाशनाधिकार : लेखिकाधीन
प्रथम संस्करण, 1998

●

मूल्य : रु० 250.00

मुद्रक :
सीमा प्रेस
भरत मिलाप कालोनी,
ईश्वरगंगी, वाराणसी

समर्पण

ममतामयी माता स्वर्गीया
श्रीमती प्रभावती राय
को
जिनका वात्सल्यमय स्नेह
मेरे सारस्वत अध्यवसाय का
मूल प्रेरणा-स्रोत है ।

—शुचिता

समीक्षा

संस्कृत-वाङ्मय विश्व का सर्वश्रेष्ठ, मौलिक, व्यापक तथा सर्वाङ्गीण ाङ्मय है। जब तक संस्कृत-वाङ्मय से विदेशी विद्वानों का सम्यक् परिचय नहीं आ था, तब तक उनकी यह भ्रान्त धारणा थी कि 'संस्कृत-वाङ्मय एक धार्मिक ाङ्मय है और उसमें धार्मिक ग्रन्थों की ही बहुलता है।' परन्तु विलियम जोन्स, क्समूलर, कीथ, विण्टरनित्स, मैकडानेल आदि पाश्चात्य विद्वानों ने पाश्चात्य- को यह स्पष्ट कर दिया कि संस्कृत-वाङ्मय कितना मौलिक, विशाल एवं है। वस्तुतः संस्कृत-वाङ्मय जैसा वाङ्मय विश्व की अन्य किसी भाषा में ध नहीं है। उसकी विशालता तथा सर्वाङ्गपूर्णता को समझने के लिये वेदों- ं, व्याकरण, ज्योतिष आदि वेदाङ्गों, ब्राह्मण-आरण्यक ग्रन्थों, उपनिषदों, -उपपुराणों, आस्तिक-नास्तिक दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों, विज्ञान-वैद्यक-स्थापत्य भिन्न कलाओं एवं पशु-पक्षी आदि से सम्बन्धित लक्षणग्रन्थों के अतिरिक्त के सभी अङ्गों का अनुशीलन आवश्यक है। पाश्चात्य विद्वान् विण्टरनित्स की तो संस्कृत-वाङ्मय की विपुलता और व्यापकता को देखकर दंग रह जाती है वे निःसंकोचरूप से भारतीय साहित्य की महिमा का बखान करते हैं। में मानव-मात्र के अभ्युत्थान के लिये निर्धारित चारों पुरुषार्थों का विशद हुआ है। उसमें मानव के आध्यात्मिक विकास के साधन श्रेय का तथा तक विकास के साधन प्रेयका सम्यक् विवेचन किया गया है। वस्तुतः संस्कृत- मय एक ऐसा निर्मल एवं परिष्कृत दर्पण है, जिसमें भारत के अतीत का धार्मिक, ाजिक, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक स्वरूप प्रतिबिम्बित है। उसमें भारत की ोलिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक, आर्थिक, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक वास्तविक ति का यथार्थ प्रतिबिम्बन है।

जहाँ तक संस्कृत में काव्य-जगत् का प्रश्न है, वह अपने विविध महत्त्वों वं वैशिष्ट्यों के साथ उसमें एक प्रकार से विकास की पराभूमि में प्रतिष्ठित है। वस्तुतः संस्कृत-वाङ्मय की कीर्ति में चार-चाँद लगाने का महनीय कार्य उसके मक अङ्ग ने ही किया है, जिसके कारण भारतीय विद्वानों के साथ ही, विशेषकर योरोपीय विद्वानों ने भी उसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। सौन्दर्य का जितना उत्कर्ष एवं विकास संस्कृत-काव्यों में मिलता है, अन्यत्र दुर्लभ है। कवि में प्रतिभा की जन्मजात सम्पत्ति होती है, जिसके

द्वारा वह चराचर के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरूप की परख कर लेता है। कवि का प्रातिभ चक्षु वहाँ पहुँच जाता है, जहाँ रवि की किरणें भी नहीं पहुँच सकतीं। इसीलिये कहा गया है—यत्र न रविः तत्र कविः। वस्तुदर्शन की क्षमता के साथ उसमें दृष्ट वस्तु के वर्णन की भी अद्भुत क्षमता होती है। अपने इसी दर्शन एवं वर्णन के कारण वह 'कवि' की पदवी प्राप्त करता है। इस सन्दर्भ में आचार्य भट्टतौत की अधोलिखित उक्ति सङ्गत तथा समीचीन ही है—

दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ लोके रूढा कविश्रुतिः।

ऐसे प्रतिभावान् लोकोत्तरवर्णनानिपुण कवि का कर्म ही काव्य कहलाता है। आचार्य मम्मट की भी यही मान्यता है—

लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म···काव्यम्।

संस्कृत के आचार्यों ने भौतिक जगत् के स्रष्टा ब्रह्मा से कवि की तुलना कर, कवि की वाङ्मयी सृष्टि (काव्य) को, ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा श्रेष्ठ ठहराया है। उसकी श्रेष्ठता भी सकारण है। अलौकिक एवं जन्मजात प्रतिभा वैभव से मण्डित कवि उन सभी बन्धनों तथा परवशताओं से विनिर्मुक्त है, जिनसे विश्व-विधाता बँधा हुआ है। कवि अपार काव्यजगत् का अनुपम स्रष्टा है। वह विश्व की किसी भी वस्तु को अपनी इच्छानुसार परिवर्तित कर सकता है। काव्य की प्रत्येक वर्ण्य वस्तु उसकी रुचि या इच्छा की क्रीत दासी होती है। उसके स्वरूप धारण में कविरुचि की महती भूमिका है। इस पृष्ठभूमि में निम्नाङ्कित कथन के औचित्य का सत्यापन स्वतः हो जाता है—

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथैव परिवर्तते॥

मन्द व्यक्ति भी निष्प्रयोजन किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता—

'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।'

ऐसी स्थिति में भला मनीषी कवि की अप्रतिम सृष्टि (काव्य) कैसे निष्प्रयोजन हो सकती है? इसी विन्दु को दृष्टिगत कर संस्कृत के आलङ्कारिकों (काव्य-शास्त्राचार्यों) ने जहाँ काव्य के स्वरूप हेतु, भेद आदि का सम्यक् विश्लेषण किया है, वहीं उन्होंने काव्य-प्रयोजनों पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला है। आचार्य मम्मट ने प्रायः सभी आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य-प्रयोजनों को दृष्टिगत कर अधोलिखित रूप से काव्य के समन्वित प्रयोजन-स्वरूप का वर्णन किया है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मितयोपदेशयुजे॥

तदनुसार काव्य के छः प्रयोजन होते हैं—यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान, अमङ्गलनाश, परम-आनन्द तथा उपदेश। इन सभी प्रयोजनों में रसास्वादजनित आनन्द सर्वश्रेष्ठ है। काव्यपाठक अथवा नाटयदर्शक को काव्यपाठ या नाटयदर्शन के समय जो एक अलौकिक आनन्दविशेष की अनुभूति होती है, वही काव्य का सर्वशिरोमणिभूत प्रयोजन है। उस आनन्द में विभावानुभावादि जनित रस की महती भूमिका है। यहाँ यह ध्येय है कि इसी मूर्धन्य प्रयोजन को दृष्टि में रखकर संस्कृत का कविसमुदाय काव्य-सर्जना में प्रवृत्त दृष्टिगोचर हुआ है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना असङ्गत तथा अप्रासङ्गिक नहीं है कि संस्कृत-कवियों ने जिस कविता की सृष्टि की है, वह अपने माधुर्य, लालित्य तथा शब्द-सौष्ठव के कारण सहृदयों के हृदय को हठात् अपनी ओर समाकृष्ट कर लेती है। यह संस्कृत-साहित्य का परम सौभाग्य ही है कि उसने व्यास, वाल्मीकि, भास कालिदास, अश्वघोष, भारवि, माघ, श्रीहर्ष, भवभूति, शूद्रक, बाणभट्ट, जयदेव आदि महाकवियों की रसभावमयी काव्यकृतियों से अपने को समृद्धिशाली बनाया है। संस्कृत काव्यों, चाहे वे दृश्य हों या श्रव्य अथवा मिश्र (चम्पू), की रसमयता उनकी अपनी विशेषता है। संस्कृत काव्यों का रचयिता यदि सरस एवं भावुक है, तो उसकी रसभावमयी सृष्टि का रसास्वाद करने वाला पाठक या दर्शक भी सहृदय (सरस) होना चाहिये। यही वह विन्दु है, जिसे लक्षित कर कही गयी अधोऽङ्कित उक्ति में जैसे सम्पूर्ण कविलोक की कामना की अभिव्यक्ति हुयी है—

अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं शिरसि मा लिख, मा लिख, मा लिख।

साथ ही काव्य का रसवत्तामय स्वरूप भी व्यञ्जित हुआ है।

उक्त विशेषताओं से ओत-प्रोत संस्कृत-काव्यसंसार अपनी उन्नति को चरम गन्तव्य पर पहुँच चुका है। आदिकवि वाल्मीकि ने, 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः···काममोहितम्', इस आदिकविता के द्वारा जो काव्य-धारा प्रवाहित की, वह अविच्छिन्न गति से आगे बढ़ती गयी। आज की संस्कृत कविता में चाहे भले ही उस काव्यधारा का आदिमरूप पूर्ववत् दृष्टिगोचर न होता हो, पर संस्कृतकाव्येतिहास का प्राक्काल और मध्यकाल तो आदिम काव्यधारा का ही अभिन्न अङ्ग है। आधुनिक काव्यों में भी वह स्वरूप, न पूर्णतः सही, स्वल्पतः तो अस्तित्व में है ही। रसमयता को काव्य का वास्तविक स्वरूप मानकर ही आचार्य भरत की यह उक्ति चरितार्थ होती है कि 'रस के बिना काव्य का कोई भी अर्थ प्रवृत्त नहीं होता'—

नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते ।

यहाँ यह ध्येय है कि रसमयता की स्थिति संस्कृत की किसी काव्यविधा विशेष से ही सम्बद्ध नहीं है। उसका महत्त्व संस्कृत काव्य की सभी विधाओं में अङ्गीकृत है। चाहे वह पद्यकाव्य हो, गद्यकाव्य हो अथवा मिश्रकाव्य। रस का सर्वप्रथम विचार भरत के नाट्यशास्त्र में नाट्य के प्रसंग में ही हुआ है। संस्कृत में यह मान्य है कि सरस काव्यत्व की स्थिति श्रव्य तथा दृश्य दोनों प्रकार के काव्यभेदों में समान रूप से पायी जाती है। काव्य का वर्गीकरण चाहे जिस आधार पर किया जाय, सभी काव्यभेदों को (संस्कृत में) रसपरक होना अनिवार्य है। श्रव्य-काव्यभेदों, महाकाव्यों, खण्डकाव्यों (गीत काव्यों) आदि से जिस प्रकार रसास्वाद सम्भव है, उसी प्रकार का रसास्वाद दृश्यकाव्यभेदों, रूपकों, उपरूपकों से भी किया जा सकता है। पद्यकाव्यभेद, रघुवंश, किरात, नैषध आदि जिस प्रकार अपने पाठकों को रससिक्त करते हैं, उसी प्रकार गद्य और मिश्रकाव्य भी कर सकते हैं। कालिदास, भवभूति आदि के रूपकों, शाकुन्तलम्, उत्तररामचरितम् आदि तथा बाणभट्ट आदि के गद्यकाव्यों कादम्बरी आदि में व्याप्त रस की सरसता का अपलाप कैसे किया जा सकता है? मिश्रकाव्यभेद चम्पू के काव्यत्व तथा रसरूपता में क्या किसी प्रकार का सन्देह किया जा सकता है?। रूपकों (नाटकों) से सम्बन्धित 'नाटकान्तं कवित्वम्', 'दशधैव रसाश्रयम्' आदि विख्यात उक्तियों तथा कादम्बरीसम्बद्ध "कादम्बरीरसभरेण समस्त एव मत्तो न किञ्चिदपि चेतयते जनोऽयम्" आदि जिह्वाग्रनर्तकी सदुक्तियों को निरर्थक मानकर कैसे नकारा जा सकता है? निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सभी काव्यविधाओं में कवित्वपूर्णता तथा रसमयता है। यही एक ऐसा बिन्दु है जिसके आधार पर संस्कृत में गद्यकाव्य के रचयिता बाण, मात्र रूपकों के रचयिता भास एवं भवभूति को क्रमशः गद्यकार और नाटककार न कहकर महाकवि ही कहा जाता है। अन्य भाषाओं के साहित्य में ऐसी स्थिति नहीं है। वहाँ नाटकों के लेखक के लिए 'नाटककार' तथा गद्य के लेखक के लिए 'गद्यकार' या 'गद्यलेखक' आदि शब्द विशेष रूप से ख्यात एवं प्रचलित हैं।

प्रस्तुत सन्दर्भ में संस्कृत काव्यशास्त्र की संक्षिप्त चर्चा कर लेना समीचीन है। संस्कृत का काव्यजगत् जिस प्रकार समृद्ध तथा व्यापक है, उसी प्रकार उसका काव्यशास्त्र अथवा अलंकारशास्त्र भी समृद्ध एवं परिपूर्ण है। संस्कृत साहित्य का परिशीलन करने से यह तथ्य नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि उसमें जहाँ एक ओर कवियों ने सरस काव्यों, नाटकों आदि की रचनायें कीं, वहीं दूसरी ओर आचार्यों ने उनके (काव्य के) स्वरूप आदि पर गहन विचार भी किया। आचार्य भरत

से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक साहित्यशास्त्र के आचार्यों की एक बहुत बड़ी परम्परा है, जो हजारों वर्षों की कालावधि को समेटती है। आचार्यों के द्वारा उस कालावधि में अनेकानेक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचनायें की गयीं, जिनमें काव्य के स्वरूप, प्रयोजन, हेतु आदि के विचार के साथ ही, शब्द, अर्थ, वृत्तियों—अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना, शब्दालंकारों, अर्थालंकारों, दोषों, गुणों, भेदों एवं उसके मुख्य तत्त्व आदि का सम्यक् एवं गहन चिन्तन हुआ है। संस्कृत के काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों का परिशीलन करने के पश्चात् कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति यह कहने के लिए सर्वथा बाध्य है कि संस्कृत के साहित्य–शास्त्रीय ग्रन्थों में जितना गम्भीर व्यापक तथा साधार चिन्तन हुआ है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। अन्य विषयों के अतिरिक्त संस्कृत साहित्यशास्त्र-जगत् का काव्य-भेदगत विचार भी अत्यन्त व्यापक है। आचार्यों ने आकार, बन्ध, भाषा, अर्थरमणीयता, इन्द्रियग्राह्यता, वस्तु आदि अनेक दृष्टियों से काव्य के भेदों का सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन किया है। उनके काव्यभेद-विमर्श का सम्यक् मनन और विश्लेषण करने पर कोई भी विवेकशील व्यक्ति संस्कृत काव्यों की विविधता तथा व्यापकता का सहज अनुमान लगा सकता है। संस्कृत में जिस प्रकार अनेक उदात्त कोटि के महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीतिकाव्य लिखे गये हैं, वहीं अनेक उत्कृष्ट रूपकों, चम्पूकाव्यों तथा गद्यकाव्यों की भी रचनायें हुई हैं।

सम्प्रति संस्कृत-काव्यों की वस्तु (वर्ण्य विषय) के बारे में विचार कर लेना प्रसंगोपेत है। इस विषय में संस्कृतालंकारशास्त्र के आचार्यों का अत्यन्त व्यापक एवं समीचीन विचार दृष्टिगोचर होता है। उनके मतानुसार चराचर जगत् का कोई भी प्राणी अथवा पदार्थ काव्य का विषय बन सकता है। उनके अनुसार जड़ और चेतन, दोनों जगत् काव्य में वर्णनीय विषय के रूप में स्थान पा सकते हैं। आज के हजारों वर्ष पूर्व ही संस्कृत के मूर्धन्य नाट्यशास्त्राचार्य भरत ने एतद् विषयक उद्घोषणा कर दी थी—

न तज्ज्ञानं, न तच्छिल्पं, न सा विद्या, न सा कला।
नासौ योगो, न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।।

और इसी प्रकार की मान्यता का प्रकाशन भरत के परवर्ती आचार्य भामह ने भी किया। उनका अपने अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थ काव्यालङ्कार में कहना है—

न स शब्दो न तद् वाच्यं न सा विद्या न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गम् अहो भारो महान् कवेः।।

इस विषय के वर्णन-विस्तार में न जाकर यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि संस्कृत-काव्यों में काव्यवस्तु के रूप में चराचर मात्र को व्यापक रूप से स्थान मिला है।

सम्प्रति प्रस्तुत ग्रंथ (संस्कृत के प्रमुख काव्यों में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण) के विषय में कुछ कहने के पूर्व हम संस्कृत में वात्सल्य रस के काव्यशास्त्रीय स्वरूप एवं उसकी तथा शैशव-चित्रण की काव्यगत स्थिति पर प्रकाश डालना चाहते हैं।

संस्कृत की रस-चिन्तन-परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। संस्कृत में आचार्य भरत के पूर्व भी अलंकारशास्त्रीय विषयों का विवेचन किया गया है, परन्तु आचार्यभरतविरचित नाट्यशास्त्र के द्वारा ही संस्कृत-अलंकारशास्त्र की स्वस्थ परम्परा का श्रीगणेश होता है। आचार्यों द्वारा समस्त काव्य-प्रयोजनों में आनन्द-जनित रस को सर्वप्रमुख स्थान पर रखने के कारण इस पर (रस पर) विशद विचार किया गया है। यूँ तो कोष-ग्रन्थों में 'रस' के अनेक अर्थ दिये गये हैं परन्तु उनमें से रस का आस्वाद रूप अर्थ ही काव्य-क्षेत्र में अभिप्रेत होता है। आचार्य भरत के अनुसार जब सहृदय के हृदय में स्थित स्थायी भाव का संयोग (सम्बन्ध), विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के साथ होता है, तब रस की निष्पत्ति होती है। भरत का अधोलिखित रस सूत्र इसी भाव को प्रख्यापित करता है—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।'

रस-सूत्रगत 'निष्पत्ति' शब्द को लेकर भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त इन चारों आचार्यों ने अपनी अपनी मान्यता के अनुसार उसका अर्थ किया है और उसके आधार पर रसोत्पत्ति विषयक अपने मत की स्थापना की है। हम यहाँ उन सभी आचार्यों के मतों के ऊहापोह में न जाकर, केवल आचार्य अभिनव-गुप्त के मान्य मत के आधार पर यही कहना चाहते हैं कि 'जब कोई सहृदय किसी काव्य का पाठ करता है अथवा किसी नाट्य कृति का रंगमञ्च पर मञ्चन देखता है, तो काव्य में वर्णित विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के संयोग से उसके (सहृदय के) हृदय में प्रसुप्त 'रति', 'उत्साह,' 'शोक' आदि स्थायी भाव पौनःपुन्येन उद्भूत होकर रस दशा को प्राप्त हो जाते हैं और वे सहृदय के हृदय में एक अलौकिक आनन्द की अनुभूति कराते हैं। अलंकार-शास्त्रीय ग्रन्थों में रसों के ऐसे स्थायी भावों, विभावों, अनुभावों तथा व्यभिचारी भावों का स्पष्ट विवेचन किया गया है। उन सब पर प्रकाश डालना यहाँ पर अनपेक्षित है। जहाँ तक रस-संख्या का प्रश्न है, सामान्यतः वह आठ मानी जाती है। आठ रस ये हैं—१. शृंगाररस २. हास्यरस ३. करुणरस ४. रौद्र-रस, ५. वीर रस, ६. भयानक रस ७. वीभत्स रस ८. अद्भुत रस।

आचार्य भरत ने इन्ही आठ रसों को मान्यता दी है। पर आचार्य मम्मट आदि ने 'शान्त रस' नामक नवम रस को भी माना है। इन नौ रसों के अतिरिक्त भानुदत्त तथा रूप गोस्वामी ने भक्ति रस को तथा आचार्य विश्वनाथ ने वत्सल रस (वात्सल्य-रस) को मान्य किया है। उनके अतिरिक्त आचार्य भोज भी वत्सल (वात्सल्य रस) को मानते हैं। रूप गोस्वामी 'वात्सल्यरस' को पृथक् रूप से न मानकर उसे भक्ति रस के भेद में ही 'वात्सल्य भक्ति रस' इस नाम से परिगणित करते हैं। इन आचार्यों के विपरीत अभिनवगुप्त वात्सल्य रस को स्वीकार नहीं करते।

आचार्य विश्वनाथ ने 'वात्सल्य रस' के स्थान पर 'वत्सल रस' का उल्लेख कर, उसकी विवेचना की है। तदनुसार 'वात्सल्य' अथवा वत्सल रस का स्थायी भाव—वत्सलता (वात्सल्य) स्नेह होता है तथा उसका आलम्बन-विभाव पुत्र (पुत्री) आदि एवं उद्दीपन विभाव, पुत्र-पुत्री आदि की बालोचित चेष्टायें आदि होती हैं। उसका उद्दीपन व पुत्रादि का आलिङ्गन, उनके अंग का स्पर्श, शिर का चुम्बन तथा अनुभाव आनन्द जनित अश्रु, आदि होते हैं। पुत्रादि की अनिष्टादि शंका, हर्ष तथा गर्व आदि वात्सल्य रस के संचारी भाव के रूप में परिगणित किये जाते हैं। श्रृंङ्गार की भाँति वात्सल्य रस के भी संयोग तथा वियोग—ये दो भेद होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर वात्सल्य रस के विषय में यह कहा जा सकता है कि उसके मूल में पुत्र-पुत्री आदि सन्तान ही हैं, क्योंकि उसके (वात्सल्य रस के) स्थायी भाव, विभाव, (आलम्बन-उद्दीपन) अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव—सभी के मूल मे सन्तान (वत्स) है। कोष ग्रन्थों के अनुसार 'वत्स' के परिगणित अर्थों में पुत्र आदि भी हैं और उसी वत्स (पुत्र आदि) में स्नेह रखने वाले माता-पिता आदि को 'वत्सल' कहा जाता है। उसी 'वत्सल' शब्द से 'ष्यञ्' प्रत्यय जोड़कर 'वात्सल्य' शब्ब व्युत्पन्न होता है, जिसका अर्थ छोटे (पुत्रादि) के प्रति स्नेह होता है।

उक्त विवेचन के आधार पर वात्सल्य रस और शैशव चित्रण का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध स्वतः स्पष्ट हो जाता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जहाँ शैशव चित्रण अर्थात् शिशु सम्बन्धी प्रसङ्ग होगा, वहाँ वात्सल्य रस की उपस्थिति अपरिहार्य होगी।

सम्प्रति शैशव चित्रण की भावात्मक भूमि को भी दृष्टिगत कर विचार आवश्यक है। अपने सृष्टि विधान में कवि की सार्वभौम स्वतन्त्रता तथा उसकी अलौकिक सृष्टि काव्य के विषय में पहले ही कहा जा चुका है। साथ ही यह

भी बताया जा चुका है कि काव्य का वर्ण्य विषय कितना व्यापक होता है। सम्पूर्ण काव्य जगत् एक प्रकार से रस-भाव का ही जगत् है। संस्कृत काव्यों की रसभावमयता का तो कहना ही क्या है? वह तो आपादमस्तक रसभावमय है। यद्यपि संस्कृतालङ्कारशास्त्राचार्य समस्त चराचर को काव्य का विषय मानते हैं। प्राणी की, विशेष कर मानव की, स्थिति अचर (जड़) से पूर्णतः भिन्न है। वह अन्य पशु-पक्षी प्राणियों से भी भिन्न है। संस्कृत-काव्यों में एक प्रकार से समस्त मानव लोक, विशेष रूप से चित्रित है। मानव के दोनों वर्गों—स्त्री-पुरुषों को उसमें स्थान मिला है। इतना ही नहीं, उसमें मानव का पूरा जीवन—शैशव, कौमार्य, यौवन तथा वार्धक्य भी अङ्कित है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना नितान्त आवश्यक है कि संस्कृत-काव्यों में मानव के साथ, अन्य प्राणी पशु पक्षी आदि तथा अचर जगत् के सम्पूर्ण अङ्ग—पर्वत, सरिता, सागर, वन, वृक्ष, लता, मेघ, सूर्य, चन्द्र आदि सभी को स्थान मिला है।

शिशु के प्रति उसके माता-पिता का सहज स्नेह होता है। यह बात संसार के प्राणिमात्र में पायी जाती है। चाहे वे मनुष्य हों अथवा पशु पक्षी आदि। व्युत्पत्ति—जो अपने माता-पिता के दुःख को हलका करता है, वह शिशु कहलाता है—

श्यति तनूकरोति दुःखमिति शिशुः।

चाहे मानवलोक हो अथवा पशुपक्षिलोक, सभी में शिशु की आनन्दप्रदता दृष्टिगोचर होती है। मनुष्यों की भाँति पशु-पक्षियों में भी, माता-पिता का अपने बच्चों के प्रति एक असीम भावात्मक लगाव होता है। माता-पिता अपने शिशुओं (सन्तानों) को देखकर उनका आलिङ्गन-स्पर्श कर तथा उनका पालन-पोषण कर एक अपूर्व आनन्द की प्राप्ति करते हैं। मानव की ही तरह पशु-पक्षी भी अपनी सन्तान की संयोगावस्था में आह्लादित तथा वियोगावस्था में व्यथित और शोकाकुल हो जाते हैं। मनुष्य चूँकि ज्ञानवान् प्राणी है, अतः उसका रागात्मक लगाव अपनी बड़ी सन्तानों के प्रति भी बना रहता है, जबकि पशु-पक्षियों में उसकी विरलता है, पर छोटी सन्तान अर्थात् शिशु के प्रति माता-पिता के रागात्मक आकर्षण की सभी में समान स्थिति है। इतना अवश्य है कि मनुष्यों में जहाँ अपनी सन्तानों के प्रति माता-पिता दोनों का लगाव गम्भीरता को प्राप्त होता है, वहीं पशु-पक्षियों में मातायें अपनी सन्तानों के प्रति अधिक भावशिथिल (भावुक) होती है। बानरी अत्यधिक भावप्रवण होने के कारण ही अपनी मृत सन्तान का भी सहजतः परित्याग नहीं कर पाती।

सन्तानोपत्ति के समय माता-पिता के हृदय में जो एक आनन्द का अपरिमित सागर उमड़ पड़ता है, क्या उसका शब्दों में वर्णन किया जा सकता है? क्या

माता-पिता भी अपने बच्चों के जन्मोत्सव के अवसर पर आयोजित नृत्य-गान भोज-दान आदि के द्वारा अपने हृदयगत आनन्द की पूर्णतः अभिव्यक्ति कर पाते हैं ? सन्तानोत्पत्ति एवं जन्मोत्सव आदि के समय माता-पिता का तन-मन नाच उठता है। इन्हीं सब विन्दुओं को दृष्टि में रखकर ही भवभूति ने 'उत्तररामचरित' में तमसा के माध्यम से अपना मन्तव्य इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है—'सन्तान स्नेह की पराकाष्ठा है और (वह) माता-पिता के परस्पर प्रगाढ़ सम्बन्ध की कड़ी है—प्रसवः खलु प्रकृष्टपर्यन्तस्नेहस्य । परं चैतदन्योन्यसंश्लेषणं पित्रोः ।

तपस्या के माध्यम से ही भवभूति ने सन्तान की कितनी अच्छी परिभाषा प्रस्तुत की है। तद्नुसार पति और पत्नी के हृदय तत्त्व में पारस्परिक प्रेम-सम्बन्ध के कारण जो आनन्द की ग्रन्थि (गाँठ) होती है, उसे 'सन्तान' कहा जाता है—

अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात् ।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमित्यभिधीयते ॥ ३।१७

प्रिय प्राणी कुछ न करते हुये भी अपनी उपस्थिति मात्र से जनित सुखों द्वारा अपने प्रेमी के दुःखों को दूर कर उसे नितरां आनन्दित इसीलिये कर देता है, क्योंकि वह उसका अत्यन्त प्रिय होने से उसके लिये एक अपूर्व वस्तु है—

न किञ्चिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति ।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः ॥ उ० २।१९

भवभूति की यह उक्ति नितान्त मनोवैज्ञानिक एवं यथार्थ है। उसके द्वारा अपनी प्रिय सन्तान के प्रति माता-पिता की मनःस्थिति का भी सटीक प्रकाशन हुआ है, उसके विषय में कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। प्रिय सन्तान की उपस्थिति मात्र भी माता-पिता के आनन्दातिशय का किस प्रकार कारण बनाता है, यह सर्वविदित तथ्य है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि माता-पिता के लिये सन्तान का सान्निध्य जहाँ उनके अपूर्व आनन्द की सृष्टि करता है, वहीं उसका वियोग उतनी ही मात्रा में उन्हें व्यथित भी करता है। यह लौकिक यथार्थ है। क्योंकि उसका लोक जीवन में पदे-पदे दर्शन होता है। इतना ही नहीं सन्तानहीन माता-पिता सन्तानप्राप्ति की कल्पना करके आनन्द-विभोर हो उठते हैं। एक ओर जहाँ आनन्द विभोर हो उठते हैं, वहीं दूसरी ओर सन्तानाभावजनित वेदना की अनुभूति तथा कल्पना करके एक असह्य व्यथा से व्यथित भी हो जाते हैं। इस प्रकार सन्तान का काल्पनिक संयोग भी जहाँ उनके आनन्दातिरेक का हेतु बनता है, वहीं सन्तानाभाव की स्थिति में यथार्थतया काल्पनिक दोनों दुःखानुभूतियाँ उन्हें

शोकाहत कर देती हैं। शैशव-जगत् की यह है भावात्मक भूमि ! जिसके आधार पर संस्कृत के कवियों ने अपने काव्यों में शैशवचित्रण और उससे सम्बन्धित वात्सल्य रस के उन्मेष के प्रति अपनी रुचि दिखायी है।

यहाँ इतना कह देना अपेक्षित है कि संस्कृत के काव्यों में अन्य रसों के साथ वात्सल्य रस को भी उल्लेखनीय स्थान मिला है। तीन उपजीव्य ग्रन्थों— वाल्मीकि-रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत में तो वह वात्सल्य रस प्रतिष्ठित हुआ ही है, साथ ही उसने भास, कालिदास, भवभूति, बाणभट्ट आदि महाकवियों की रचनाओं में भी यथेष्ट स्थान पाकर अपने स्वरूप को कृतार्थ किया है। जब संस्कृत-काव्यों में सामान्यतः रस मात्र के चित्रण को अवसर प्राप्त है, तब वात्सल्य रस उक्त तथ्य का अपवाद कैसे बन सकता है? काव्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा आनन्द (रस) को काव्य का मुख्य प्रयोजन निर्दिष्ट किये जाने के कारण संस्कृत काव्यों की रस-भावमयता नितान्त सहज तथा समीचीन है। काव्य वस्तु के उन प्रसङ्गों पर संस्कृत कवि की दृष्टि सहजतः पड़ी है, जो भावस्पर्शी है। वह (कवि) ऐसे प्रसङ्गों के वर्णन में विशेष रुचि रखता है। शैशव की स्थिति भी कुछ ऐसी ही (भावात्मक) है, जिससे तत्सम्बन्धी प्रसङ्ग कवियों का विशेष रूप से वर्णनीय बन गया है। संस्कृत-काव्यों में जहाँ शिशु सम्बन्धी चेष्टाओं, क्रियाओं, क्रीड़ाओं आदि का वर्णन नहीं भी है, वहाँ भी सन्तानमात्र से सम्बद्ध वात्सल्य रस की उपस्थिति इस बात की परिज्ञापक है कि संस्कृत कवि इस तथ्य से भलीभाँति अवगत है कि माता-पिता का वात्सल्य-स्नेह अपनी सन्तान की आयु-सीमा में नहीं बँधता। सन्तान बड़ी हो जाने पर भी उनके वात्सल्यस्नेह की केन्द्र बनी रहती है। संस्कृत-काव्यों के अनेक प्रसङ्गों से उक्त कथन की परिपुष्टि की जा सकती है। संस्कृत-काव्यों के इस यथार्थ को दृष्टिगत करना अत्यन्त अपेक्षित है कि उनमें यद्यपि वात्सल्य रस के उभय पक्षों-संयोग तथा वियोग का सम्यक् चित्रण हुआ है, परन्तु संयोग की अपेक्षा उसके वियोग पक्ष ने उनमें (संस्कृत काव्यों में) अधिक आदर प्राप्त किया है। वाल्मीकि रामायण के राम वनवास (रामवनगमन) का प्रसङ्ग नितान्त मर्मस्पर्शी है, जिसमें पिता दशरथ और माता कौसल्या के वियोग वात्सल्य (करुणवात्सल्य) का भव्य चित्र चित्रित है, जो संस्कृत काव्य जगत् की एक अपूर्व निधि है। श्रीमद्भागवत में अपने नवजात पुत्र कृष्ण की रक्षा से चिन्तित माता-पिता देवकी वसुदेव की चिन्ता के प्रसङ्ग में भी वियोग-वात्सल्य (करुण-वात्सल्य) का अत्यन्त मर्म-स्पर्शी अनुष्ठान हुआ है। इसी प्रकार महाभारत में भीम के लापता होने पर कुन्ती का, शाकुन्तल में शकुन्तला की विदायी के अवसर पर कण्व का, उत्तररामचरित में सीता के प्रति कौसल्या आदि का आहत वात्सल्य

वर्णित होकर वियोगवात्सल्य का हृदयस्पर्शी चित्र प्रस्तुत करता है। संयोग वात्सल्य रस को तो उन सभी प्रसङ्गों में स्थान मिला है, जहाँ सन्तानोत्पत्ति, शिशुक्रीडा आदि के प्रसङ्ग हैं। संस्कृत-साहित्य में ऐसे प्रसङ्ग भी कम नहीं है।

जहाँ तक संस्कृत काव्यों में शैशव चित्रण की स्थिति का प्रश्न है, उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि संस्कृत काव्यों में बालरूप, बालसुलभ चेष्टाओं, क्रीडाओं, लीलाओं आदि का वर्णन अपेक्षाकृत कम ही हुआ है। फिर भी संस्कृत में ऐसी अनेक काव्यकृतियां हैं, जिनमें बालक्रीडा आदि के लिये विशेष अवसर प्राप्त है। इस दृष्टि से सर्वप्रथम श्रीमद्भागवत का नामोल्लेख नितान्त अपेक्षित है जिसमें बाललीलाक्रम (शैशव लीला) का अत्यन्त यथार्थ, आकर्षक तथा भव्य चित्रण हुआ है। इस कथन में स्वल्प भी सन्देह का अवसर नहीं है कि श्रीमद्भागवत का बाल लीलापरक शैशव चित्रण सम्पूर्ण संस्कृत-काव्यजगत् में सर्वोपरि स्थान पाने का अधिकारी है। निस्सन्देह श्रीमद्भागवत ने बाललीला वर्णन की एक ऐसी परम्परा को जन्म दिया है, जो संस्कृत-साहित्य के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं (ब्रजभाषा, हिन्दी आदि) में भी गतिशील होकर पराकाष्ठा पर पहुँच गयी है।

श्रीमद्भागवत के बाद बालसुलभ क्रीड़ा आदि के लिए कालिदास कृत 'कुमारसम्भव' का नाम लिया जा सकता है, जहाँ कुमार कार्तिकेय के बालरूप, बालस्वभाव, बाललीला, बालचेष्टा आदि के वर्णन-प्रसङ्गों में शैशव चित्र अपने भव्यरूप में चित्रित होकर अपने क्षेत्र में सम्मानित स्थान का भागी बना है!

इसी प्रकार अनन्तभट्टकृत चम्पूभारत में भी बालपाण्डवों के स्वभाव, लीला, क्रीड़ा' चेष्टा, बोली आदि का अति चारु काव्यात्मक वर्णन हुआ है, जो नितान्त सजीव एवं रोचक है। निस्सन्देह चम्पूभारतकार बाल्यजीवन के सम्पूर्ण क्रिया-कलापों की वर्णना में बेजोड़ है। पाँचों बालपाण्डवों की, विशेषकर बालभीम की, शैशवावस्थाजनित विविध क्रियाओं के आह्लादकारी वर्णन से शिशु जगत् का एक यथार्थ चित्र आँखों के सामने नाचने लगता है। अनन्तभट्ट के शैशव वर्णन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह मनोवैज्ञानिक भूमि पर आधारित है और उसमें सहजता तथा स्वाभाविकता है।

पहले संकेत दिया जा चुका है कि न केवल मानव का अपितु प्राणिमात्र का, सन्तान के प्रति भावात्मक लगाव होता है। सन्तान की प्राप्ति से सौभाग्यशाली बने माता-पिता की विडम्बना यह है कि वे अपनी सन्तानों की संयोगावस्था में जितने आनन्दित एवं आह्लादित होते हैं, उतने ही उनकी वियोगावस्था में शोकाकुल एवं दुःखी भी होते हैं। सन्तान वाले माता-पिता की तो उक्त स्थिति है, पर उन अभागे माता-पिता की कितनी विषम स्थिति होती है, जो सन्तानाभाव-

जन्य वेदना से प्रताड़ित होते हैं। ऐसी वेदना के सजीव चित्र संस्कृत-काव्यों में प्रचुरता के साथ उपलब्ध होते हैं। इस सन्दर्भ में यह विचारणीय है कि संस्कृत के कवियों की सूक्ष्मेक्षिका सन्तानविहीन मनुष्यों के अन्तस्तलगत विविध भावों की सही परख कर लेती है और फिर उनकी अनुपम वर्णनाशक्ति एक कल्पना के सहारे एक से बढ़कर एक चित्रों को बिम्बित करती है। ऐसे कल्पना-प्रधान वर्णन-स्थलों में सन्तानहीन माता'पिता की सन्तान विषयिणी लालसाओं की काल्पनिक सन्तुष्टि और आनन्दमयता एक ऐसे अपूर्व भावमय वातावरण की सृष्टि कर देती है, जिससे सहृदय पाठक का मानस निश्चय ही भावशिथिल हो जाता है। कादम्बरी के एक ऐसे ही चित्र की चर्चा करना आवश्यक है—

कादम्बरी में सन्तानाभाव से उत्पन्न असह्य वेदना से आक्रान्त हृदय राजा तारापीड पहले तो दुःखी रानी विलासवती को नाना प्रकार की सान्त्वनायें देकर उनके दुःख को हलका करने का प्रयास करते हैं, पर बाद में वे कल्पनाजनित वात्सल्यानन्द के झूले पर झूलते हुए जो उद्गार व्यक्त करते हैं, वह निश्चय ही अनेकविध शैशवचित्रों को साक्षात् बिम्बित कर देता है। उक्त स्थल से महाकवि बाणभट्ट के कल्पनावैभव और वर्णनासम्पत्ति दोनों का प्रकाशन होता है।

उक्त स्थलों को छोड़कर संस्कृत काव्यों में अनेक वात्सल्य एवं शैशव सम्बन्धी चित्र मिलते हैं। उनके विषय में इतना ही कहना है कि रसभावभरित संस्कृत काव्यों में जितनी मात्रा में वात्सल्य रस को स्थान मिला है, उतनी मात्रा में शैशव-चित्रण (अर्थात् बालस्वरूप- क्रीड़ा, लीला, बोली आदि) को स्थान नहीं मिल सका है। इतना अवश्य है कि शैशव-चित्रण की भावात्मक पृष्ठभूमि को समझ कर संस्कृत कवियों ने मनोवैज्ञानिक ढंग से तत्सम्बन्धी प्रसंगों के जो कल्पना-प्रधान भावमय चित्र खींचे हैं, वे काव्य के मूर्धन्य प्रयोजन आनन्द रस की सर्जना में नितान्त सक्षम हैं। इस प्रकार संस्कृत काव्यों में वात्सल्य रस की उपस्थिति निस्सन्देह उनके रसमयता से वर्णित स्वरूप को उद्घाटित करती हुई, सहृदय के सरस हृदय को हठात् सिक्त बना देती है। शैशव-चित्रण सम्बन्धी कतिपय उल्लेखनीय सन्दर्भों (कुमारसम्भव, श्रीमद्भागवत आदि गत) को तो पहले ही संदर्भित किया जा चुका है, जो अपनी भव्यता, महनीयता तथा उत्कृष्टता के लिए निश्चित रूप से स्मरणीय है। ऐसे प्रसंग यद्यपि कम हैं, फिर भी उनकी काव्यात्मक महत्ता का अपलाप कैसे किया जा सकता है ? निस्सन्देह संस्कृत काव्यजगत् का शैशव-चित्रण मात्रा में स्वल्प होते हुए भी जहाँ एक ओर सहृदय पाठक के मानस में प्रसुप्त वात्सल्य प्रेम को उद्भूत कराकर उसकी हृद्गतभावबुभुक्षा को सन्तृप्त करता है, वहीं दूसरी ओर उसके भावभावित हृदय में वात्सल्य रस की अप्रतिम अनुभूति कराकर उसे अलौकिक आनन्द का भाजन बना देता है।

उक्त पृष्ठभूमि में प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय में कुछ कहना प्रसङ्गोपेत है।

डॉ० (कु०) शुचिता राय का प्रस्तुत ग्रन्थ उनके पी-एच० डी० के शोध-प्रबन्ध का परिष्कृत रूप है। शोध-प्रबन्ध की अपनी कुछ सीमायें एवं बाध्यतायें होती हैं, उसी परिप्रेक्ष्य में इस ग्रन्थ की भी सीमा निर्धारित है। इस ग्रन्थ में वाल्मीकि रामायण से लेकर १२वीं शताब्दी तक के संस्कृत के प्रमुख काव्यों में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण की मीमांसा की गयी है। इस ग्रन्थ में कुल सात अध्याय हैं। सातों अध्यायों के वर्ण्य-विषय की संक्षिप्त रूपरेखा निम्नांकित है—

प्रथम अध्याय—यह अध्याय एक प्रकार से ग्रन्थ की पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत है, जिसमें शिशु की व्युत्पत्ति, पर्याय, उसके विकास आदि की विशद मीमांसा करने के पश्चात् काव्य में शैशव-चित्रण की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालकर वात्सल्य रस के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए, शैशव-चित्रण के साथ उसके अभिन्न सम्बन्ध को प्रकाश में लाया गया है।

द्वितीय अध्याय—इसमें तीन उपजीव्य ग्रन्थों वाल्मीकि रामायण, महाभारत एवं श्रीमद्भागवत में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण की स्थिति मीमांसित है।

तृतीय अध्याय—इसमें भास, कालिदास तथा अश्वघोष के काव्यों में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण का विश्लेषण किया गया है।

चतुर्थ अध्याय—इस अध्याय में कालिदास के परवर्ती प्रमुख महाकाव्यों में वात्सल्य रस एवं शैशव-चित्रण की समीक्षा की गयी है।

पञ्चम अध्याय—इसमें कालिदास के परवर्ती नाटकों में अङ्कित वात्सल्य रस तथा शैशव-चित्रण का ऊहापोह किया गया है।

षष्ठ अध्याय—इसमें प्रमुख गद्य एवं चम्पूकाव्यों में वात्सल्य तथा शैशव-चित्रण की स्थिति की समीक्षा की गयी है।

सप्तम अध्याय—यह अध्याय उपसंहार के रूप में परिगृहीत है। उसमें निर्दिष्ट संस्कृत काव्यों में शैशव-चित्रण का मूल्यांकन एवं तुलनात्मक विवेचन कर निष्कर्ष निकाला गया है।

द्वितीय अध्याय से लेकर षष्ठ अध्याय तक जिन काव्यग्रन्थों को लक्षित कर वात्सल्य और शैशव-चित्रण का विचार किया गया है, वे निम्नांकित हैं—

१ **उपजीव्य ग्रंथ**—(१) वाल्मीकि रामायण (२) महाभारत (३) श्रीमद्-भागवत।

इनमें महाभारत एवं श्रीमद्भागवत पुराण हैं, पर उनका काव्यात्मक स्वरूप निर्विवाद है। रामायण तो एक महाकाव्य है।

१. **महाकाव्य**—१ कुमारसम्भव २. रघुवंश ३. बुद्धचरित ४. सौन्दरनन्द ५. भट्टिकाव्य ६ जानकीहरण ७ शिशुपालवध ८. नैषधीयचरित ९. विक्रमाङ्कदेवचरित।

रूपक (नाटक आदि)—१ बालचरित २. प्रतिमानाटक ३. मालविकाग्निमित्र ४. विक्रमोर्वशीय ५. अभिज्ञानशाकुन्तल ६. मृच्छकटिक ७ नागानन्द ८ मालतीमाधव ९. महावीरचरित १०. उत्तररामचरित।

४. **गद्यकाव्य**—(१) कादम्बरी (२) हर्षचरित (३) दशकुमारचरित।

५. **चम्पू काव्य**—(१) नलचम्पू (२) चम्पू रामायण (३) चम्पूभारत।

जिन महाकवियों की काव्यरचनाओं को हासिल कर ग्रन्थ में विचार किया गया है, वे अधोलिखित हैं—

१. वाल्मीकि २. व्यास ३. भास ४. कालिदास ५. अश्वघोष ६ भट्टि ७. कुमारदास ८, माघ ९. श्रीहर्ष १०. बिल्हण ११ शूद्रक १२. हर्षवर्धन १३. भवभूति १४. बाणभट्ट १५. दण्डी १६. त्रिविक्रमभट्ट १७. भोज १८. अनन्तभट्ट।

इस प्रकार इस ग्रन्थ में १८ महाकवियों की कुल २८ काव्यकृतियों में वात्सल्य रस और शैशव-चित्रण की स्थिति पर परिशीलन किया गया है।

द्वितीय अध्याय से लेकर षष्ठ अध्याय तक ग्रन्थकर्त्री ने महाकवियों की जिन काव्यकृतियों को लेकर उनमें वात्सल्य एवं शैशव चित्रण की स्थिति का परीक्षण किया है, उनमें अनेक काव्य ऐसे हैं जिनमें शैशव-चित्रण की विशेष स्थिति नहीं है। ऐसे काव्यों में बालभारत, प्रतिमानाटक, रघुवंश, बुद्धचरित, सौन्दरनन्द भट्टिकाव्य शिशुपालवध, नैषधीयचरित, मृच्छकटिक, नागानन्द, मालतीमाधव, महावीरचरित, कादम्बरी, हर्षचरित, दशकुमारचरित, चम्पूरामायण आदि को परिगणित किया जा सकता है। पर इतना अवश्य है कि इन काव्यों में भी यत्र कुत्रचित् शिशुप्रसङ्ग आये हैं उनपर लेखिका को सूक्ष्म दृष्टि अवश्य पड़ी है। उसने शैशवचित्रण के प्रसङ्ग में उन सभी पक्षों को दृष्टिगत किया है, जो वात्सल्यरस के अङ्ग के रूप में आये हैं। पुत्रोत्सव एक ऐसा ही अङ्ग है जो काव्यों में घटाटोप के साथ वर्णित है, वह लेखिका के विचार पथ पर अवश्य अवतीर्ण हुआ है। रामायण और महाभारत की स्थिति कुछ भिन्न है। उनमें तत्सम्बन्धी प्रसङ्ग वात्सल्य रस के चित्रण की दृष्टि से अधिक उपयोगी बने हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में विचारणीय बने उक्त सभी ग्रन्थों में लेखिका के प्रतिपाद्य विषय से सम्बद्ध शिशुजगत् सम्बन्धी जो भी प्रसङ्ग हैं, उन सबकी मीमांसा करके लेखिका ने महनीय कार्य किया है।

इस ग्रन्थ में विचारणीयता की दृष्टि से श्रीमद्भागवत, कुमारसम्भव, चम्पूभारत आदि कुछ ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें शैशवचित्रण के लिए विशेष अवसर है। लेखिका ने उन ग्रन्थों में प्राप्त तत्सम्बन्धी प्रसङ्गों का सर्वाङ्गपूर्ण और व्यापक समीक्षण किया है। ऐसे अवसरों पर लेखिका की मौलिक प्रतिभा तथा उसकी सूक्ष्मातिसूक्ष्य वस्तुतत्त्व की अवगाहिनी बुद्धि का प्रकाशन होता है। ग्रन्थकर्त्री ने उक्त ग्रन्थों के शैशव प्रसङ्गों को जिस प्रकार इस ग्रन्थ में सजीवता प्रदान की है वे निश्चित रूप से प्रभामण्डित तथा भव्य हैं। लेखिका की यह सबसे विशेषता है कि उसने शैशव चित्रण के लिये, उक्त ग्रन्थों समेत अन्य जिस किसी ग्रन्थ को विचारणीय बनाया है, उन सब में उसने प्रतिपाद्य को परिमार्जित भाषा और शैली में चित्रित कर उसकी समीक्षा अवश्य की है, जिससे प्रतिपाद्य का सर्वाङ्गपूर्ण तथा प्रभावकारी बिम्ब खड़ा सा हो जाता है। उससे पाठक के हृदय एवं बुद्धि दोनों की जिज्ञासा और कौतूहल कृतार्थ हो जाता है।

उक्त तीन ग्रन्थों—श्रीमद्भागवत, कुमारसम्भव तथा चम्पूभारत के शैशवचित्रण सम्बन्धी सन्दर्भों को लेखिका ने विस्तार के साथ विवेचनीय बनाया है। श्रीमद्भागवत का बालवर्णन अपने आप में अत्यन्त हृदयग्राही, आकर्षक तथा आनन्दकर है, पर प्रतिभामण्डिता लेखिका ने अपनी सजीव तथा प्रवाहमयी भाषा-शैली के द्वारा उसे एक सर्वातिशायी स्वरूप प्रदान कर दिया है। श्रीमद्-भागवत के बाल वर्णनों के विषय में लेखिका की निम्नाङ्कित टिप्पणी कितनी यथार्थ तथा सुन्दर है—

"उक्त सभी वर्णनों में एक अनुपम सजीवता है। उनका अध्ययन करते ही, प्रत्येक का बिम्ब आंखों के सामने नाचने लगता है। उनकी दो विशेषतायें हैं—एक यह कि उनमें भारतीयता का पुट है और दूसरी यह कि उनमें सामान्य सार्वभौम बालक-जगत् का प्रतिनिधित्व है।"

कुमारसम्भव के एकादशसर्ग के शैशवचित्रण की समीक्षात्मक विवेचना करने के पश्चात् अन्त में उक्त (शैशवचित्रण) के विषय में लेखिका द्वारा प्रकाशित तत्सम्बन्धी समालोचनात्मक कथन कितना रमणीय तथा यथार्थ है—

"निस्सन्देह कुमारसम्भव का ११वाँ सर्ग शैशवचित्रण का एक भव्य-आकर्षक स्वरूप प्रस्तुत करता है। उसमें सहजता, सरसता तथा आकर्षण है। शैशवावस्था में स्थित कुमार की बालोचित चेष्टायें तथा क्रीड़ायें आदि उनके माता-पिता के हृदय को अपूर्व वात्सल्यप्रेम से ओत प्रोत बना देती हैं। काव्यात्मक ढंग से प्रकाशित होकर वात्सल्यप्रेम सहृदय के हृदय में अपूर्व सरसता का संचार करता है।" (पृ० १२४।)

शैशव-चित्रण सम्बन्धी प्रस्तुत प्रकरण में एक बात का उल्लेख कर देना अपेक्षित है। वह यह कि इस ग्रन्थ की लेखिका ने विचारप्रसङ्ग में मानवीय शिशुओं के अतिरिक्त पशु-पक्षियों के बच्चों के सन्दर्भों को भी परिगृहीत किये हैं। इस दृष्टि से 'उत्तररामचरित' के हाथी के बच्चे, अभिज्ञानशाकुन्तल के मृगशावक एवं कादम्बरी के शुकशावक के प्रसङ्ग लिये जा सकते हैं।

जहाँ तक संस्कृत के उक्त काव्यों में वात्सल्य के चित्रण का प्रश्न है, लेखिका ने उस पर समग्रतया समीक्षात्मक प्रकाश डालने का स्वल्प प्रयास किया है। उक्त काव्यों में वात्सल्य व्यापक रूप से चित्रित है। यह प्रसन्नता की बात है कि विदुषी लेखिका ने वात्सल्य सम्बन्धी स्थलों के मर्म का सही उद्घाटन करके अपेक्षित मीमांसा की है। एतत्सम्बन्धी सभी सन्दर्भों को सन्दर्भित कर यह कहने में स्वल्प भी अतिशयोक्ति नहीं है कि संस्कृतकाव्यगत वात्सल्य के मर्मोद्घाटन एवं ऊहापोह में लेखिका को अभूतपूर्व सफलता मिली है। उसने काव्यों की कथावस्तु के वात्सल्य सम्बन्धी सभी भावमय स्थलों की पहचान की है और ग्रन्थ के स्वरूप को गम्भीर एवं व्यापक बनाने में उनके विमर्श हेतु यथाशक्ति प्रयास किया है। विस्तारभय से अपने कथ्य की पुष्टि में उद्धरणों को उद्धृत करना सम्भव नहीं है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस ग्रन्थ का वात्सल्य सम्बन्धी विमर्श, शैशव-चित्रण की अपेक्षा अधिक चारु एवं प्रभावोत्पादक है। संस्कृतकाव्यों में संयोगवात्सल्य की अपेक्षा वियोग वात्सल्य के अनेक चित्र अपनी चारुता तथा भावमयता के कारण स्मरणीय हैं। वाल्मीकि रामायण में वियोग वात्सल्य की महनीयता के विषय में लेखिका की निम्नांकित समीक्षणमयी उक्ति द्रष्टव्य है—

"इस प्रकार पुत्रप्रेम की वेदी पर दशरथ के प्राणों की आहुति हो गयी। वाल्मीकि रामायण में शैशव-चित्रण (शिशु क्रीड़ा, लीला, चेष्टा आदि) ने भले ही विशेष स्थान न प्राप्त किया हो, पर वात्सल्य के दोनों पक्षों (संयोग और वियोग) विशेषकर सम्भावित वियोगजन्य वात्सल्य ने तो सम्मानित स्थान पाया ही है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। सचमुच वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड का वरयाचन तथा रामवनगमन का सन्दर्भ एक भव्य काव्यात्मक भावसृष्टि है। वियोग वात्सल्य का इतना जीता जागता चित्र अन्यत्र सर्वांशतः दुर्लभ है।" (पृष्ठ ६४।)

समीक्षात्मकता एवं मौलिकता की दृष्टि से ग्रन्थ का प्रथम एवं अन्तिम अध्याय नितान्त महत्त्वपूर्ण है। लेखिका ने प्रथम अध्याय को तीन खण्डों में विभाजित कर इस अध्याय को व्यापक बनाया है जिससे एक ऐसी आधारशिला बन गयी है, जिस पर इस ग्रन्थ का सम्पूर्ण सारस्वतभवन खड़ा है। विषय-प्रवेश के खण्ड एक के शिशु एवं उसके पर्यायवाची शब्दों के 'अर्थविवेचन' नामक उपखण्ड में लेखिका

ने शीर्षक के अनुरूप बृहद् और गहन विचार किया है। उसमें 'शिशु' शब्द की व्युत्पत्ति, उसके पर्याय का विवेचन करने के अनन्तर 'बाल', :शिशु'; 'कुमार' आदि की आयुसीमा निर्धारित करने के साथ उसने निष्कर्षतः शैशवावस्था की आयु सीमा का निर्धारण भी किया है। प्रथम खण्ड के 'ख' और 'ग' उपखण्डों में क्रमशः शिशु के विकास के प्रभावकारी तत्त्वों तथा बालक-बालिका के शिशुत्व की एकता और विभिन्नता पर प्रकाश डालकर उसने ग्रन्थ के प्रतिपाद्य-प्रतिपादन के लिए एक अच्छा वातावरण सा बना दिया है।

इस अध्याय के अन्य दो खण्ड (दो और तीन) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। 'काव्य में शैशव चित्रण की भावात्मक पृष्ठ-भूमि' नामक द्वितीय खण्ड में लेखिका ने जैसे शैशव-चित्रण के लिये एक भावभूमि ही तैयार कर दी है। जिस भावभूमि में संस्कृत काव्यों का शैशव-चित्रण प्रतिष्ठित है, उसकी सही विवेचना इस खण्ड में हुई है। तृतीय खण्ड—वात्सल्य रस तथा शैशव चित्रण में रस के सामान्य विवेचन के पश्चात् वात्सल्य रस के स्वरूप का गहन विवेचन है तथा उसके शैशव-चित्रण के साथ सम्बन्ध पर प्रकाश डालकर इस खण्ड को भी महनीय बना दिया गया है।

अन्तिम 'उपसंहार' नामक अध्याय को लेखिका ने तीन खण्डों में विभाजित कर विचार किया है। प्रथम खण्ड में वात्सल्य एवं शैशव चित्रण का मूल्याङ्कन, द्वितीय में द्वितीय अध्याय से लेकर षष्ठ अध्याय तक के प्रतिपाद्य विषयों का तुलनात्मक विवेचन किया गया है और तृतीय खण्ड में निष्कर्ष निकाला गया है। अन्तिम अध्याय के ये तीनों खण्ड नितान्त महनीय तथा प्रशंसनीय हैं। वस्तुतः इस अध्याय के द्वारा लेखिका ने अपने ग्रन्थ में जैसे प्राणप्रतिष्ठा ही कर दी है।

निस्सन्देह, इन दोनों अध्यायों के द्वारा लेखिका की गवेषणात्मक-समीक्षात्मक मौलिक प्रतिभा का प्रकाशन होता है। इन दोनों के प्रतिपाद्यों का सही मूल्याङ्कन करने के पश्चात् यह कहना समीचीन है कि इन दोनों के निवेश से ग्रन्थ का श्रीगणेश और समापन दोनों महनीय बन गया है और इस प्रकार यह ग्रन्थ गौरवास्पद हो गया है।

ग्रन्थ की भाषा एवं शैली के विषय में जितना कहा जाय, स्वल्प ही होगा। सम्पूर्ण ग्रन्थ में भाषा की सरलता, सहजता और प्रसाद-मयता के पदे-पदे दर्शन होते हैं। शब्दावली पूर्णतः परिमार्जित एवं परिष्कृत है। शैली प्रवाहमयी एवं उदात्त है। ग्रन्थलेखिका ने अपनी भाषा-शैली के द्वारा इस ग्रन्थ को जैसे एक रमणीय काव्य ही बना दिया है। प्रतिपाद्य के प्रतिपादन में सर्वथा समर्थ

ऐसी भाषा-शैली शायद ही कहीं दृष्टिगोचर हो। भाषा-शैली की भव्यता के प्रकाशनार्थ किसी उदाहरण की आवश्यकता इस लिये नहीं है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ ही उसके ज्वलन्त उदाहरण के रूप में प्रस्तुत है।

इस प्रकार यह ग्रन्थ प्रतिपाद्य विषय के सम्यक् प्रतिपादन तथा सुचारु एवं प्रभावकारी भाषा-शैली के प्रयोग, दोनों दृष्टियों से एक गौरवशाली कृति के रूप में प्रस्तुत है। इसका सम्पूर्ण श्रेय ग्रन्थ की विदुषी लेखिका डा० (कु०) शुचिता राय को है। उनकी मौलिक प्रतिभा, विद्याव्यसन, कठोर अध्यवसाय, निःसन्दिग्ध ज्ञान एवं कर्त्तव्यपरायणता को मैं निकट से जानता हूँ। उसमें शोध-परक ऐसी दृष्टि है, जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तु के भी बाह्याभ्यन्तर को समझने में समर्थ है। वह अपने कथ्य के प्रस्तुतीकरण में सर्वथा क्षम हैं। उसका विषय-बोध जहाँ अप्रतिम है, वहीं बोध की अभिव्यक्ति नितान्त स्तुत्य है। दोनों का मणि-काञ्चन योग अन्यत्र दुर्लभ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में जिस प्रकार निर्धारित अवधि के संस्कृत के प्रमुख काव्यों में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण का प्रस्तुतीकरण हुआ है और जिस प्रकार उक्त विषय से सम्बद्ध अन्य विषयों का सफल प्रख्यापन हुआ है, उनके कारण यह ग्रन्थ संस्कृत वाङ्मय का एक अनुपम स्वर्णिम अध्याय बन गया है। मुझे यह कहने में स्वल्प भी सङ्कोच नहीं है कि जिस लक्ष्य को दृष्टिगत कर इस ग्रन्थ का प्रणयन हुआ है, उसे प्राप्त करने में यह ग्रन्थ पूर्ण-काम है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि डा० (कु०) शुचिता राय की यह उत्तम सारस्वत कृति सम्बद्ध विषय के जिज्ञासुओं की जिज्ञासा की सन्तृप्ति करेगी और उसके यश को चिरस्थायी बनायेगी।

अन्त में, मैं ऐसी सर्वातिशायिनी वरेण्य कृति के लिये ग्रन्थ लेखिका डा० राय को हार्दिक बधाई देता हूँ।

महावीर जयन्ती, वि० सं० २०५४
फैजाबाद

राजदेव मिश्र
पूर्व कुलपति

पुरोवाक्

संस्कृत भाषा और उसका वाङ्मय दोनों प्राचीनतम तथा गौरवमण्डित हैं। देववाणी के अभिधान से अभिहित संस्कृत भाषा नितान्त परिमार्जित तथा समृद्ध है। उसकी वर्णमाला तथा लिपि वैज्ञानिक है। वह व्याकरण के संस्कार से सुसंस्कृत है। उसके वाङ्मय में भारत के समस्त ज्ञान, विज्ञान, दर्शन, कला, संगीत, परा-अपरा विद्या आदि का अपूर्व भण्डार निहित है। अतीत भारत का इतिहास, सभ्यता, संस्कृति सब कुछ उसी में प्रतिबिम्बित है। वस्तुतः उसमें भारतीयता प्रतिष्ठित है। एक प्रकार से संस्कृत भारत का आत्मभूत तत्त्व है। उसको पृथक् कर भारत के वास्तविक स्वरूप की परिकल्पना अत्यन्त दुष्कर है। ऋग्वेद-रचना-काल से लेकर आज तक संस्कृत-वाङ्मय-सृष्टि की अविच्छिन्न धारा बह रही है। जहाँ तक संस्कृत के काव्य-जगत् का प्रश्न है, वह वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, अश्वघोष, भवभूति, बाणभट्ट आदि मनीषी कवियों की सरस रचनाओं से विभूषित है। काव्य के दोनों भेदों—दृश्य तथा श्रव्य से वह (काव्यजगत्) परिपूर्ण एवं स्पृहणीय है।

यदि संस्कृत के रूपकों (दृश्य काव्यों) तथा श्रव्य काव्यों (महाकाव्यों, खण्डकाव्यों, गद्यकाव्यों तथा चम्पूकाव्यों आदि का वास्तविक मूल्यांकन किया जाय तो, यह स्पष्ट हो जायेगा कि संस्कृत काव्य-अलंकारों की भव्यछटा, कल्पना की हृदयस्पर्शी उड़ान, भावों के सजीव उद्घाटन तथा रस-निष्पादक तत्त्वों (विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों) से भरपूर है। काव्यों के पद-लालित्य ने तो उसमें चार-चाँद ही लगा दिया है। इन सभी विशेषताओं से विशिष्ट, संस्कृत काव्य-जगत् ऐसे काव्यस्रष्टाओं की सृष्टि है, जो मनीषी, परिभू तथा स्वयम्भू आदि अभिधानों से विभूषित हैं। वे अपनी अलौकिक सृष्टि काव्य की रचना में सर्वथा स्वतन्त्र हैं। उनके पास अप्रतिम प्रतिभा है, कल्पना का अपूर्व वैभव है और शब्दों तथा अर्थों का अतुल भण्डार है।

संस्कृत में काव्य के उक्त सभी भेद सर्वांगपूर्ण हैं। उनमें चराचर का जीवन झाँकता है। चर प्राणियों में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ हैं, उसका तो सर्वांगपूर्ण चित्र ही संस्कृत काव्यों में चित्रित है। संस्कृत काव्यों में कहीं मानव का शैशव अथवा बाल्यरूप दृष्टिगोचर होता है, तो कहीं उसका यौवन, कहीं उसकी प्रौढावस्था

नयनगोचर होती है तो, कहीं उसका वार्द्धक्य। संस्कृत का पूरा काव्यजगत् शैशव की स्पृहणीयता तथा भाव-मयता, यौवन की उद्दामता, प्रौढावस्था की प्रौढता तथा वार्धक्य की परिपक्वता के चित्ताकर्षक चित्रों से मण्डित है।

जहाँ तक संस्कृत काव्यों में शैशव-चित्रण का प्रश्न है, उसकी अजस्र भाव-धारा, अति प्राचीन काल से उनमें (संस्कृत काव्यों में) प्रवाहित हो रही है। शैशव-चित्रण एक ओर जहाँ मानव के मानस में प्रसुप्त वात्सल्य स्नेह को उद्‌भूत करता है और ऐसा करके वह उसकी (मानस की) भाव बुभुक्षा को सन्तृप्त करता है तो वहीं पर उसके भावप्रवण हृदय में वात्सल्य रस की अलौकिक अनुभूति कराकर उसे एक ऐसे आनन्दोदधि में निमज्जित करा देता है, जहाँ मानव संसार की समस्त सुध-बुध खोकर ब्रह्मानन्द सहोदर (रस) का आनन्द पाकर कृतार्थ हो जाता है।

पूज्य पिताजी ने बाल्यावस्था में ही मुझे संस्कृत के संस्कार से सुसज्जित करा दिया था। अन्य भाई-बहनों के साथ उन्होंने बाल्यावस्था से ही मुझे भी गीता के श्लोक कण्ठस्थ करा दिये थे। वे हम लोगों के अशुद्ध उच्चारणों को टोंक-टोंक कर ठीक भी करा दिया करते थे। इस प्रकार मेरे इस मानस मन्दिर में देववाणी आराध्य देवी की भाँति बाल्यकाल में ही प्रतिष्ठित हो गयी थी। फलस्वरूप मैंने हाई स्कूल से लेकर बी० ए० तक की शिक्षा में अन्य विषयों के साथ संस्कृत को भी एक विषय के रूप में चयनित किया। आगे चलकर उसी तारतम्य में मैंने साहित्याचार्य एवं संस्कृत एम० ए० की परीक्षायें भी उत्तीर्ण कीं। स्नातकोत्तर शिक्षा प्राप्त करने के अनन्तर मेरे हृदय में जब संस्कृत में ही शोध-कार्य करने के भाव उदित हुए तो पिताजी ने उसका सहर्ष समर्थन किया और तदर्थ अपनी अनुमति भी दे दी। यह मेरा परम सौभाग्य ही था कि मुझे परम श्रद्धेय पितृतुल्य गुरुवर्य डॉ० राजदेव मिश्र, पूर्वकुलपति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, की कृपामयी सहमति भी मिल गयी। शोध के पूर्व की शिक्षा की प्राप्ति में उनकी सक्रिय सहायता तथा आशीर्वाद मुझे प्राप्त था, जिसके फलस्वरूप मैंने अपनी स्नातक तथा स्नातकोत्तर शिक्षा अच्छे ढंग से ग्रहण की थी।

शोध हेतु माननीय गुरुवर की सहमति में जिस प्रकार की उदारता, सहायतामूलक आश्वासन तथा वात्सल्यभाव की प्रतीति हुई, वह सब मेरे भाग्य का ही सूचक था। जब उन्होंने मेरी इच्छा के अनुसार संस्कृत में शैशव-चित्रण संबंधी विषय पर शोध करने की अनुमति दे दी, तब ऐसा लगा कि मुझे मनचाहा वरदान ही मिल गया। उस समय मेरे मस्तिष्क में शैशव-चित्रण सम्बन्धी वे सारी विशेषतायें गूंजने लगीं, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। संयोगवश उक्त विषय

विश्वविद्यालय की शोध समिति द्वारा स्वीकृत भी हो गया। श्रद्धेय गुरुवर डॉ० मिश्र जी के निर्देशन में मैं शोधकार्य करने लगी और सौभाग्यवश वह शुभ घड़ी भी आ गयी, जब मेरा शोध-कार्य पूर्ण हो गया तथा मुझे शोधोपाधि भी प्राप्त हो गयी।

मेरा शोधप्रबन्ध क्या था, वह एक प्रकार से पूज्य गुरुवर की सहज कृपा का ही प्रतिफल था। उनके संस्कृत के अगाध वैदुष्य तथा अप्रतिम नैसर्गिक प्रतिभा को मैंने निकट से देखा है। उनमें एक साथ ही उद्भट विद्वान्, उत्कृष्ट वक्ता, कुशल अध्यापक तथा सहृदय कवि, सभी का एक समवेत रूप दृष्टिगोचर होता है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे स्वयं एक कठोर अध्यवसायी हैं और अपने शिष्यों में भी अध्यवसायी होने का संस्कार डालते हैं। अपने शिष्यों पर सहज कृपाभाव रखते हैं तथा उनकी सारस्वत यात्रा में आशीर्वाद तथा सहायता का अनुपम सम्बल प्रदान करते हैं। सचमुच उनमें गुरुत्व एवं पितृत्व का अपूर्व मणिकांचन योग है। गुरुवर्य की कृपा के साक्षात् फलस्वरूप अपने शोध-प्रबन्ध को मैंने उन्हीं के चरण कमलों में सादर समर्पित कर किया था और इस प्रकार अपने को सन्तुष्ट एवं कृतार्थ करने का प्रयास किया था।

श्रद्धेय गुरुवर जी की, पूज्य माता-पिता जी की और स्वयं मेरी हार्दिक इच्छा थी कि उक्त शोध-प्रबन्ध ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हो जाय। ईशानुकम्पा से वह मांगलिक घड़ी आ ही गयी, जब मेरा शोध-प्रबन्ध प्रकाशित होकर ग्रन्थ का रूप धारण कर रहा है। नानाविध शैक्षिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं प्रशासनिक दायित्वों को वहन करने में अति व्यस्त रहते हुए भी मेरे आराध्य गुरुजी ने मेरे विनम्र निवेदन के अनुरूप इस ग्रन्थ की समीक्षा लिखकर एक ओर मेरे इस ग्रंथ को गौरवान्वित कर दिया है और दूसरी ओर मेरे प्रयास को कृतार्थ भी कर दिया है। मैं उनकी उदारता, सदाशयता एवं गरिमा का वर्णन करने में अपने को असमर्थ पा रही हूँ। ऐसे पितृसम गुरुवर्य के प्रति विनम्र होने के अतिरिक्त मैं आभार प्रदर्शन की धृष्टता कैसे कर सकती हूँ? मुझे पूर्ण विश्वास है कि उनका वात्सल्य स्नेह तथा शिष्यानुकम्पा मुझे आजीवन मिलती रहेगी। मैं अपने इस दृढ़ विश्वास को अवश्य प्रकट करना चाहती हूँ कि मैं उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञान की थाती को समृद्ध बनाकर उनके सारस्वत ऋण को चुकता करने का यथाशक्ति प्रयास करूँगी।

यह भी मेरा भाग्य ही रहा कि मुझे श्रद्धेय गुरु की ही भाँति ममता की मूर्तिमयी परम पूजनीया माता श्रीमती रूप कुमारी मिश्रा के वात्सल्यमय आशीर्वाद

की छत्रच्छाया भी प्राप्त थी, जिसके आश्रय में रहकर मैंने अपने इस सारस्वत कार्य को पूरा किया। मैं उनके चरणों में सादर विनत होकर उनके सार्वकालिक आशीर्वाद की आकांक्षा करती हूँ।

आनन्द की इस घड़ी में मैं अपने वात्सल्यमय पूज्य पिता डॉ० क्षमानन्द राय जी को कैसे भूल सकती हूँ, जिन्होंने मुझे जन्म और संस्कार दोनों प्रदान किये। संस्कृत के प्रति मेरे आकर्षण तथा संस्कृताराधन के प्रति मेरी निष्ठा के वस्तुतः वे ही जनक हैं। मेरी ममतामयी जननी स्व० श्रीमती प्रभावती राय की मेरे पितृप्रदत्त संस्कार को अहर्निश आगे बढ़ाने में सदा प्रेरणा मिलती रही। शोधोपाधि की प्राप्ति के समय वे अपनी इस इच्छा "मेरी बिटिया शिक्षा की सर्वोच्च उपाधि प्राप्त कर लेती तो कितना अच्छा होता"—को फलवती देखकर कितनी प्रसन्न हुई थीं, उसका प्रकाशन शब्दों द्वारा सम्भव नहीं है। यदि वे आज जीवित होतीं तो इस ग्रन्थ का प्रकाशन देखकर निश्चय ही आनन्दविभोर होती। आनन्द की इस बेला में उनकी अनुपस्थिति मेरे जीवन का एक बड़ा दुःखद प्रसंग है।

सम्प्रति मैं अपने पूज्य माता-पिता के श्रीचरणों में हार्दिक श्रद्धामयी पुष्पाञ्जलि अर्पित करती हुई उनके स्निग्धाशीर्वाद की कामना करती हूँ और आगे भी करती रहेंगी।

मेरे इस सारस्वत प्रयास में अन्य अनेक शुभेच्छुओं का सहयोग मिला है। अतः उनके प्रति आभार प्रकट करना अपना पावन कर्तव्य मानती हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है कि मुझे अपने शुभेच्छुओं का सहयोग सदा मिलता रहेगा।

विद्वद्वरेण्य पितृकल्प डॉ० प्रभाकर शास्त्री जी ने वात्सल्यमय आशीर्वाद देकर, पूजनीय भ्राता डॉ० प्रभुनाथ द्विवेदी जी ने इस ग्रन्थ के प्रूफ संशोधन संबंधी गहन दायित्व का वहन कर तथा पितृव्यवर डॉ० शिवबालक द्विवेदी जी ने बार-बार मुझे प्रेरितकर तथा दिशानिर्देश देकर जो अमूल्य योगदान किया है, तदर्थ इन सभी महानुभावों के प्रति मैं आभार प्रकट करती हूँ।

मैं आदरणीय डॉ० देवदत्त चतुर्वेदी की उत्साहप्रद प्रेरणा, आदरणीय भाई डॉ० शिवाकांत शुक्ल, श्री अरविन्दकुमार राय, श्री सुशील कुमार राय तथा पूज्य भगिनीद्वय श्रीमती शारदा चतुर्वेदी एवं श्रीमती इन्द्रप्रभा राय के सहज सहयोग को मैं कैसे भुला सकती हूँ; मैं उन सबके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। प्रिय भ्रातृजाद्वय कुमारी किरन तथा कुमारी ऊषा, दोनों मेरे कार्य सम्पादन में अहर्निश

सहायक रहीं, अत: उन दोनों को आशीर्वाद देना अपना कर्तव्य मानती हूँ। सीमा प्रेस के स्वामी डॉ० दर्शनानन्द जी ने यथा समय ग्रंथ का मुद्रण कराकर जो योगदान किया है, उसके लिए वे धन्यवाद के भाजन हैं।

अन्त में, मैं उन सभी विद्वान् लेखकों तथा महाकवियों के प्रति सादर आभार व्यक्त करती हूँ, जिनकी बहुमूल्य रचनाओं की सहायता से मेरा यह सारस्वत कार्य पूर्ण हो सका है।

मेरी इस तुच्छ कृति के द्वारा यदि सुधी तथा जिज्ञासु पाठकों की जिज्ञासा की स्वल्प मात्र भी शान्ति हो सकी तो, मैं अपना प्रयास सार्थक समझूंगी। प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय में विद्वज्जनों के सुझाव का स्वागत करूँगी।

विनीत

कु० शुचिता राय

विषयानुक्रम

द्वितीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पञ्चम अध्याय

सप्तम अध्याय

प्रथम अध्याय

<u>विषय-प्रवेश</u>

- शिशु एवं उसके पर्यायवाची शब्दों का अर्थ-विवेचन
- काव्य में शैशव-चित्रण की भावात्मक पृष्ठभूमि
- वात्सल्य-रस तथा शैशव-चित्रण

विषय-प्रवेश

'शिशु' शब्द का अर्थ-विवेचन

संस्कृत-शब्दों की यह विशेषता है कि उनकी व्युत्पत्ति जान लेने के पश्चात् उनका (शब्दों का) अभिधेयार्थ स्पष्ट हो जाता है। इस दृष्टि से संस्कृत का व्याकरण, संसार की अन्य भाषाओं के व्याकरण से, पृथक् तथा वैशिष्ट्यपूर्ण है। 'व्याकरण' शब्द 'वि' तथा 'आ' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से करण अर्थ में 'ल्युट्' (यु) प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है और उसका अर्थ होता है—

'व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्'

अर्थात् जिसके द्वारा शब्दों (पदों) का व्याकरण अर्थात् व्युत्पादन किया जाता है, वह व्याकरण कहलाता है। वस्तुतः 'व्याकरण' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ 'पृथक्करण' है। चूँकि व्याकरण के द्वारा (शब्द की) प्रकृति (मूल शब्द, धातु आदि) तथा प्रत्यय (सुप्, तिङ् आदि) को पृथक्-पृथक् करके शब्द-निष्पत्ति की जाती है, अतः उसका (व्याकरण का) नाम सार्थक है।

'भाषा' मानव-जाति की एक ऐसी सम्पत्ति है कि उसी के माध्यम से उसका समस्त व्यवहार चलता है। शब्द-सम्पत्ति (अर्थात् भाषा) के बिना उसके जीवन का कोई मूल्य नहीं है। संसार का सम्पूर्ण ज्ञान 'शब्द' पर अवलम्बित है। अतः उसके (शब्द के) बिना ज्ञान की सत्ता ही नहीं हो सकती। भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय नामक व्याकरण-ग्रन्थ में ठीक ही कहा है—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥[1]

'अर्थात् संसार में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है, जो शब्द के बिना हो। संसार का सारा ज्ञान शब्द से अनुविद्ध (ओत-प्रोत) होता है।

चूँकि भाषा से लोक-व्यवहार चलता है और वह लोक-व्यवहार अत्यन्त व्यापक तथा विविध होता है, अतः एक ही अर्थ का प्रतिपादन करने के लिये अनेक शब्दों का प्रचलन हो जाता है। जब अनेक शब्द एक ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, तब उन्हें परस्पर पर्यायवाची कहा जाता है। किसी भी भाषा के वाङ्मय एवं उसके कोष-ग्रन्थों के अध्ययन से उक्त तथ्य स्पष्ट हो जाता है।

---

१. भर्तृहरिकृतवाक्यपदीयम् १/१२३

उक्त बातों को केन्द्रित कर सर्वप्रथम 'शिशु' शब्द की व्युत्पत्ति तदनन्तर उसके पर्यायवाची शब्दों का विचार प्रसंगानुकूल है।

शिशु शब्द की व्युत्पत्ति

'शिशु' शब्द दिवादिगणी परस्मैपदी 'शी' तनूकरणे धातु से, औणादिक 'शः कित् सन्वच्च' सूत्र से 'उत्व', सन्वद्भाव द्वारा 'द्वित्व' और 'इत्व' करने पर निष्पन्न होता है।[1] 'तनु' शब्द का अर्थ होता है—दुबला, पतला, हल्का आदि। अतः 'तनूकरण' का अर्थ है—(छील-छालकर) छोटा करना, दुबला (क्षीण) करना, हल्का करना, कम करना आदि। इस प्रकार 'शिशु' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होगा—छोटा या हल्का करने वाला। प्रचलित सन्दर्भ में 'शिशु' का अर्थ होगा—'जो अपने माता-पिता के दुःख को हल्का (कम) करे, वही 'शिशु' है। प्राणी चाहे मनुष्य हो या पशु अथवा पक्षी, उसका बच्चा (शिशु) निस्सन्देह उसके दुःख को कम कर देता है। दूसरे शब्दों में उसे (माता-पिता को) आनन्द के सागर में निमज्जित कर देता है। इस प्रकार 'शिशु' की यही शिशुता है कि वह अपने (माता-पिता) के दुःख को कम कर देता है—

'श्यति तनूकरोति दुःखमिति शिशुः'

वस्तुतः इसी अर्थ में 'शिशु' पद की अन्वर्थकता सिद्ध होती है। दुःख का दूर होना ही आनन्द है। शिशु अपनी क्रीड़ाओं, चेष्टाओं, लीलाओं तथा सान्निध्य से निश्चय ही अपने माता-पिता आदि के दुःखों को दूर कर, उनको आनन्दित करता है। शिशु अपने माता-पिता के लिये आनन्द का स्रोत है। उसे पाकर उसके माँ-बाप अपने सभी दुःखों (निर्धनता, रुग्णता आदि) को भूल जाते हैं और एक अलौकिक सुख या आनन्द की प्राप्ति करते हैं।

'शिशु' शब्द की एक अन्य ढंग से भी व्युत्पत्ति की जा सकती है। भ्वादिगणीय 'शश-प्लुतगतौ' (परस्मैपदी) धातु से 'शशिरपोरतइः' सूत्र से 'कु' प्रत्यय तथा इत्व करके 'शिशु' शब्द को निष्पन्न किया जाता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'शिशु' पद का अर्थ होता है—

'शशति प्लुतेन गच्छति'

अर्थात्, जो कूदता हुआ (छलांग लगाता हुआ) चले, वह शिशु है। यह अर्थ इसलिये निकला है, क्योंकि प्लुतगत्यर्थक 'शश' धातु से यह शब्द निष्पन्न किया जाता है। शिशु शब्द की इस निष्पत्ति से अमरकोष के रामाश्रमी टीकाकार सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार उक्त सूत्र उपलब्ध नहीं होता।[2]

---

१ अमरकोषः, द्वितीय काण्ड, सिंहादिवर्ग ५, श्लोक ३८ के पूर्वार्द्ध की रामाश्रमी टीका, पृष्ठ २५८.   २. वही, रामाश्रमी टीका, पृष्ठ २५८।

'शिशु' शब्द से 'कन्' प्रत्यय लगाने पर 'शिशुक' शब्द भी निष्पन्न होता है, जो उसी अर्थ का वाचक है।

'शिशु' शब्द की व्युत्पत्ति और व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ पर विचार कर लेने के पश्चात् उसके पर्यायवाची शब्दों का विवेचन कर लेना अपेक्षित है।

शिशु के पर्यायवाची शब्द

अमरकोष के द्वितीय काण्ड के सिंहादि वर्ग ५ में बच्चे (शिशु) के सात नामों (पर्यायवाची शब्दों) का उल्लेख किया गया है—

'पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः पृथुकः शावकः शिशुः ।'[१]

अर्थात् छोटे बच्चे के सात नाम हैं—१. पोत २. पाक ३. अर्भक ४. डिम्भ ५. पृथुक ६. शावक तथा ७. शिशु ।

उक्त सात शब्दों में 'शावक' और 'शिशु' ये दो शब्द केवल 'शिशु' अर्थ को ही कहते हैं अर्थात् उनका केवल एक अर्थ (शिशु) होता है, परन्तु अन्य चार शब्द अनेकार्थवाची हैं। अमरकोष के अनुसार 'पोत' शब्द के दो अर्थ होते हैं, वे हैं—यानपात्र (जहाज) तथा शिशु (बच्चा)—

'यानपात्रे शिशौ पोतः'[२]

मेदिनीकोष के अनुसार 'पोत' के शिशु वहित्र (जहाज), गृह-स्थान तथा वासस् (कपड़ा)—ये चार अर्थ होते हैं—

'पोतः शिशौ वहित्रे च गृहस्थाने च वाससि ।'[३]

अमरकोषानुसार 'पाक' शब्द के दो अर्थ होते हैं—१. पाक (पकाना) २. शिशु—

'पाकौ पक्तिशिशू ।'[४]

मेदिनीकोशकार भी स्थाली आदि में पचन (पकाना), केश की शुक्लता आदि के साथ पाक का 'शिशु' अर्थ भी करते हैं—

'पाकः परिणतौ शिशौ ।'[५]

मेदिनीकोश के अनुसार 'अर्भक' के तीन अर्थ होते हैं—१. बाल २. मूर्ख ३. कृश (दुबला)—

'अर्भकः कथितो बाले मूर्खेऽपि च कृशेऽपि च ।'[६]

---

१. अमरकोष : २/५/३८ पूर्वार्द्ध । २. वही ३/३/६०
३. मेदिनीकोषः पृष्ठ ५६ श्लोक ३८ ४. अमरकोषः ३/३/१७
५. मेदिनीकोषः पृष्ठ ५, श्लोक ४७ । ६. वही ३/२९

अमरकोश तथा मेदिनीकोश दोनों के अनुसार 'डिम्भ' के दो अर्थ होते हैं। १. शिशु या बाल २. बालिश (मूर्ख)—

डिम्भौ तु शिशुबालिशौ –अमरकोष ३/३/१३४

डिम्भोऽपि बालिशे बाले—मेदिनीकोष, पृष्ठ १०६/४

अमरकोष के अनुसार 'पृथुक' शब्द के दो अर्थ हैं—१. चिपिट (चिउड़ा) २. अर्भक (शिशु)—

'पृथुकौ चिपिटार्भकौ'[१]

मेदिनीकोषकार का मत भी वैसा ही है—

'पृथुकः पुंसि चिपिटे शिशौ स्यादभिधेयवत्'।[२]

वैजयन्तीकोष में 'शिशु' अथवा 'बाल' के समानार्थक शब्दों को निम्नांकित प्रकार से गिनाया है—

'बालो डिम्भोऽर्भकः शावः कुमारो दारकः शिशुः।'[३]

अर्थात् १. बाल २. डिम्भ ३. अर्भक ४. शाव ५. कुमार ६. दारक ७. शिशु—ये शब्द बच्चे के वाचक हैं।

अमरकोष तथा वैजयन्ती-कोष के तुलनात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि दोनों ग्रन्थों में डिम्भ, अर्भक, शिशु तथा शाव (शावक) इन चार शब्दों को सामान्य रूप से गृहीत किया गया है, अर्थात् उक्त चार शब्द दोनों में आये हैं। अमरकोष के तीन शब्द 'पोत, पाक तथा पृथुक' वैजयन्ती-कोष के उक्त स्थान में उल्लिखित नहीं है और वैजयन्ती-कोष के 'बाल', 'कुमार' तथा 'दारक' ये तीन शब्द अमरकोष के उपर्युक्त स्थल में अंकित नहीं हैं। वैजयन्ती-कोष मे 'शाव' शब्द तथा अमरकोष में शावक शब्द का उल्लेख हुआ है। दोनों में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है, क्योंकि 'शावक' शब्द 'शाव' से 'कन्' प्रत्यय संलग्न करके निष्पन्न होता है।

ऊपर अन्य शब्दों पर विचार किया जा चुका है। सम्प्रति 'बाल' (बालक) 'कुमार' और 'दारक' इन शब्दों पर विचार कर लेना अपेक्षित है। सर्वप्रथम 'कुमार' शब्द विचारणीय है।

अमरकोष में 'कुमार' शब्द 'कार्तिकेय' के अर्थ में आया है।[४] वहीं अन्यत्र 'युवराज' के अर्थ में भी उसका प्रयोग हुआ है :

'युवराजस्तु कुमारो भर्तृदारकः'।[५]

यहाँ बाल या शिशु अर्थ में कुमार का प्रयोग नहीं हुआ है।

---

१. अमरकोष ३/३/३ २. मेदिनीकोष ११/१२६

३. वैजयन्तीकोष ५/४/२ ४. अमरकोष १/१/४० ५. वही १/७/१२

वैजयन्ती-कोष में कुमार शब्द का प्रयोग 'कार्तिकेय' 'युवराज' आदि अर्थों के साथ 'बाल' अर्थ में भी हुआ हैं ।[1]

मेदिनीकोष में 'स्कन्द' 'युवराज' आदि अर्थों के साथ 'कुमार' शब्द का प्रयोग 'बालक' अर्थ में भी हुआ है ।[2]

अमरकोष में 'दारक' शब्द के दो अर्थ किये गये हैं--१. बाल (लड़का) २. भेद करने वाला—

'दारको बालभेदकौ'[3]

मेदिनीकोष में भी दारक शब्द के दो अर्थ किये गये हैं—१. बालक २. भेदक—

'दारको बालकेऽपि स्यात् भेदकेऽभिधेयवत् ।'[4]

वैजयन्तीकोष में 'दारक', 'बाल' तथा 'शिशु' आदि शब्द समानार्थक हैं ।[5] 'शिशु' के समानार्थक शब्दों में बाल या बालक शब्द अधिक प्रचलित है, अतः उसका सम्यक् विचार कर लेना युक्तिसंगत है ।

अमरकोष में छोटे बच्चे के लिये 'बाल' ओर 'माणवक' इन दो शब्दों का प्रयोग किया गया है—

'बालस्तु स्यान् माणवकः'[6]

अमरकोष ही में अन्यत्र बाल से अन्य अर्थों का उल्लेख किया गया है, जिनमें 'मूर्ख' और 'अर्भक' ये दो अर्थ भी हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि बच्चे के लिये पृष्ठ ३ पर जो सात नाम गिनाये गये हैं, उनमें बाल शब्द नहीं है ।[7]

वैजयन्ती-कोष में शिशुवाची 'डिम्भ', 'अर्भक', 'कुमार', 'दारक' आदि के साथ 'बाल' शब्द का परिगणन कराया गया है। वहीं पर बाल शब्द के दो भिन्न अर्थों को भी दर्शाया गया है—

'बाले मूर्खे शिशौ'—अर्थात् 'बाल' शब्द 'मूर्ख' ओर 'शिशु' इन दो अर्थों में प्रयुक्त होता है।

मेदिनीकोष के अनुसार बाल का 'कुन्तल'[8] तथा घोड़ा और हाथी के बालगुच्छ ये दो अर्थ किये गये हैं और अन्यत्र 'बालक' शब्द के तीन अर्थ किये गये हैं[9]—

---

१. वैजयन्तीकोष ७/५/२८ तथा ५/४/२
२. मेदिनीकोष १३२/१३८
३. अमरकोष ३/३/३१
४. मेदिनीकोष ९/१०३
५. वैजयन्तीकोष ५/४/२
६. अमरकोष २।६/४२
७. अमरकोष २/५/३८
८. मेदिनीकोष १४७/३९
९. वही ११/१३०

१. शिशु २. अज्ञ ३. बालधि (हाथी-घोड़ा के बालों का गुच्छा)।

यदि ऊपर दिये गये सभी शब्दों का सही विवेचन किया जाय तो, यह कहा जा सकता है कि बालक अथवा शिशु के लिये कोष ग्रन्थों के अनुसार निम्नांकित शब्दों का प्रयोग होता है—

१. पोत २. पाक ३. अर्भक ४. डिम्भ ५. पृथुक ६. शाव अथवा शावक ७. शिशु ८. कुमार ९. दारक १०. बाल अथवा बालक ११. माणवक आदि।

उक्त सभी शब्दों में 'शिशु' तथा 'बाल' या 'बालक' ये दो शब्द सर्वाधिक प्रचलित हैं। 'शिशु' शब्द की व्युत्पत्ति आदि का विचार पहले किया जा चुका है। सम्प्रति 'बाल' अथवा 'बालक' शब्द पर विचार कर लेना प्रसंगोपेत है।

'बाल' शब्द की व्युत्पत्ति

'बल' नाम से दो धातुयें हैं। एक है भ्वादिगणीय परस्मैपदी, जो **प्राणन** तथा **धान्यावरोधन** अर्थ में है। दूसरी धातु है चुरादिगणीय, वह भी 'प्राणन' अर्थ में है। उक्त धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगाकर 'बाल' शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है—'बल्यते प्राण्यते पित्रादिरनेनेति बालः'।

अर्थात् जिसके द्वारा माता-पिता आदि बल (शक्ति) प्राप्त करते हैं, वह 'बाल' कहलाता है। वास्तविकता भी यही है कि 'बाल' या 'बालक' एक प्रकार का बल (शक्ति या सहारा) प्रदान करता है। माता-पिता के हृदय में वात्सल्य भाव को उत्पन्न कर बाल या बालक उन्हें आनन्दित करता है। उनमें एक अपूर्व शक्ति-मत्ता प्रदान करता है।

अमरकोष की रामाश्रमी टीका में 'बाल' शब्द की एक दूसरी व्युत्पत्ति दी गयी है। तदनुसार 'बल' संचलने भ्वादिगणीय धातु से 'घञ्' अथवा 'ण' प्रत्यय लगाकर 'बाल' शब्द व्युत्पन्न होता है।[१]

उक्त 'बाल' शब्द से स्वार्थ ने 'कन्' लगाकर 'बालक' शब्द बनता हैं। 'बाल' तथा 'बालक' दोनों शब्दों का अर्थ समान है।

इस सन्दर्भ में यह कहना समीचीन है कि उक्त शब्दों के अतिरिक्त भी कुछ शब्द हैं, जो उन्हीं अर्थों का बोध कराते हैं, वे हैं—'सन्तति', 'सन्तान', 'अपत्य' आदि।

'सन्तान' शब्द 'सम्' उपसर्ग पूर्वक, तनादिगणीय (उभयपदी) विस्तरार्थक 'तनु' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है, जिसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'विस्तार करने वाला'। किसका विस्तार ? कुल का, वंश का—

'सम्यक् तन्यते विस्तीर्यते अनेन इति सन्तानः'।

---

१. अमरकोष, रामाश्रमी टीका २/५/४१

अर्थात् जो अच्छी प्रकार कुल का विस्तार करे। कुल की परम्परा को कायम रखे। वह 'सन्तान' है। अमरकोष के अनुसार कुल या खानदान के नौ नाम गिनाये गये हैं, जिनमें 'सन्तति' तथा 'सन्तान' दोनों हैं।[१] सन्तान का अर्थ 'कल्पवृक्ष' भी होता है।[२]

सम् उपसर्ग पूर्वक 'तन्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगाकर 'सन्तति' शब्द निष्पन्न होता है। मेदिनीकोष के अनुसार 'सन्तान' के सन्तति, 'गोत्र', 'अपत्य' तथा 'कल्पवृक्ष'—ये पाँच अर्थ होते हैं[३] तथा सन्तति के 'पंक्ति', 'गोत्र' एवं 'पुत्र-पुत्री का पारम्पर्य' ये अर्थ होते हैं।[४]

वैजयन्तीकोष में 'लोक', 'अपत्य', प्रसूति', 'सन्तति' तथा 'प्रजा', ये शब्द समानार्थक माने गये हैं।[५]

पुत्र-पुत्री दोनों के वाचक के रूप में 'अपत्य' और 'तोक' इन दो शब्दों का भी उल्लेख अमरकोष में किया गया है—

अपत्यं तोकं तयोः समे।[६]

भ्वादिगणीय 'पत्लृ' धातु से यत् (य) प्रत्यय लगाकर 'पत्य' शब्द बनता बनता है और नञ् समास में न पत्यम्=अपत्यम् इस विग्रह में 'अपत्य' शब्द बनता है और उसका अर्थ होता है—'जिसके द्वारा पितर लोग गिरने नहीं पाते, वह 'अपत्य' कहलाता है—

न पतन्ति पितरोऽनेन।[७]

उक्त विवेचन पर एक दृष्टि डालने पर, निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि 'शिशु' अथवा 'बाल' के अर्थ में ऊपर जिन शब्दों को गिनाया गया है, उनमें 'पोत', 'पाक', 'दारक', 'अर्भक' एवं 'पृथुक' आदि शब्द कम प्रचलित हैं। उनमें भी 'पोत' और 'पाक' तथा 'पृथुक' जैसे शब्दों का प्रयोग तो साहित्य में बहुत कम हुआ है। छोटी अवस्था के बच्चों के वाचक के रूप में 'शिशु' और 'बाल' ये दो शब्द अत्यधिक प्रचलित हैं। इस सन्दर्भ में यह ध्यान देने योग्य है कि शिशु तथा बाल (बालक) आदि शब्द बच्चामात्र के बोधक हैं। चाहे वह बच्चा लड़का हो अथवा लड़की। अर्थात् शिशु आदि शब्दों से लड़का तथा लड़की सभी का बोध होता है।

---

१. अमरकोष २/७/१
२. वही १/१/५०
३. मेदिनीकोष ९३/४६
४. वही ६६/१५८
५. वैजयन्तीकोष, ४।४।४१
६. अमरकोष, २।६।२८
७. वही, रामाश्रमी टीका, पृ० २१२।

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि बाल तथा बालक शब्द से स्त्रीलिंग में 'टाप्' प्रत्यय लगाकर क्रमशः 'बाला' तथा 'बालिका' शब्द बनता है, पर 'शिशु' शब्द से स्त्रीलिंग में कोई शब्द नहीं बनता, वह नित्य पुंलिंग है। इसी प्रकार बाल वाचक कुमार शब्द से स्त्रीलिंग में 'कुमारी' शब्द बनता है।

'वाचस्पत्यम्' कोष में गोपालन्यायपंचाननकृत स्मृति-निर्णय का प्रमाण देते हुए 'बाल', 'शिशु' तथा 'कुमार' इन तीन शब्दों को परिभाषित कर, उनके भेद को स्पष्ट किया गया है। तदनुसार चौलकर्म नामक संस्कार से पूर्व तक बच्चे को 'बाल', अन्नप्राशन संस्कार से पहले तक 'शिशु' तथा मौञ्जी बन्धन (उपनयन संस्कार) के पूर्व तक उसे 'कुमार' कहा जाता है—

प्राक् चूडाकरणाद् बालः प्रागन्नप्राशनाच्छिशुः।
कुमारस्तु स विज्ञेयो यावन्मौञ्जीबन्धनात् ॥[1]

सम्प्रति 'शैशव' शब्द की व्युत्पत्ति आदि पर भी कुछ विचार कर लेना अपेक्षित है। 'शिशु' शब्द से भाव अर्थ में (शिशोर्भावः, इस अर्थ में) 'अण्' प्रत्यय के योग से 'शैशव' शब्द बनता है। उसी शब्द से भाव में ही 'त्व' प्रत्यय के योग से 'शिशुत्व' शब्द बनता है। इन दोनों 'शैशव' तथा 'शिशुत्व' का अर्थ 'बचपन' होता है। वैजयन्तीकोष में 'शिशुत्व, शैशव तथा बाल्य' इन तीनों शब्दों को समानार्थक माना है—

'शिशुत्वं शैशवं बाल्यं सामुद्रं देहलक्षणम्।'[2]

ये तीनों शब्द उक्त 'बचपन' अर्थ का बोध कराते हैं।

अब प्रश्न यह है कि 'शिशु' 'बाल' अथवा 'बालक' की आयु-सीमा क्या रखी जाय? दूसरे शब्दों में बचपन को किस आयु की सीमा तक सीमित किया जाय? इस सन्दर्भ में वर्णाश्रम-व्यवस्था को थोड़ा ध्यान में रखना होगा। वर्णाश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत मानव के सम्पूर्ण जीवन को चार आश्रमों (भागों) में विभाजित किया गया है—

१. ब्रह्मचर्य २. गृहस्थाश्रम ३. वानप्रस्थ ४. संन्यास।

सामान्यतः मानव-जीवन को सौ वर्षों का मानकर, प्रत्येक के लिये पचीस वर्षों की समय-सीमा निर्धारित की जाती है। शैशवावस्था ब्रह्मचर्य आश्रम के ही अन्तर्गत आयेगी, यह निश्चितप्राय है।

मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को चार भागों में विभाजित कर यह निर्देश दिया गया है कि मनुष्य को अपनी प्रथम अवस्था में अध्ययन, द्वितीय में धनोपार्जन,

---

१. डॉ० श्रीमती अन्नपूर्णामिश्रकृत संस्कृत महाकाव्यों में बालवर्णन, पृ० ५१
२. वैजयन्तीकोष ४।४।५४।

तृतीय में तप आदि धर्म-कर्म कर लेना चाहिए, अन्यथा वह चतुर्थ अवस्था (वृद्धावस्था) में क्या कर सकता है—

आद्ये वयसि नाधीतं द्वितीये नार्जितं धनम् ।
तृतीये ना तपस्तप्तं चतुर्थे किं करिष्यति ॥

यत्रकुत्रचित् मानव की पूरी आयु को चार भागों के स्थान पर तीन भागों में वर्गीकृत किया गया है—

१. कुमारावस्था २. युवावस्था ३. वृद्धावस्था ।

पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥

अर्थात् कुमारावस्था में स्त्री की रक्षा उसका पिता करता है, युवावस्था में उसकी रक्षा पति करता है और वृद्धावस्था में उसका पुत्र उसकी रक्षा करता है।[१]

सम्पूर्ण मानव-जीवन का विभाजक वर्ग, चाहे चार हो अथवा तीन, उनकी प्रारम्भिक तथा अन्तिम बाल-सीमा क्या होगी, यह विचारणीय है। प्रस्तुत प्रसंग में धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित संस्कारों तथा उनके सम्पन्न कराने की आयु पर विचार कर लेना उचित होगा।

मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में मनुष्य के अनेक संस्कारों का वर्णन किया गया है। प्रायः निम्नांकित १६ संस्कार मान्य किये जाते हैं—

१. गर्भाधान २. पुंसवन ३. सीमन्तोन्नयन ४. जातकर्म ५. नामकरण (नामधेय) ६. निष्क्रमण ७. अन्नप्राशन ८. चूडाकर्म ९. कर्णवेध १०. विद्यारम्भ ११. उपनयन (उपनायन) १२. वेदारम्भ १३. केशान्त १४. समावर्तन १५. विवाह १६. अन्त्येष्टि ।

उक्त संस्कारों में प्रथम तीन जन्म के पूर्व के हैं। चार से लेकर नौ तक बाल्यावस्था के तथा दस से लेकर चौदह तक विद्याध्ययन काल के हैं। पन्द्रहवां विवाह संस्कार गृहस्थाश्रम में प्रवेश का नियामक है और सोलहवाँ मृत्यु के बाद का है।

इस सन्दर्भ में दो बातें ध्यातव्य हैं। एक यह कि गृहस्थाश्रम में प्रवेश के पूर्व ही मनुष्य को विविध संस्कारों से सुसंस्कृत (एवं सुशिक्षित) इस लिये बना दिया जाता है, जिससे वह सर्वाङ्गपूर्ण गृहस्थ होकर अपने कर्त्तव्यों के पालन द्वारा परिवार, समाज एवं राष्ट्र की सेवा कर सके। दूसरी यह कि मनुष्य को सुसंस्कृत

---

१. मनुस्मृति, ९।३

बनाने की पृष्ठभूमि जन्म के पूर्व ही तैयार कर दी जाती है। इसीलिये गर्भाधान, पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन—इन तीन संस्कारों का विधान है।'[१]

मनुस्मृति के अनुसार 'शिशु' का निष्क्रमण जन्म के चौथे मास में 'अन्नप्राशन' छठे मास में, 'चूडाकर्म' प्रथम अथवा तृतीय वर्ष में करना चाहिए। जहाँ तक 'उपनयन-संस्कार' की बात है, गर्भ से आठवें वर्ष में ब्राह्मण का, ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय का और बारहवें वर्ष में वैश्य का (उपनयन संस्कार) किया जाना चाहिए।

चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले॥
चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात्॥
गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥[२]

मनुस्मृतिकार ने उपनयन संस्कार के विषय में दो बातें और कही हैं। एक यह कि ब्रह्मतेज की कामना से ब्राह्मण का उपनयन पाँचवें वर्ष में, बल की अभिलाषा से क्षत्रिय का छठें वर्ष तथा धन आदि की प्राप्ति की इच्छा से वैश्य का उपनयन-संस्कार आठवें वर्ष में हो जाना चाहिए।[३]

मनुस्मृति में उपनयन अथवा यज्ञोपवीत के लिये आयु की अन्तिम सीमा भी निर्धारित की गयी है। इसके अनुसार ब्राह्मण का उक्त संस्कार १६ वें वर्ष तक, क्षत्रिय का २२ वें वर्ष तक तथा वैश्य का २४वें वर्ष तक अवश्य हो जाना चाहिए। उसका अतिक्रमण नहीं होना चाहिए, क्योंकि उस काल तक संस्कार न होने पर उक्त तीनों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) 'व्रात्य' नाम से नामित किये जाते हैं और वे वैदिक कृत्य करने के अधिकारी नहीं रह पाते।[४]

एक वचन के अनुसार सोलह वर्ष की आयु तक बच्चा बाल (या शिशु) कहलाता है। उसके बाद वह 'तरुण' (युवा) कहलाता है—

'आषोडशाद् भवेद् बालस्तरुणस्तत उच्यते।'[५]

बच्चा जब तक ८ वर्ष का न हो जाय तब तक वह शिशु ही है।

---

१. ब्रह्मवाणी पत्रिका (फैजाबाद १९९२) में प्रकाशित डॉ० राजदेव मिश्र के लेख 'उपनयन संस्कार' से साभार उद्धृत।

२. मनुस्मृति—डॉ० राजदेव मिश्र, द्वितीय अध्याय, श्लोक ३४—३६।

३. वही २/३७ ४. वही २/३९

५. कल्याण, बालक अंक : नवीन संस्करण, पृ० ७४

'जातमात्रः शिशुस्तावद् यावदष्टौ समा वयः।'[1]

मनुस्मृति में ही एक स्थल में चार महीने के बच्चे के लिये 'शिशु' शब्द का प्रयोग किया गया है।[2]

भवभूति के उत्तररामचरित के चतुर्थ अंक के ग्यारहवें श्लोक मे अरुन्धती ने सीता के लिये 'शिशु' शब्द का प्रयोग किया है—'शिशुर्वा शिष्या वा……।'[3]

उत्तररामचरित में ही चतुर्थ अंक में सीता के लिये विलाप करते हुये जनक ने 'शिशु' शब्द का प्रयोग छोटी बालिका के रूप में पूर्व स्थित सीता के लिये किया है।[4]

उक्त सभी उद्धरणों का आकलन करने पर यह कहा जा सकता है कि बाल या शिशु शब्द प्रायः समानार्थक ही हैं। उन्हीं से मिलता-जुलता कुमार शब्द भी है। ऐसी स्थिति में शैशव, बाल्य तथा कौमार (कौमार्य) इन तीनों को समानार्थक मान लेने में कठिनाई नहीं है। शिशुत्वं शैशवं बाल्यम्' कहकर वैजयन्तीकोषकार ने बाल्य और शैशव में साम्य माना भी है। कुमारसम्भव में भी ग्यारहवें सर्ग के ४५ वें श्लोक में 'शैशव' शब्द का प्रयोग 'बचपन' अर्थ में हुआ है। जहाँ तक 'कुमार' शब्द का प्रश्न है, वह भी 'बाल' या 'शिशु' अर्थ में कुमारसम्भव, विक्रमोर्वशीय आदि में प्रयुक्त है।[5] कुमारसम्भव में ही 'शिशोः शैशवकेलिवृत्तैः'[6] आदि स्थलों में 'शिशु' तथा 'शैशव' शब्दों का प्रयोग भी क्रमशः बाल तथा बाल्य अथवा बचपन के अर्थ में हुआ है।

यहाँ इतना अवश्य विचारणीय है कि 'कुमार' शब्द से पुंलिंग अर्थ में 'कुमार' तथा स्त्रीलिंग में 'कुमारी' शब्द बनता है, जो क्रमशः 'बालक' तथा 'बालिका' के अर्थ का बोधक है। अभिज्ञानशाकुन्तल आदि ग्रन्थों में 'शिशु' के ही अर्थ में 'शावक' शब्द का प्रयोग हुआ है।[7]

ऊपर के विवेचन का सही आकलन किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि 'यत्रकुत्रचित् आठ वर्ष तक के बच्चे के लिये 'शिशु' शब्द तथा सोलह साल तक के बच्चे के लिये 'बाल' शब्द का प्रयोग किया गया है। सोलह साल के बाद की अवस्था वाले के लिये 'तरुण' शब्द का प्रयोग किया गया है।

'मनुस्मृति' के आठवें अध्याय के सत्ताईसवें श्लोक में प्रयुक्त 'अतीतशैशव' शब्द का अर्थ टीकाकारों ने उस युवक का लिया है, जो सोलह वर्ष की अवस्था

---

१. कल्याण, बालक अङ्क, नवीन संस्करण, पृ० २१ २. मनुस्मृति २/३४।
३. उत्तररामचरित ४/११ ४. वही ४/४
५. कुमारसम्भव ११/४६ तथा विक्रमोर्वशीय ५/७
६. कुमारसम्भव ११/४९ ७. अभिज्ञानशाकुन्तल ७/१४ तथा ७/१८

व्यतीत कर चुका है।[१] मनुस्मृति पाँचवें अध्याय के १४८ वें श्लोक में 'बाल्य' से अभिप्राय कुमारावस्था से तथा नवें अध्याय के तीसरे श्लोक में 'कौमार' का अर्थ भी युवावस्था से पूर्व की अवस्था से है।[२] 'संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ' नामक कोष ग्रन्थ में सोलह वर्ष की अवस्था तक की अवस्था के लिये 'शैशव' शब्द का प्रयोग हुआ है।[३]

प्रस्तुत ग्रन्थ में 'शैशव-चित्रण' के अन्तर्गत सोलह साल तक के बच्चे-बच्चियों की अवस्था के चित्रण को रखा गया है। शैशवावस्था का श्रीगणेश तो उत्पत्ति के बाद से हो जाता है, पर सोलह वर्ष के पूर्व विद्यारम्भ से शैशव की परावस्था हो जाती है। अर्थात् जन्म के बाद से विद्यारम्भ के पूर्व तक शैशव का पूर्वार्द्ध तथा विद्यारम्भ से लेकर सोलह वर्ष तक उसका उत्तरार्ध माना जा सकता है। इतना अवश्य है कि शैशव-चित्रण प्रसंग में जहाँ तक माता-पिता के वात्सल्य-स्नेह का प्रश्न है, वह तो उनकी सन्तान की सोलह वर्ष की अवस्था को भी पार कर जाता है अर्थात् वात्सल्य-स्नेह में अवस्था का प्रतिबन्ध नहीं रह जाता, ऐसा इसलिये होता है क्योंकि माता-पिता के सामने उनकी सन्तान सदा शैशवावस्था में ही रहती है।

बालक-बालिका के शिशुत्व की एकता एवं विभिन्नता

बालक तथा बालिकाओं, दोनों की शरीर-रचना पाँच महाभूतों—क्षिति, जल, पावक, आकाश तथा वायु के सहयोग से होती है। इस दृष्टि से दोनों में तात्त्विक एकता होती है। परन्तु तद्विषयक एकता के बावजूद दोनों में विभिन्नता होती है और वह विभिन्नता नैसर्गिक तथा जन्मजात होती है।

एकता

गर्भकालीन शिशु का विकास, चाहे वह बालक हो अथवा बालिका, समान रूप से होता है। उन दोनों में कतिपय आंगिक विभिन्नता के होने पर भी उनके आंगिक—हाथ, पैर, आँख, नाक, कान आदि से सम्बद्ध-विकास समान रूप से होता है। उत्पन्न होने के बाद उनकी भूख, प्यास, रोग, पीडा आदि की अनुभूति में भी समानता होती है। भूख लगने या किसी पेट-दर्द आदि पीडा की अनुभूति होने पर, दोनों (बालक-बालिकायें) रोने लगते हैं। माता के दूध को पीने के लिये दोनों लालायित हो जाते हैं और दूध पी लेने पर दोनों सन्तुष्ट हो जाते हैं। उनके हँसने, रोने तथा चेष्टा आदि करने में भी समानता दृष्टिगोचर होती है।

---

१. मनुस्मृति ८/२७ २. वही ५/१४८ तथा ९/३
३. संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ, पृष्ठ ११७०।

यदि बालक-बालिकाओं की शैशवावस्था से सम्बद्ध उनके क्रिया-कलाप तथा क्रीडाओं आदि का सम्यक् आकलन किया जाय तो, यह पाया जायेगा कि जब तक उनमें परस्पर लैंगिक विषमता का अवबोध नहीं हो पाता, तब तक उनकी क्रियायें चेष्टायें तथा क्रीडायें समान ही होती हैं। इस प्रकार की समानतायें प्रायः दो वर्ष से लेकर पाँच वर्ष तक की अवस्था वाले बालक-बालिकाओं में पायी जाती हैं। शैशवावस्था की उक्त कालावधि में दोनों एक साथ मिलकर नाना प्रकार की क्रीडायें करते हैं, साथ-साथ खाते-पीते और अपनी टूटी-फूटी बोली में वार्तालाप आदि करते हैं। इतना अवश्य है कि शैशवकाल में उक्त समानताओं के होते हुए भी, दोनों में अनेक विषमताएँ विद्यमान रहती हैं। इन विषमताओं का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि पाँच वर्ष तक की आयु में अथवा उसके बाद की आयु वाले बालक-बालिकाओं में समता नाम की कोई वस्तु नहीं रह जाती। पाँच वर्ष की अवस्था पार कर लेने पर भी वे साथ-साथ खेलकूद लेते हैं, वार्तालाप आदि करते हैं, क्रीड़ा आदि की प्रतियोगिताओं में साथ-साथ भाग लेते हैं।

विभिन्नता

ऊपर बालक-बालिकाओं की समानता के विषय में कुछ कहा गया है। पर यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि बालक-बालिकाओं के परस्पर भेदक तत्त्व गर्भकाल से ही विद्यमान रहते हैं। इस भेदकतत्त्व (अर्थात् विभिन्नता) का मुख्य कारण यौन है। व्यक्तित्व-निर्धारक तत्त्वों में यौन-तत्त्व अपनी प्रमुख भूमिका निभाता है। सर्वप्रथम शारीरिक विभिन्नता पर विचार कर लेना अपेक्षित है।

शारीरिक विभिन्नता

यौन विभिन्नता के कारण बालक-बालिकाओं की शरीर रचना में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। उनके कुछ शारीरिक अंगों में सर्वांशतः विभेद होता है। बालिका को माता बनना है, गर्भधारण करना है और बच्चे को दूध पिलाना है, अतः इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उनके शारीरिक अंगों की बनावट होती है। जन्मग्रहण के समय दोनों के शरीर के वजन आदि में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। साधारणतः जन्म-काल में बालशिशु की लम्बाई लगभग बीस इंच होती है। बालिका शिशु की लम्बाई बालक से कम होती है। दोनों के वजन में भी अन्तर होता है। बालिका की अपेक्षा बालक अधिक वजनदार होता है। यह स्थिति किशोरावस्था के पूर्व तक रहती है। चूँकि बालिकाओं की किशोरावस्था, बालकों की किशोरावस्था के पहले ही प्रारम्भ हो जाती है, अतः उस अवस्था में बालिका का वजन आदि बालकों से प्रायः अधिक भी हो जाता है। परन्तु यह

स्थिति अधिक दिनों तक नहीं रहती। चौदह-पन्द्रह वर्ष की अवस्था पार कर लेने पर बालक का वजन तथा लम्बाई दोनों, बालिका के वजन और लम्बाई से, अधिक हो जाती है। फलस्वरूप बालक, बालिका की अपेक्षा, अधिक लम्बा और वजनदार हो जाता है।

उक्त शारीरिक भिन्नता के कारण बालक-बालिकाओं में शक्ति सम्बन्धी भिन्नता भी आ जाती है। यह सर्वमान्य तथ्य है कि बालिका की अपेक्षा बालक शारीरिक दृष्टि से अधिक शक्तिमान् होता है। वह अपनी शक्तिमत्ता के कारण ही जितना शारीरिक श्रम कर लेता है, उतना शारीरिक श्रम बालिका नहीं कर सकती। इस प्रकार की शारीरिक शक्तिमत्ता का पूर्ण विकास बालिकाओं में चौदह वर्ष की आयु तक तथा बालकों में प्रायः सत्रह वर्ष की आयु तक होता रहता है। प्रौढावस्था के बाद वृद्धावस्था में स्त्री का शक्ति-ह्रास पुरुष की अपेक्षा पहले होने लगता है। यह शारीरिक शक्तिमत्ता ही है, जिसके कारण बालक भारोद्वहन, कठिन यन्त्रादि-संचालन एवं कृषि सम्बन्धी कठिन कार्यों आदि का सम्पादन सुगमतापूर्वक कर लेता है, जबकि बालिकायें उक्त कार्य को आसानी से नहीं कर पातीं।

व्यक्तित्व और सामाजिक विकास में एकता तथा भिन्नता

जैसा कि अभी पहले कहा गया है कि पाँच वर्ष की आयु तक यौन सम्बन्धी अबोध के कारण दोनों में मामाजिक एकता के दर्शन होते हैं। दोनों साथ-साथ खेलते कूदते, गाते, बजाते और हँसते हैं। पर बाद में दोनों के क्रिया-कलापों में अन्तर हो जाता है।

पुरुषों और महिलाओं में उनके व्यक्तित्व-सम्बन्धी तथा सामाजिक विकास में जो अन्तर दिखायी देता है, उसमें यौन-प्रभावों की महती भूमिका होती है। अपने प्रारम्भिक काल से ही बालक-बालिका दोनों अपने परिवार में ही यह सीख लेते हैं कि कौन कार्य उन दोनों के यौन के अनुरूप हैं। मनोवैज्ञानिकों ने ऐसे व्यवहारों को यौन-व्यवहार (सेक्स-रोल) कहा है। इस युग में भी, जबकि सम्पूर्ण समाज वैज्ञानिक विकास के प्रभाव से ओत-प्रोत है और जहाँ स्त्री-पुरुषों के विभेद को किसी सीमा तक अमान्य कर दिया गया है, बालक-बालिकाओं के लिये यौन के आधार पर करणीय कार्यों का निर्धारण किया गया है। बालक विशेषतः घर के बाहरी कार्यों का तथा बालिकायें घर के भीतर कार्यों का सम्पादन करती हैं।

खेलकूद के क्षेत्र में भी, जब बालक-बालिकाओं में थोड़ा अपनी लैंगिक विषमता का बोध हो जाता है, तब वे पृथक्-पृथक् वर्गों में खेलने लगते हैं। ऐसी

स्थिति में भी यौन-भिन्नता भी कारण होती है। ऐसे में सामाजिक स्थितियाँ भी कारण बनती हैं। दोनों के खेल के साधन (उपकरण) भी भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। बालिका जहाँ गुड़िया बनाने, भोजन बनाने आदि के खेल में अभिरुचि दिखाती है, बालक वहीं वालीबाल, हाकी, क्रिकेट आदि खेलों में रुचि रखता है। यही नहीं, बालिकाओं के खेल प्रायः घर के भीतर तथा बालकों के खेल घर के बाहर होते हैं। किन्हीं अपवादों को छोड़कर खेलकूद आदि की प्रतियोगिताओं में भी उनमें विभिन्नता दृष्टिगोचर होने लगती है।

उक्त विवेचनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बालक-बालिकाओं में कई बातों में परस्पर समानता होने पर भी, उनमें यौन अथवा सामाजिक कारणों से भिन्नता भी होती है।

काव्य में शैशव-चित्रण की भावात्मक पृष्ठभूमि

कवि अलौकिक काव्य जगत् का अप्रतिम स्रष्टा है। यद्यपि वह लौकिक होता है, परन्तु उसकी सृष्टि सर्वथा अलौकिक होती है। अलौकिक कहने का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि काव्य लोक-मर्यादा अथवा लोक-व्यवहार से सर्वथा शून्य होता है। उक्त कथन का अभिप्राय मात्र इतना है कि जिस प्रकार ब्रह्मा अपनी सृष्टि का विधान करने में सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है, उस प्रकार कवि की स्थिति नहीं है। वह तो अपार काव्य-संसार का स्वतन्त्र स्रष्टा है—

'अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।'

उसकी सृष्टि काव्य इसलिये अलौकिक है क्योंकि वह ब्रह्मा की लौकिक सृष्टि से सर्वथा विलक्षण है। आचार्य मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लास में कहा है कि ब्रह्मा की सृष्टि तथा कवि की सृष्टि में बहुत अन्तर है—

१. ब्रह्मा की सृष्टि नियतिकृत-नियम-सहिता है, जबकि कवि की सृष्टि (काव्य) नियतिकृत-नियम-रहिता है।

२. ब्रह्मा की सृष्टि में सुख, दुःख तथा मोह तीनों हैं और इसीलिये वह 'सुखदुःखमोहस्वभावा' कहलाती है। पर कवि की सृष्टि 'ह्लादैकमयी' है अर्थात् उसमें दुःख तथा मोह के लिये कोई स्थान नहीं है। उसमें आह्लाद (सुख) ही आह्लाद है।

३. ब्रह्मा की सृष्टि समवायि, असमवायि तथा निमित्त, इन तीन कारणों के अधीन है, पर इसके विपरीत कवि की सृष्टि, उक्त किसी भी कारण के अधीन नहीं है। वह तो कवि-प्रतिभा के अतिरिक्त अन्य किसी की अधीनता को स्वीकार ही नहीं करती। इसीलिये उसे 'अनन्यपरतन्त्र' कहा जाता है।

४ ब्रह्मा की सृष्टि में मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय तथा तिक्त—ये छह लौकिक रस पाये जाते हैं। उनमें भी सब के सब रस प्रिय नहीं होते। उनमें कटु जैसे अप्रिय रस भी हैं। इसके विपरीत कवि-सृष्टि काव्य में छह के स्थान पर नौ रस होते हैं और उन सभी की यह विशेषता है कि वे सभी प्रिय (रुचिकर एवं आनन्दरूप) होते हैं। इसीलिये कवि-सृष्टि को 'नवरसरुचिरा' कहा गया है—

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥[१]

कवि की ऐसी विलक्षण सृष्टि के अनेक प्रयोजन हैं, परन्तु उन सभी प्रयोजनों में परमानन्द अर्थात् ब्रह्मानन्द सहोदर 'रस' मुख्य है। इसीलिये मम्मट ने उक्त प्रयोजनको सभी प्रयोजनों में मूर्धन्य कहा है—

'सकलप्रयोजनमौलिभूतम् ।'[२]

कवि अपने काव्य के लिये कथावस्तु चराचर जगत् से ही लेता है। उसके काव्य-संसार का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसके अन्तर्गत सब कुछ आ जाता है। कवि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह लोक से कथावस्तु लेकर उसका ऐसा अनोखा वर्णन करता है कि उसका काव्य सहृदय के आनन्द का स्रोत बन जाता है। उसको पढ़कर पाठक एक अपूर्व आनन्द की प्राप्ति करता है, जिसे 'रस' कहते हैं। काव्य में शब्द, अर्थ, अलंकार तथा गुण आदि सभी का निवेश रहता है, पर वे सभी गौणस्थानीय हैं। सर्वप्रधान तो 'रस' ही है, जो एक प्रकार से काव्य का आत्मा है।

इस प्रकार देखा जाय तो यह कहने में कोई असमीचीनता नहीं है कि काव्य एक प्रकार से भावमय सृष्टि है। उसका जगत् भाव का जगत् है। कवि, संस्कार से ही, अपने काव्य की कथावस्तु (जड़ या चेतन) को ग्रहण करता है। जहाँ तक मानव का सम्बन्ध है, उसका तो सम्पूर्ण जीवन ही काव्य में प्रतिबिम्बित हो जाता है। नर-नारी, बालक, युवा तथा वृद्ध सभी काव्य के विषय बन जाते हैं। कवि के काव्य के विषय की परिधि मनुष्य तक ही सीमित नहीं रहती, अपितु वह (कवि) समस्त चेतन प्राणियों को चाहे वह मनुष्य हों या पशु अथवा पक्षी, अपने काव्य के विषय के घेरे में समेट लेता है। इतना ही नहीं, वह चेतन के अतिरिक्त पर्वत, वृक्ष, लता, वन, नदी, सागर, आकाश, पाताल, सूर्य तथा चन्द्र आदि को भी अपना काव्यविषय बना डालता है। जब उसके काव्य-विषय का क्षेत्र

---

१. काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास, प्रथम कारिका।
२. वही, प्रथम उल्लास, द्वितीय कारिका की वृत्ति।

इतना व्यापक और विशाल है, तब भला वह 'शिशु-जीवन' को अपने काव्य-विषय से पृथक् कैसे रख सकता है? कवि के इस प्रकार के गुरुतर भार को ध्यान में रखकर ही तो भामह ने कहा है कि 'कवि का भार' कितना महान् है—

'अहो भारः महान् कवेः।'

अब काव्य में शैशव चित्रण की भावात्मक पृष्ठभूमि पर थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है। इस अध्याय के प्रारम्भ में 'शिशु' शब्द की व्युत्पत्ति को प्रदर्शित कर, उसके व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को स्पष्ट करते हुये कहा जा चुका है कि जो अपने माता-पिता के दुःख को हल्का करता है, वह 'शिशु' कहलाता है।[1] दुःख को हल्का करके शिशु अपने माता-पिता को आनन्द के सागर में डुबा देता है। अपनी सन्तान को देखकर, उसका स्पर्श कर, उसका सान्निध्य प्राप्त कर, माता-पिता एक वर्णनातीत आनन्द की प्राप्ति करते हैं। सन्तान के प्रति माता-पिता का इतना भावात्मक लगाव होता है कि वे उसके बिना रह नहीं सकते। उसके संयोग में यदि वे असीम आनन्द की प्राप्ति करते हैं, तो उसके वियोग में उसी मात्रा में दुःखी भी होते हैं।

मनुष्य में ही नहीं, पशु-पक्षियों में भी अपनी सन्तान के प्रति एक अपूर्व भावात्मक लगाव तथा स्नेह दृष्टिगोचर होता है। पशुपक्षियों में भी सन्तान-संयोग-जनित आनन्द तथा सन्तान-वियोग-जनित दुःख के दर्शन होते हैं। गाय, भैंस, कुत्ता आदि (पशु) अपने बच्चों को पाकर कितने प्रेम से उन्हें चाटते है, दूध पिलाते हैं और यह सब करके उन्हें कितनी प्रसन्नता होती है। चिड़ियाँ कहाँ-कहाँ से चारा लाकर अपने बच्चों को चुगाती हैं। घोसला बनाकर उनकी रक्षा करती हैं। उनके लिये नानाविध कष्ट झेलती हैं। यह सब करके वे कभी भी कष्ट का अनुभव नहीं करतीं। पशुओं में भी, अपने शिशु के प्रति, उनकी मात की भावात्मक स्थिति का आकलन इसी से किया जा सकता है कि वानरी अपने मृत बच्चे को भी तब तक नहीं छोड़ पाती, जब तक उसके मृत शरीर से दुर्गन्ध न निकलने लगे। वह (वानरी) वैसा इसीलिये तो करती है कि उसके लिये उसके शिशु का वियोग असह्य है।

जब ज्ञान-हीन पशु-पक्षियों में अपने शिशु के प्रति इतना लगाव है, तो मानव का क्या पूछना! उसके पास तो ज्ञान तथा भाव दोनों की अपूर्व सम्पत्ति है। अपने ज्ञान के कारण यदि वह, समस्त चराचर के वास्तविक रहस्य का उद्घाटन करके, परात्पर ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है और ऐसा करके

---

१. प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, पृष्ठ ४।

जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकता है, तो वह भावसम्पत्ति के कारण, काष्ठ, मिट्टी तथा पाषाण (पत्थर) जैसी जड़ वस्तु में भी देवत्व की प्रतिष्ठा कर सकता है। वास्तविकता तो यही है कि देवता न काठ में रहता है, न पाषाण में और न ही मिट्टी में, प्रत्युत वह भाव में रहता है—

न देवो विद्यते काष्ठे पाषाणे न मृण्मये।
भावो हि विद्यते यस्मात्तस्माद् भावो हि कारणम् ॥

ऐसी मानवीय भावसम्पत्ति की स्थिति में, अपने सन्तान (पुत्र-पुत्री) के प्रति मानव के भावात्मक आकर्षण को देखकर, आश्चर्य करने का प्रश्न ही कहाँ उठता है। माता-पिता यह तो समझते ही हैं कि पुत्र-पुत्री उनकी आत्मा के ही प्रतिरूप हैं—

'आत्मा वै जायते पुत्रः'

माता-पिता के आत्मा से उत्पन्न होने के कारण ही तो पुत्र 'आत्मज' तथा पुत्री 'आत्मजा' कहलाती है। यदि पुत्र-पुत्री के लिये प्रयुज्यमान ये दोनों अभिधान सार्थक हैं, तो फिर पुत्र-पुत्री अपने माता-पिता से भिन्न कहाँ हुई ? फिर अपने ही आत्मा से अभिन्न सन्तान के प्रति माता-पिता के अनुपम भावात्मक लगाव के दर्शन में कौन सी नयी बात हो गयी ? वस्तुतः माता-पिता अपनी सन्तानों में अपने रूप को ही प्रतिबिम्बित पाते हैं। इसीलिये वे अपने बच्चों को देखकर असीम आनन्द का अनुभव करते हैं। सन्तानोत्पत्ति के समय, माता-पिता के हृदय में, जो आनन्दातिरेक उद्भूत होता है, वह वस्तुतः वर्णनातीत है। उस समय तो वे अपनी सारी सुध-बुध खोकर आनन्द के सागर में निमज्जित से हो जाते हैं। उनके आनन्द की सीमा नहीं रह जाती। सन्तानोपत्ति के समय माता-पिता के हृदय में उद्भूत आनन्द गरीब-अमीर के भेदभाव को मिटा देता है। उस समय माता-पिता, चाहे गरीब हों या अमीर, अवर्णनीय आनन्द की प्राप्ति करते हैं। गरीब अथवा अमीर सभी अपनी सन्तानों को पाकर अथवा देखकर समान रूप से आनन्दित होते हैं।

संसार के विचारकों, चिन्तकों तथा कवियों, सभी ने माता-पिता की सन्तान-विषयक भावस्थिति का वास्तविक आकलन किया है और आजभी कर रहे हैं तथा भविष्य में भी करते रहेंगे, इसमें सन्देह नहीं है। वैयाकरण बड़ी से बड़ी बात को भी सूत्र रूप में कहना चाहते हैं। ऐसा करने में यदि उन्हें आधी मात्रा की भी बचत हो जाय तो, वे उसे (आधी मात्रा की बचत को) पुत्रोत्सव के समान मानते हैं—

'अर्धमात्रालाघवेन वैयाकरणाः पुत्रोत्सवं मन्यन्ते'

यहाँ पुत्रोत्सव के आनन्द को वैयाकरण के आनन्द का उपमान बनाया गया है। इसी से पुत्रोत्सव के आनन्द की महिमा जानी जा सकती है। माता नौ महीने अपने गर्भ में अपनी सन्तान को धारण करती है। गर्भ-काल में उसे क्या-क्या कष्ट नहीं होता, पर वह उसकी रंचमात्र की परवाह नहीं करती। वह अपने गर्भस्थित शिशु के प्रति इतनी भावप्रवण तथा स्नेहसिक्त होती है कि वह किसी भी कष्ट या दुःख की गणना तक नहीं करती। जब वह अपनी गोद में अपने नवजात शिशु को देख लेती है, तो वह एक अपूर्व आनन्द से ओत-प्रोत हो जाती है। उसका वात्सल्य-स्नेह स्तनों में दूध बन कर तथा आँखों में आनन्द के आँसू बन कर छलक पड़ता है। अब तो उसका क्या पूछना ! उसके आत्मा का प्रतिरूप ही जब उसकी गोद को कृतार्थ कर रहा है तब भला उसे और किस वस्तु की अपेक्षा हो सकती है ? बच्चे के लालन-पालन, खिलाने-पिलाने तथा चूमने-चाटने में वह जिस आनन्द की प्राप्ति कर लेती है, उससे बढ़कर अथवा उसके बराबर आनन्द ही कहाँ मिल सकता है ? उस समय तो बच्चे का हँसना ही उसका हँसना, उसका रोना ही उसका रोना, उसका सुख-दुःख ही उसका (माता का) सुख-दुःख बन गया है। अब शिशु और माता के बीच द्वैत कहाँ ? अब तो सब जगह अद्वैत ही अद्वैत है।

माता तो नौ महीने अपने गर्भ में बच्चे को रखकर तथा उत्पन्न होने पर उसे अपनी गोद में प्रतिष्ठित कर कृतार्थ हो जाती है। पर बेचारे पिता की क्या स्थिति रहती है। वह भी बेचारा कहाँ ? उसका भी आनन्द बच्चे की माता के आनन्द से पृथक् कहाँ ? नौ महीने तक माता गर्भ-धारण के माध्यम से अपने बच्चे से सीधा सम्पर्क बनाये रखती है पर किसी को क्या यह भी पता है कि पिता भी तो भावी बच्चे की माता को देख-देखकर ही न जाने कितनी प्यारी-प्यारी कल्पनाओं का ताना-बाना बुनता हुआ, आनन्द के झूले पर नौ महीने पर्यन्त झूलता है। उत्पत्ति के बाद, सन्तान रूप एक ऐसी कड़ी मिल जाती है, जो माता-पिता दोनों के आनन्द का समान स्रोत होती है। सन्तान की उत्पत्ति पर यदि माता अपने तन-मन को लुटा देती है तो, पिता भी एक कदम आगे बढ़कर, तन-मन के साथ अपना धन भी लुटा देता है। पुत्रोत्सव के समय पिता के हृदय में उमड़ने वाली प्रेमघटा का भी किसी ने आकलन किया है ?

ऐसी स्थिति में यह निर्णय करना कि माता और पिता दोनों में से, वात्सल्य-स्नेह किसमें अधिक होता है, कितना कठिन है। भावसम्राट् महाकवि भवभूति ने इस समस्या का समाधान उत्तररामचरित के तृतीय अंक में कर दिया है। तमसा के साथ वार्तालाप के प्रसंग में, जब सीता अपने दोनों पुत्रों—लव तथा कुश—की स्मृति में, वात्सल्य-भाव से ओत-प्रोत होकर, अपने भावों को व्यक्त करती

हैं, तब तमसा की उक्ति कितनी सार्थक तथा यथार्थ बन प्रतीत होता है। वह कहती है—'इस विषय में क्या कहना ! सन्तान, स्नेह की पराकाष्ठा है और (वह) माता-पिता के परस्पर सम्बन्ध की अनुबन्ध (कड़ी) है'।[1]

अपत्य (सन्तान) की परिभाषा तमसा के ही शब्दों में जान लेना उचित है। वह कहती हैं कि 'पति और पत्नी (दोनों) के हृदय रूपी वस्तु के प्रेम के आश्रय से यह एक आनन्द की गाँठ 'सन्तान' इस नाम से पुकारी जाती है।'[2]

महाकवि भवभूति ने सन्तान को स्नेह की पराकाष्ठा कहकर तथा उसे माता-पिता दोनों के परस्पर सम्वन्ध की कड़ी बताकर, क्या नहीं कह दिया ? सन्तान की इससे अच्छी परिभाषा और क्या हो सकती है, जब वे 'सन्तान' को, पति-पत्नी (अर्थात् शिशु के माता-पिता) के हृदयगत प्रेम से उद्भूत आनन्द की गाँठ कहते हैं। जब सन्तान अपने माता-पिता दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध की कड़ी और दोनों के हृदयानन्द की गाँठ है, तब यह निर्णय करना कहाँ तक उचित है कि अपनी सन्तान को पाकर माता अधिक आनन्दित होती है अथवा पिता ? वास्तविकता यही है कि सन्तान माता-पिता दोनों के लिये आनन्दकर है।

संसार में यदि मानव-जगत् की सन्तान-विषयक इच्छा तथा भाव का एक सर्वेक्षण किया जाय तो, निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि मानवमात्र सन्तान-प्राप्ति के लिये लालायित रहता है और वह सन्तान-प्राप्ति से असीम आनन्द की प्राप्ति करता है। वह अपनी सन्तान के संयोग (उपस्थिति) में एक अपूर्व सुख का तथा उसके वियोग (अनुपस्थिति) में एक असह्य वेदना (पीड़ा) का अनुभव करता है। संसार के इस यथार्थ की काव्य में भी अभिव्यक्ति हुई है। सन्तान-विषयक यह भावस्थिति सार्वभौम है। अतः वह विश्व के समस्त काव्य-मूलक वाङ्मय में वर्णित रूप में देखी जा सकती है।

सन्तान-हीन माता-पिता के हृदय की पीडा कितनी तीव्र होती है, उसका अनुमान सहृदय व्यक्ति ही लगा सकता है। जब सन्तान वाले व्यक्ति भी एक सन्तान के रहते, अन्य सन्तान की कामना रखते हैं, तब सन्तान-हीन मानव की तद्विषयक कामना की क्या बात है ? सन्तान-हीनता की दशा में तो उसके लिये सारा संसार सूना दिखायी देता है, उसका जीवन निष्फल सा हो जाता है, उसकी सारी सम्पत्ति, सारा वैभव व्यर्थ सा प्रतीत होता है। वह सन्तान-प्राप्ति की उत्कट इच्छा के वशीभूत होकर, न जाने कितनी कल्पनायें करता है, कितने सुन्दर भाव संजोता है, न जाने कितनी योजनायें बनाता है। वह अपनी सन्तान की

---

१. उत्तररामचरित, डा० शिवबालक द्विवेदी द्वारा सम्पादित, तृतीय अंक, पृष्ठ २११.
२. वही, ३।१७।

अंग-धूलि से अपने को धूसरित करने के लिये उतावला हो जाता है, वह अपनी सन्तान को गोद में लेकर अपनी गोद को कृतार्थ करना चाहता है। इसी प्रकार के न जाने कितने कोमल-कोमल भावों से अपने हृदय-भण्डार को भर लेता है। सन्तान के अभाव में वह (मानव) अपने पितृ-ऋण को कैसे चुका सकता है और उसके अभाव में उसकी वंश परम्परा कैसे चल पायेगी' यह सोच-सोच कर उसका हृदय विदीर्ण हो जाता है। उसकी वंश परम्परा अव्याहत गति से चलती रहे तथा वह अपने पूर्वजों के ऋण से मुक्त हो सके, इसके लिये उसकी सन्तान-प्राप्ति सम्बन्धी उत्कट इच्छा नितान्त स्वाभाविक है।

सन्तान-प्राप्ति के समय माता-पिता के हृदय में जो आनन्दानुभूति होती है, उसमें तो असंख्य भव्यभावों का प्रादुर्भाव होता है, उसका वास्तविक वर्णन बहुत कठिन है। उन्हें तो सन्तान के रूप में मानो अपना आत्मा ही मिल जाता है, उनका सारा सुख उसी में केन्द्रीभूत हो जाता है, उस सुख के आगे संसार के अन्य सभी सुख नगण्य हो जाते हैं। शिशु का रूप, उसकी चेष्टायें, उसकी क्रीडायें, लीलायें तथा उसके क्रियाकलाप, जब तटस्थ व्यक्ति को भी आनन्दित कर देते हैं, तब भला उसके जनक-जननी को आनन्दित क्यों नही कर सकते ? सन्तान की उत्पत्ति के समय यदि माता का वात्सल्य-प्रेम उसके स्तनों का दूध बनकर छलक जाता है, तो पिता का हृदय मारे उछाह के संसार का सबसे बड़ा भाग्यशाली बन जाता है, सन्तान (विशेषत: पुत्र) अपने पिता को अपनी प्राप्ति के बदले, त्याग (दान) करने को प्रेरित कर देता है। फलस्वरूप पिता अपनी सन्तान की प्राप्ति के समय अपना सर्वस्व लुटा देता है। उसके परित्याग (दान-न्योछावर) का आनन्द प्राप्ति (सन्तान-प्राप्ति) के आनन्द से कुछ भी कम नहीं होता।

अब माता-पिता दोनों, अपने बच्चे की मन्द मुस्कान, उसकी मधुर किलकारी, उसकी तोतली बोली, उसके हाथों का सहारा लेकर पृथिवी पर रेंगने (चलने) आदि को देखने तथा सदा अपनी गोद में बैठाने एवं खेलाने आदि के इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि वे अपनी प्रिय सन्तान को एक क्षण के लिये भी दृष्टि से ओझल नहीं होने देना चाहते। माता-पिता को उनकी सन्तान प्राणों से भी अधिक प्रिय होती है। अतः उसका सान्निध्य मात्र भी उनके (माता-पिता के) लिये आनन्दकर होता है। महाकवि भवभूति ने ठीक ही कहा है कि—

'जो जिसका प्रिय होता है, वह न कुछ करते हुए भी अपनी उपस्थिति (सान्निध्य) से उत्पन्न सुखों द्वारा, अपने प्रेमी के दुःखों को हर लेता है। प्रेमी के लिये उसका प्रियभाजन तो अमूल्य वस्तु होता है।'[1]

---

१. उत्तररामचरित २/१९

सन्तान का संयोग (सान्निध्य) जहाँ माता-पिता के हृदय में आनन्द की सृष्टि करता है, वहीं सन्तान का वियोग उनके हृदय में असह्य पीडा को भी भर देता है। इस प्रकार देखा जाय तो यह कहा जा सकता है कि सन्तान प्राप्ति की इच्छा, उसकी प्राप्ति, उसका संयोग तथा वियोग—सभी कुछ भावमय है। इसी भावात्मक पृष्ठभूमि में संस्कृत के कवियों ने भी शैशव-चित्रण किया है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भास, भवभूति, बाणभट्ट आदि ने अपने-अपने काव्यों में शिशु-जगत् के अनेक भावात्मक चित्रों का अंकन किया है। उनके काव्यों में सन्तान-प्राप्ति की इच्छा, तत्प्राप्ति, प्राप्तिजन्य आनन्द, उसके संयोग में सुख तथा वियोग में दुःख आदि सभी का अत्यन्त हृदयावर्जक चित्रण हुआ है। उन सबका विशद विवेचन आगे के अध्यायों में किया जायेगा।

वात्सल्य रस तथा शैशवचित्रण

जैसा कि पिछले पृष्ठों में बताया जा चुका है कि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य-प्रयोजनों में आनन्द (रस रूप) सबसे मुख्य है। काव्य-प्रयोजनमूर्धन्य 'रस' का, संस्कृतसाहित्यशास्त्र के आचार्यों ने, अपने-अपने अलंकार-शास्त्रीय ग्रन्थों में, विशद विवेचन किया है। वात्सल्य रस के स्वरूप पर विचार करने के पूर्व रस-स्वरूप, रसभेद आदि पर विचार कर लेना अपेक्षित है।

संस्कृत में रस-चिन्तन की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। आचार्य भरत के पूर्व भी अलंकारशास्त्र के आचार्यों ने अलंकार-शास्त्रीय विषयों का विवेचन अथवा चिन्तन किया है। परन्तु अलंकारशास्त्र की स्वस्थ परम्परा के उद्भावक आचार्य भरत हैं। उन्होंने अपने विशालकाय ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य (काव्य) के सभी अंगों, रस, अलंकार, वृत्ति आदि पर विशद प्रकाश डालने के साथ, नाट्य, उसके भेद, नृत्य, नृत्त तथा अभिनय आदि का भी विस्तृत विवेचन किया है। यहाँ यह कह देना अनुचित नहीं है कि 'रस' का सर्वप्रथम विवेचन नाट्य के विवेचन-प्रसंग में ही हुआ है। भरत ने तो अपने नाट्य-शास्त्र में 'रस' को काव्य के क्षेत्र में अति महत्त्व देते हुए कहा है कि 'रस के बिना काव्य का कोई अर्थ (विषय) नहीं प्रवृत्त होता—

'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते'[1]

रस शब्द की व्युत्पत्ति एवम् अर्थ

'रस' शब्द चुरादिगणीय (आस्वादन-स्नेहनयोः) धातु से 'अ' अथवा 'घ' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है। अमरकोष में इस शब्द के नौ अर्थ दिये गये

१. भरतप्रणीतम् नाट्यशास्त्रम् ६/३।

हैं—१. श्रृंगार आदि रस २. विष ३. वीर्य ४. कसाव आदि छः रस ५. राग ६. पिघलना ७. पारा ८. जल ९. स्वाद । संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ में उस 'रस' शब्द के वृक्षसार, तरल पदार्थ (द्रव), जल, मदिरा, स्वाद, प्रेम, हर्ष, आनन्द आदि अनेक अर्थों का उल्लेख है । इस 'रस' शब्द का प्रयोग अति प्राचीन काल से ही होता रहा । उक्त अर्थों में 'आस्वाद' अर्थ भी निहित था । आस्वाद रूप मूल अर्थ आज भी अक्षुण्ण है । 'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः । अर्थात् जिसका आस्वादन किया जाय वह 'रस' है । यह विग्रह भी उसके उसी अर्थ को व्यंजित करता है ।

आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में स्वयं 'रस' शब्द के अर्थ का विवेचन करने का प्रयत्न किया है । उन्होंने स्वयं 'रसः कः पदार्थः' ? 'रस क्या है ? अर्थात् रस का अर्थ क्या है ?' यह प्रश्न उठाकर उसका स्वयं उत्तर दिया है— 'अत्रोच्यते, आस्वाद्यत्वात्' अर्थात् आस्वाद (स्वाद) योग्य होने के कारण 'रस' कहा जाता है । काव्य के क्षेत्र में 'रस' भावजगत् का प्रधान अंग होता है और वह 'आनन्द' का अभिधायक बन गया है । उसे ही (काव्यानन्द को ही) ब्रह्मानन्द सहोदर भी कहा जाता है । वही जैसा कि ऊपर कहा है, काव्य के मुख्य प्रयोजन के रूप में मान्य किया गया है ।

'रस' की निष्पत्ति कैसे होती है, इस विषय पर भी आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में विशद प्रकाश डाला है । उनका प्रसिद्ध रस-सूत्र है—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'[1]

अर्थात् (स्थायी भाव का) विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के साथ संयोग होने पर रस की निष्पत्ति होती है ।

इस रस-सूत्र में आये 'संयोग' तथा 'निष्पत्ति' शब्दों को लेकर आचार्यों में परस्पर मतभेद है । इस सूत्र के चार व्याख्याकार अतिप्रसिद्ध हैं—

१. भट्टलोल्लट
२. शङ्कुक
३. भट्टनायक
४. अभिनवगुप्त

इन चारों आचार्यों ने अपने-अपने मतानुसार भरत के रससूत्र की व्याख्या की है । भट्टलोल्लट मीमांसक मतानुसारी हैं । उनके मत को 'उत्पत्तिवाद' कहते हैं । न्यायमतानुसारी शङ्कुक के मत को 'अनुमितिवाद' कहते हैं । भट्टनायक का मत 'भुक्तिवाद' कहा जाता है । आचार्य अभिनवगुप्त का मत काव्यशास्त्रीय और युक्तिसंगत है । उनके मत की 'अभिव्यक्तिवाद' कहा जाता है ।[2] यहाँ सभी मतों

---

१. भरतनाट्यशास्त्र : अध्याय ६, कारिका ३१ का गद्य भाग
२. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना १९५० ई०

पर विस्तार से विचार न कर काव्यप्रकाशकार मम्मट के अनुसार रस की परिभाषा (रसस्वरूप) प्रस्तुत की जा रही है—

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥
विभावा अनुभावास्तत्कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥[1]

अर्थात् 'लोक में रति आदि चित्तवृत्ति विशेष के जो कारण (ललनादि जनक कारण तथा चन्द्रोदय आदि परिपोषक या उद्दीपन कारण तथा कार्य (रत्यादि जन्य-कायिक, वाचिक तथा मानसिक भेद से अनेक प्रकार के कटाक्ष भुजोत्क्षेप आदि) और सहकारी (रत्यादि के सहायक निर्वेद आदि) भाव हैं, उनका यदि नाट्य तथा काव्य में वर्णन किया जाता है तो, वे (रसज्ञों द्वारा) क्रमशः विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। उन विभावादि के द्वारा अथवा उनके सहित (सहृदयों के हृदय में) व्यंजना द्वारा व्यक्त किया हुआ वह स्थायी भाव (आचार्यों द्वारा) 'रस' कहा जाता है।

उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि लोक में मनुष्य के हृदय में जो रति आदि स्थायी भाव रहते हैं, उनके कारण, कार्य तथा सहकारी होते हैं। जैसे मनुष्य के हृद्गत रति भाव का आलम्बन कारण रमणी तथा उद्दीपन कारण चन्द्रोदय आदि होते हैं। रमणी के कटाक्ष आदि कार्य होते हैं और निर्वेद आदि सहकारी होते हैं। यदि उन्हीं लौकिक कारणों, कार्यों तथा सहकारियों का, काव्य या नाट्य में वर्णन किया जाय तो, कारणों को विभाव, कार्यों को अनुभाव तथा सहकारियों को व्यभिचारी (या संचारी भाव) कहा जाता है। सहृदय व्यक्ति जब काव्य में वर्णित उन्हें पढ़ता है अथवा नाट्य के अभिनय-प्रसंग में उन्हें मंच पर देखता है तो, उसके हृदय का सुप्त 'रति' स्थायी भाव अभिव्यक्त हो जाता है और वही रस (शृङ्गारादि) कहा जाता है।

रस के इस स्वरूप में मुख्य स्थायी भाव है, क्योंकि वही विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के द्वारा व्यंजनावृत्ति से व्यक्त होकर 'रस' कहलाता है। रस के अनेक भेद होते हैं। मम्मट ने भरत की एतद्विषयक कारिका का ही अविकल रूप में उल्लेख किया है।[2] उसके अनुसार रस के आठ भेद हैं—

१. शृंगार २. हास्य ३. करुण ४. रौद्र ५. वीर ६. भयानक ७. बीभत्स ८. अद्भुत।

---

१. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, कारिका २७ तथा २८।
२. वही, च०उ० कारिका २९।

इन आठों रसों के स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव पृथक्-पृथक् होते हैं। सम्प्रति इन सभी के स्वरूप पर अति संक्षेप में प्रकाश डाल-कर विभिन्न रसों के स्थायी भाव आदि का उल्लेख कर देना समीचीन है।

स्थायी भाव

रति आदि को स्थायी भाव इसलिये कहा जाता है, क्योंकि सहृदय के हृदय में वे वासनारूप से सदा अवस्थित रहते हैं और काव्य-नाट्य आदि के पठन-दर्शन से विभाव-अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के साथ सम्पृक्त होकर रस-दशा को प्राप्त हो जाते हैं। इनकी संख्या आठ मानी जाती है—

१. रति २. हास ३. शोक ४. क्रोध ५. उत्साह ६. भय ७. घृणा तथा ८. विस्मय।

विभाव

जो भाव, रत्यादि स्थायी भावों का विभावन (आस्वाद के योग्य बनाने का कार्य) करते हैं, ये विभाव कहलाते हैं—

रत्यादीन् स्थायिनः विभावयन्ति आस्वादयोग्यतां नयन्तीति विभावाः।[1]

यह दो प्रकार का है—१. आलम्बन २. उद्दीपन।

अनुभाव

जो भाव रत्यादि स्थायी भावों का अनुभावन करते हैं अर्थात् उन्हें अनुभव का विषय बनाते हैं, उन्हें 'अनुभाव' कहते हैं—

'रत्यादीन् स्थायिनः अनुभावयन्ति विषयीकुर्वन्तीति अनुभावाः।'[2]

व्यभिचारी भाव

जो भाव, रत्यादि स्थायी भावों को शरीर में संचारित करते हैं अथवा स्थायी भावों को बार-बार अभिव्यक्त करते हैं वे व्यभिचारी कहलाते हैं—

'रत्यादीन् स्थायिनः काये धारयन्ति संचारयन्ति मुहुर्मुहुरभिव्यंजयन्तीति वा व्यभिचारिणः।'[3]

व्यभिचारी भावों की संख्या तैंतीस मानी जाती है।[4]

प्रस्तुत प्रसंग में इन आठों रसों के स्थायी भाव आदि का संक्षेप में उल्लेख कर देना प्रासंगिक है।

१. श्रृंगार रस

स्थायी भाव—'रति', आलम्बन विभाव—कान्ता आदि, उद्दीपन विभाव—स्रक्चन्दन आदि, अनुभाव—कटाक्ष आदि।[5] संचारीभाव—व्रीडा (लज्जा) आदि।

---

१. का०प्र०, पूना संस्करण, टीका पृ० ८६ २. वही, पृ० ८६

३. वही पृष्ठ ८६ ४. काव्यप्रकाश, च० उ० सूत्र ४६ ५. वही पृष्ठ ९८ टीका

इसके दो भेद होते हैं—१. सम्भोग २. विप्रलम्भ। धनंजय के अनुसार तीन भेद होते हैं—१ अयोग २. विप्रयोग ३. संभोग।[1]

२. हास्य

स्थायी भाव—हास, आलम्बन विभाव—विकृत आकृति, वाणी, वेष आदि, उद्दीपन विभाव—विकृत व्यक्ति की चेष्टा आदि, अनुभाव—नेत्रों का मुकुलित होना तथा कपोल आदि का विकसित हो जाना आदि, व्यभिचारी भाव—श्रम आदि।

३. करुण रस

स्थायी भाव—शोक, आलम्बन विभाव—मृत व्यक्ति आदि, उद्दीपन विभाव—मृत व्यक्ति के गुण, उसके दाहकर्म आदि, अनुभाव—रोदन, प्रलाप, उच्छ्वास आदि तथा व्यभिचारी भाव—दैन्य, ग्लानि, चिन्ता आदि।

४. रौद्ररस

स्थायी भाव—क्रोध, आलम्बन विभाव—शत्रु आदि, उद्दीपन विभाव—शत्रुकृत अपकार तथा उसकी चेष्टायें आदि, अनुभाव—विकत्थन, भृकुटिभंग, ओठ चबाना आदि तथा व्यभिचारी भाव—गर्व, आक्षेप आदि।

५ वीर रस

स्थायी भाव—उत्साह, आलम्बन विभाव—जीतने योग्य शत्रु, विद्वान, दीन आदि, उद्दीपन विभाव—शत्रु आदि कृत अपकार, विद्वज्जन के गुण तथा दीन की दीनता आदि, अनुभाव—शत्रु प्रतीकार, दान आदि, उद्दीपन विभाव—हर्ष, आवेग तथा चिन्ता आदि।

६. भयानक रस

स्थायी भाव—भय, आलम्बन विभाव—विकट (भयंकर) सिंह आदि, उद्दीपन विभाव—भयंकर कर्म—चेष्टा आदि, अनुभाव-पलायन आदि, व्यभिचारी भाव—जड़ता आदि।

७. बीभत्स रस

स्थायी भाव—जुगुप्सा (घृणा), आलम्बन विभाव—विट्-मूत्र आदि घृणित वस्तु, उद्दीपन विभाव—दुर्गन्ध आदि, अनुभाव—निष्ठीवन (थूकना), मूत्रादि विसर्जन आदि, व्यभिचारी भाव—ग्लानि आदि।

---

१. डॉ० राजदेव मिश्र : संस्कृत रूपकों के नायक : पृष्ठ १४९।

अद्‌भुत रस

स्थायी भाव--विस्मय, आलम्बन विभाव--विस्मयजनक कर्म-कर्त्ता आदि, उद्दीपन विभाव--आश्चर्यजनक कर्म आदि, अनुभाव--चकित होना, रोमांच आदि, व्यभिचारी भाव--हर्ष, वितर्क आदि ।[1]

उक्त आठ रसों के अतिरिक्त, काव्यशास्त्र में अन्य रसों की भी चर्चा तथा विवेचना की गयी है। उनमें 'शान्त रस' एक ऐसा रस है, जिसे अनेक आचार्यों ने मान्यता दी है। यद्यपि भरत ने उक्त आठ ही रसों को मान्य किया था किन्तु आचार्य मम्मट ने यह तर्क देकर कि 'तैंतीस व्यभिचारी भावों के आदि में, अमंगल होते हुए भी, जो 'निर्वेद' को सर्व प्रथम रखा है, उसका यही अभिप्राय है कि वह भी स्थायी भाव है। काव्य में उसके आधार पर 'शान्त रस' को मान्य किया गया है।[2] शान्त रस के स्थायी भाव आदि निम्नांकित हैं—

शान्त रस

स्थायी भाव—निर्वेद अथवा शम, आलम्बन विभाव—संसार की असारता का ज्ञान आदि, उद्दीपन विभाव—सज्जन-संगति, पुण्याश्रम आदि, अनुभाव—रोमांच आदि, व्यभिचारी भाव—हर्ष, स्मरण आदि।

मम्मट के अतिरिक्त उद्‌भट, रुद्रट एवं रुद्रभट्ट आदि ने भी इस रस को मान्यता दी है। दशरूपककार ने यह कह कर इसका खण्डन किया है कि नाट्य में 'शम' भाव की पुष्टि नहीं हो सकती।

उक्त नौ रसों के अतिरिक्त कई और रस यत्र-कुत्रचित् चर्चित हैं। उनकी चर्चा अनभिप्रेत है। मात्र दो रसों 'भक्तिरस' और 'वात्सल्य रस' पर कुछ कहना अपेक्षित है। इन दोनों में भी 'वात्सल्य रस' प्रसंगानुकूल है। पहले भक्ति रस के विषय में कुछ कहकर, तदनन्तर वात्सल्य रस पर विशद प्रकाश डाला जायेगा।

भक्ति रस

धनंजय, अभिनवगुप्त, हेमचन्द्र, रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भक्ति रस का खण्डन किया है। मम्मट तथा विश्वनाथ ने देवादिविषया रति को 'भाव' ही माना है, रस नहीं। भानुदत्त ने तथा तदनन्तर रूपगोस्वामी ने इस रस को मान्यता दी है। इन आचार्यों के अतिरिक्त मधुसूदन सरस्वती ने इसे वास्तविक रस माना

---

१. (क) काव्यप्रकाश: चतुर्थ उल्लास टीका, पृष्ठ ९८-९९ भण्डारकर संस्करण।
(ख) संस्कृत रूपकों के नायक, पृ० १०८-१५३ तक (ग) भवभूति के नाटकों में ध्वनितत्त्व।

२. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, सूत्र ४७।

है। रूपगोस्वामी ने तो 'भक्ति रस' को मूल (प्रधान) रस के रूप में मान्यता प्रदान की है।[1]

भक्ति रस का स्थायी भाव—भक्ति (भवदाकारता) है, आलम्बन विभाव--प्रभु (ईश्वर) हैं, उद्दीपन बिभाव--तुलसी, चन्दन, पूजा आदि तथा अनुभाव--आनन्दाश्रु तथा नेत्रविकार आदि है।[2]

अब वात्सल्य रस का विवेचन प्रसंगप्राप्त है।

वात्सल्य रस

'वत्स' तथा 'वत्सल' शब्द की व्युत्पत्ति तथा अर्थ

अमरकोष की रामाश्रमी टीका के कर्त्ता ने भ्वादिगणी परस्मैपदी 'वद' व्यक्तायां वाचि अथवा 'वद' स्थैर्ये धातु से औणादिक सूत्र 'वृतृवदिहनिकमिकषिभ्यः' से 'स' प्रत्यय लगाकर 'वत्स' शब्द को व्युत्पन्न माना है।[3] उन्होंने जो 'बद' स्थैर्ये धातु का उल्लेख किया है, वह चिन्त्य है। नपुंसक लिङ्ग में 'वत्स' शब्द कक्षः-स्थल का वाचक होता है।[4] पुल्लिग में बह (वत्स शब्द) कई अर्थों का वाचक होता है। अमरकोषकार ने एक स्थान पर 'वत्स' के गौ का छोटा बछड़ा तथा 'वर्ष' ये दो अर्थ माने हैं—

'वत्सौ तर्णकवर्षौ द्वौ'।[5]

मेदिनीकोष में 'वत्स' के पुत्रादि, वर्ष (वत्सर) तथा बछड़ा--इन तीन अर्थों के साथ उरः (वक्षःस्थल) अर्थ भी दिया गया है, पर उरः के अर्थ में वह नपुंसक लिंग होता है—

'वत्सः पुत्रादिवर्षयोः ॥ तर्णके नोरसि क्लीबम्'[6]

संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ में वत्स शब्द के बछड़ा, किसी भी जानवर का बच्चा, पुत्र, सन्तान तथा वर्ष आदि अर्थ माने गये हैं।[7]

उक्त कोष-ग्रन्थों के विवरण के आधार पर यह कहना सुगम है कि 'वत्स' शब्द के प्रतिपादित अर्थों में पुत्र, सन्तान आदि अर्थ भी परिगणित है।

---

१. डा० रमाशंकर तिवारी : रसचिन्तन : परम्परा और परिप्रेक्ष्य पृ० २१७-२१८।
२. डॉ० राजदेव मिश्र : संस्कृत रूपकों के नायक, पृ० १५५।
३. अमरकोष, रामाश्रमी टीका, पृ० २९५ एवं ४२९ चौखम्भा संस्करण १९७०।
४. वही पृष्ठ २९५
५. वही पृष्ठ ६१९।
६. मेदिनीकोष—१७०/११-१२
७. वही पृष्ठ १०-१२।

इसी (पुत्र-सन्तान-छोटा बच्चा आदि अर्थों के वाचक) 'वत्स' शब्द से मत्वर्थीय 'वत्सांसाभ्यां कामबले'[१] सूत्र से 'कामवति' (स्नेहयुक्त) अर्थ में 'लच्' प्रत्यय संलग्न होकर 'वत्सल' शब्द निष्पन्न होता है और उसका अर्थ होता है—

'वत्से पुत्रादिस्नेहपात्रेऽभिलाषोऽस्यास्ति'

'वत्स' में (अर्थात्) पुत्र आदि स्नेह पात्र में, इच्छा रखने वाला। संक्षेपतः कहा जा सकता है कि पुत्रादि सन्तानों में स्नेह (प्रेम) करने वाले को 'वत्सल' कहा जाता है।

'वात्सल्य' शब्द की व्युत्पत्ति तथा अर्थ

उक्त वत्सल शब्द से भाव में 'ष्यञ्' प्रत्यय लगा कर 'वात्सल्य' शब्द बनता है, जिसका अर्थ छोटे के प्रति 'स्नेह' होता है।[२]

'वत्स', 'वत्सल' तथा 'वात्सल्य' की व्युत्पत्ति तथा अर्थ पर प्रकाश डालने के पश्चात् अब 'वत्सल' अथवा 'वात्सल्य' रस के विषव में विचार कर लेना समीचीन है।

वत्सल अथवा वात्सल्य रस

वत्सल रस के विषय में आचार्यों में मतभेद है। आचार्य विश्वनाथ ने अपने 'साहित्यदर्पण' नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ में उसका सम्यक् विचार किया है। अतः सर्वप्रथम उनके अनुसार वत्सल (वात्सल्य) रस की मीमांसा करके तदनुसार अन्य लोगों के तद्विषयक मत का उल्लेख करना ठीक होगा। आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद में वत्सल (वात्सल्य) रस का निम्नांकित रूप से विवेचन किया है—

अथ मुनीन्द्रसम्मतो वत्सलः—
स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलता स्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्।
उद्दीपनानि तच्चेष्टाविद्याशौर्यादयादयः।
आलिङ्गनाङ्गसंस्पर्शशिरश्चुम्बनमीक्षणम्।
पुलकानन्दबाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः।
संचारिणोऽनिष्टशङ्का हर्षगर्वादयो मताः।
पद्मगर्भच्छविर्वर्णो दैवतं लोकमातरः।[३]

---

१. सिद्धान्तकौमुदी—निर्णय सागर प्रेस संस्करण १९४२, पृष्ठ ३०४

२. संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ, पृ० १०३७।

३. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, पृष्ठ २३५।

अर्थात् 'अब मुनीन्द्र (भरत)—सम्मत वत्सल (का वर्णन किया जा रहा है)—

'चमत्कार जनक के रूप में स्फुट (स्पष्ट) वत्सल को (विद्वान् लोग) रस मानते हैं। उसका स्थायी (भाव) वत्सलता—स्नेह, (वात्सल्य-स्नेह) पुत्र (पौत्र) आदि आलम्बन (विभाव) माने गये हैं। पुत्र आदि की चेष्टा उनमें विद्या एवं शौर्य आदि का उदय आदि (उसके) उद्दीपन तथा उसके (पुत्रादि के) आलिंगन, अंगस्पर्श, शिरश्चुम्बन, दर्शन, पुलक तथा आनन्दाश्रु आदि अनुभाव कहे जाते हैं, अनिष्ट शंका, हर्ष एवं गर्व आदि को संचारी भाना जाता है। उसका (वात्सल्य रस का) वर्ण कमल के मध्य की छवि तथा उसकी देवता लोक मातायें हैं।'

वत्सल की उक्त परिभाषा के आधार पर उसके स्थायी भाव आदि का विवरण निम्नांकित हैं—

स्थायी भाव—वत्सलता (वात्सल्य)—स्नेह।
आलम्बन विभाव—पुत्र (पुत्री) आदि।
उद्दीपन विभाव—पुत्र-पुत्री आदि छोटे बच्चों की बालसुलभ चेष्टा तथा उनके द्वारा विद्या शौर्य आदि प्राप्ति।
अनुभाव—पुत्र आदि का आलिंगन, अंगस्पर्श, सिर का चुम्बन, उन्हें देखना, पुलक (रोमांच) तथा आनन्द के आँसू आदि।
सञ्चारी (व्यभिचारी) भाव —(पुत्रादि की) अनिष्ट की शंका, हर्ष एवं गर्व आदि।
रंग—कमल के मध्य की छवि।
देवता—देवमातायें।

आचार्य विश्वनाथ ने वत्सल (वात्सल्य) रस के उदाहरण के रूप में रघुवंश के निम्नांकित पद्य को उद्धृत किया है—

यदाह धात्रा प्रथमोदितं वचो,
ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलीम्।
अभूत नम्रः प्रणिपातशिक्षया
पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः॥[1]

(वे बालक रघु) धात्री के द्वारा पहले कहे गये ('तात' आदि) बचन का उच्चारण करने लगे, उसकी अंगुली की सहायता लेकर चलने लगे तथा प्रणाम करने की शिक्षा से बड़ों के समक्ष नम्र होने लगे—इस प्रकार वे (अपने) पिता के हर्ष को बढ़ाने लगे।

---

१. रघुवंशमहाकाव्य ३/२५

इसमें दिलीप के नवजात शिशु 'रघु' की बाल-लीला का वर्णन है। इसमें दिलीप का वत्सलतास्नेह (वात्सल्य-स्नेह) स्थायी भाव, बालक रघु आलम्बन विभाव, रघु के उक्त वचन एवं गमन आदि उद्दीपन विभाव, आलिङ्गन आदि अनुभाव तथा हर्ष आदि संचारी (व्यभिचारी) भाव हैं।

इस प्रकार यह वत्सल (वात्सल्य) रस का उदाहरण है। वत्सल या वात्सल्य रस के प्रसंग में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि संस्कृत-साहित्य में इस रस को भी अपूर्व स्थान मिला है। वाल्मीकि-रामायण, महाभारत, श्रीमद्-भागवत, कालिदास, भास, भवभूति, बाणभट्ट आदि महाकवियों की रचनाओं में, एक से एक बढ़कर वात्सल्य रस सम्बन्धी चित्र चित्रित किये गये हैं। उन सभी चित्रों का विवेचन शोध-प्रबन्ध के आगे के अध्यायों में किया जायेगा। उन सभी चित्रों को यहाँ चित्रित करना अभीष्ट नहीं है। पर इतना कहना अभीष्ट है कि संस्कृत के काव्यों में कुछ स्थलों को छोड़कर बालक की क्रीडा चेष्टा, लीला आदि के प्रसंग अपेक्षाकृत कम हैं, पर वात्सल्य-रस के लिये विशेष स्थान है। वात्सल्य रस के संयोग एवं वियोग दोनों पक्षों को, संस्कृत के काव्यों में, महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। पुत्र, पुत्री आदि जब आयु में कुछ बड़े हो जाते हैं, तब भी उनके प्रति माता-पिता के कोमल हृदय की भाव-प्रवणता में कोई कमी दृष्टिगोचर नहीं होती।

इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही आचार्य विश्वनाथ ने बालकों (पुत्र-पौत्र आदि) के विद्याग्रहण एवं शौर्य-प्राप्ति को इस रस के उद्दीपन विभाव की कोटि में रखा है।

वात्सल्य रस के संयोग पक्ष की तुलना में, उसके वियोग पक्ष का महत्त्व भी कम नहीं है। सन्तानाभाव से व्यथित माता-पिता के हृदय में उनकी प्राप्ति की उत्कट इच्छा तथा उनके हृदय में अपनी सन्तान के प्रति उठने वाली नाना प्रकार की कल्पनाएँ भी माता-पिता के लिये कम आनन्द-प्रद नहीं होती। वे वर्णित होकर काव्य-पाठक के हृदय में आनन्द का जनन करती है। ऐसे प्रसंगों को वात्सल्य-रस के अतिरिक्त अन्यत्र कहाँ रखा जायेगा? रघुवंश के दिलीप, कादम्बरी के तारापीड आदि की सन्तान (पुत्र) प्राप्ति विषयक कल्पना इसी कोटि में आती है। इसी प्रकार संस्कृत-काव्यों में वात्सल्य के वियोग पक्ष का समुद्घाटन भी अच्छी प्रकार हुआ है। इस पक्ष के सम्यक् दर्शन के लिए वाल्मीकि रामायण के वनवास, उत्तररामचरित के सीता-निर्वासन आदि से सम्बद्ध उन प्रसंगों को देखा जा सकता है जहाँ पुत्र राम के वियोग में दशरथ-कौशल्या तथा लव-कुश के वियोग में सीता का वात्सल्यपूर्ण हृदय आहत होता है।

अब थोड़ा उन आचार्यों के मत का उल्लेख कर देना प्रासंगिक है जो किन्हीं कारणों से वात्सल्यरस को रसरूप में स्वीकार नहीं करते अथवा उसको भावादि के अन्तर्गत ही प्रतिष्ठित करते हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त नाट्य-शास्त्र के छठे अध्याय की अभिनवभारती में कहते हैं कि 'आर्द्रता नामक स्थायी भाव वाला स्नेह रस है, ऐसा किसी का कहना असत् है। स्नेह का अर्थ अभिषंग (चारों ओर से आसक्ति) है, वह रति एवं उत्साह आदि (भावों) में समाप्त हो जाता है, जैसे बालक का, माता एवं पिता आदि के स्नेह की भय में विश्रान्ति हो जाती है। युवकों का (प्रेम) अपने प्रेमी एवं प्रेयसी की रति में विश्रान्त हो जाता है।) भाई का भाई में स्नेह धर्ममय हो जाता है, अतः उसकी धर्म में विश्रान्ति हो जाती है। इसी प्रकार वृद्धों के पुत्र आदि के ऊपर होने वाले प्रेम को भी समझना चाहिए।'[1]

उक्त कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अभिनवगुप्त वात्सल्य रस को मानने के लिये तैयार नहीं हैं।

रूपगोस्वामी ने, भक्तिरस के पाँच भेद मानकर, उनके अन्तर्गत वत्सल-भक्तिरस नाम से उसे भक्ति-रस का भेद माना है।[2]

आचार्य भोज ने 'वत्सल' रस के माने जाने का कथन किया है। भानुदत्त ने नौ रस के अतिरिक्त लौल्य, भक्ति आदि के साथ 'वात्सल्य' का भी उल्लेख किया है।[3]

उपर्युक्त दृष्टि से यदि वात्सल्य रस के स्वरूप का आकलन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके (वात्सल्यरस के) स्थायी भाव-वात्सल्य स्नेह, आलम्बन विभाव--सन्तान, उद्दीपन विभाव--बालचेष्टा, आदि, अनुभाव--सन्तान के अंगस्पर्श, चुम्बन आदि एवं सञ्चारी भाव--हर्ष शंका आदि सभी में शिशु जगत् की महती पृष्ठभूमि है। अतः वात्सल्य रस से शैशवचित्रण का अटूट सम्बन्ध हो जाता है।

---

१. नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय, अभिनवभारती—'आर्द्रतास्थायिकपुत्रादाविति द्रष्टव्यम्।' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रकाशन, पृष्ठ ७८।

२. श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु, पश्चिमविभाग, चतुर्थ लहरी, प्रथम कारिका।

३. डा० रमाशंकर तिवारी लिखित रसचिन्तन: परम्परा और परिप्रेक्ष्य: पृष्ठ २१९।

द्वितीय अध्याय

उपजीव्य काव्यों में शैशव-चित्रण

- वाल्मीकीय रामायण में शैशव-चित्रण
- महाभारत में शैशव-चित्रण
- श्रीमद्भागवत में शैशव-चित्रण

उपजीव्य काव्यों में शैशव-चित्रण

उपजीव्य काव्यों की स्थिति

किसी भी भाषा के साहित्य में कुछ ऐसी उत्कृष्ट तथा महत्त्वपूर्ण रचनायें होती हैं, जो अपनी महनीयता के कारण साहित्य में प्रशंसनीय स्थान बना लेती हैं। ऐसी रचनाओं की लोकप्रियता के कारण उत्तरवर्ती कविगण उनकी कथावस्तु आदि के आधार पर अपने काव्यों का विधान करते हैं। ऐसा करने में कवियों को एक सुविधा यह भी प्राप्त होती है कि उनकी काव्य की कथावस्तु से पाठक सहजतः परिचित हो जाता है। अनुकरणीय रचनाओं की लोकप्रियता का लाभ उसे भी प्राप्त हो जाता है। दूसरी बात यह भी है कि अनुकरणीय काव्यों में ऐसे आदर्श चरित्र चित्रित होते हैं, जिनके प्रति जनता के हृदय में अपूर्व श्रद्धा और प्रेम का स्थान होता है। यदि हम संस्कृत-साहित्य का सम्यक् विवेचन करें तो पायेंगे कि संस्कृत में ऐसी काव्यात्मक रचनाएँ हैं, जिनका आश्रय कर परवर्ती काल में अनेक काव्यों, नाटकों तथा चम्पू-काव्यों की रचनायें हुयी हैं। ऐसे आदर्शभूत काव्यों को आचार्य बलदेव उपाध्याय आदि विद्वान् 'उपजीव्य काव्य' कहते हैं।[1]

ऐसे उपजीव्य काव्यों को दृष्टि में रखकर यदि विचार किया जाय तो; संस्कृत के अधोलिखित तीन ग्रन्थ निस्सन्देह उक्त श्रेणी में आते हैं—

१–वाल्मीकीय रामायण २–महाभारत ३–श्रीमद्भागवत महापुराण।

उक्त तीनों ग्रन्थों के अतिरिक्त उपजीव्य काव्य के रूप में बृहत्कथा, पद्म-पुराण आदि ग्रन्थों को भी परिगणित किया जा सकता है, परन्तु अमित प्रभाव तथा लोकप्रियता की दृष्टि से उक्त तीनों ग्रन्थ नितान्त महत्त्वशाली हैं। उक्त तीनों में भी वाल्मीकीय रामायण अत्यधिक लोकप्रिय है। उक्त तीनों ग्रन्थों के परवर्ती साहित्य का अवलोकन करने से उनकी उपजीव्यता स्पष्ट हो जाती है। रामायण की कथा को लेकर कालिदास के रघुवंश, कुमारदास के जानकी-हरण तथा भट्टिकवि के भट्टिकाव्य (रावणवध) आदि महाकाव्यों की रचनायें

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्यायः संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ–६० (संस्करण १९६८)

हुयी हैं। उसी को आधारित कर प्रसन्नराघव, अनर्घराघव, आश्चर्यचूडामणि, उत्तररामचरित, प्रतिमानाटक तथा अभिषेक आदि नाटकों की रचनायें हुयी हैं। इसी प्रकार चम्पू रामायण आदि चम्पू-काव्य भी रामायणकथाश्रित हैं। महाभारत की कथावस्तु को लेकर किरातार्जुनीय, शिशुपालवध तथा नैषधीयचरित प्रभृति महाकाव्यों, अभिज्ञानशाकुन्तल, पंचरात्र, मध्यमव्यायोग, दूतघटोत्कच, वेणीसंहार आदि नाटकों तथा चम्पूभारत, नलचम्पू प्रभृति चम्पूकाव्यों की रचनायें हुयी हैं। इसी प्रकार संस्कृत-साहित्य के कृष्णकाव्यों गीतगोविन्द, यादवाभ्युदय तथा बालचरित आदि की रचना श्रीमद्भागवत को आधार बनाकर की गयी है।

वाल्मीकीय रामायण में शैशव-चित्रण

वाल्मीकि का जीवनवृत्त

महर्षि वाल्मीकि के बारे में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। इसलिये उनके जीवनवृत्त के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना बहुत कठिन है। वाल्मीकि ने अपने को प्रचेता का पुत्र बतलाया है। ऐसी धारणा है कि वे राम के समकालिक थे। एक किंवदन्ती का उल्लेख कर देना आवश्यक है, क्योंकि वह बहुत लोक-प्रचलित है। वह यह कि वाल्मीकि पहले कवि नहीं थे। एक बार कहीं जाते समय, उनके मार्ग में एक विलखता हुआ क्रौंच पक्षी मिल गया, जो व्याध द्वारा बाण से मारे गये अपने चिर-सहयोगी के वियोग में तड़प रहा था। उसके शोक को देखकर वाल्मीकि का हृदय द्रवीभूत हो गया। उनके हृदय का शोक इतना तीव्र था कि हृदय के भीतर वह रोका न जा सका, परिणाम-स्वरूप उनका शोक श्लोक के रूप में मुखरित हो गया—

> मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
> यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

उसी क्षण से वाल्मीकि को 'आदिकवि' तथा इस श्लोक को 'आदि कविता' की पदवी मिल गयी।

रामायण

वाल्मीकि कृत 'रामायण' रामकथा पर आश्रित है। इसमें मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम का विशद तथा व्यापक चरित्र वर्णित है। रामायण में कुल सात काण्ड हैं—(१) बालकाण्ड (२) अयोध्याकाण्ड (३) अरण्यकाण्ड (४) किष्किन्धाकाण्ड (५) सुन्दरकाण्ड (६) युद्धकाण्ड तथा (७) उत्तरकाण्ड।

विण्टरनित्स जैसे पाश्चात्य विद्वान् प्रथम काण्ड तथा सप्तम काण्ड को बाद में जोड़ा गया मानते हैं, परन्तु वरदाचार्य जैसे विद्वान् उक्त सातों काण्डों को

मौलिक मानते हैं। रामायण में श्लोकों की संख्या २४,००० है। इसीलिये उसे 'चतुर्विंशतिसाहस्री संहिता' भी कहते हैं। इस ग्रन्थ में पूरी रामकथा वर्णित है, परन्तु उसके साथ अन्य विषय भी वर्णित हैं। रामायण के कई संस्करण हुये हैं, जिनमें चार संस्करण---बम्बई, बंगला, कश्मीरी तथा दाक्षिणात्य संस्करण प्रसिद्ध हैं। रामायण के रचनाकाल के विषय में भी बहुत मतभेद हैं। अनेक विद्वान् ५०० ई० पूर्व के पहले उसकी स्थिति मानते हैं।

रामायण एक अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि का महाकाव्य है। उसमें प्रधान रस करुण के साथ अन्य रसों का भी परिपाक हुआ है। उसमें अलंकार-योजना अपने स्वाभाविक रूप में दृष्टिगोचर होती है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा एवं अनुप्रास की छटा वर्णनातीत है। प्रकृति-चित्रण का तो रामायण भाण्डागार ही है। वन-उपवन, पर्वत, सरिता, आश्रम के वर्णनों के साथ, ऋतुओं तथा चन्द्रोदय आदि के वर्णन नितान्त रमणीय हैं।

जहाँ तक आदर्श चरित्र के चित्रण का प्रश्न है, वह रामायण में अपने भव्य-रूप में विलसित है। दशरथ, राम, लक्ष्मण, भरत, कौसल्या, सीता, सुमित्रा, हनुमान् प्रभृति उदात्त और आदर्श चरित्रों के चित्रण से रामायण चरित्रों का भव्य आगार बन गया है। यही कारण है कि सम्पूर्ण संस्कृत-वाङ्मय में रामायण जैसा लोकप्रिय ग्रन्थ दुर्लभ है—

यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद् रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति॥

सम्प्रति शैशव चित्रण तथा शिशु सम्बन्धी वात्सल्य रस की दृष्टि से वाल्मीकीय रामायण का मूल्याङ्कन अपेक्षित है।

भारतीय महर्षियों द्वारा तीन ऋणों की परिकल्पना की गयी है, जिनसे मुक्ति का विधान नितान्त वाञ्छनीय है—पितृ-ऋण, देव-ऋण तथा ऋषि-ऋण। पितृ-ऋण को सन्तान (पुत्र) की उत्पत्ति द्वारा चुकता किया जा सकता है। पितृ-तर्पण के बिना पितरों की वृद्धि नहीं हो सकती। पितृतर्पण तभी तक हो सकता है जब तक वंश-परम्परा चलती रहे। पुत्र के अभाव में तिलाञ्जलि आदि नहीं दी जा सकती। देव-ऋण से मुक्ति, यज्ञादि के विधान से हो सकती है। ऋषि-ऋण से मुक्ति स्वाध्याय आदि (अध्ययन-अध्यापन-ज्ञानार्जन आदि) के द्वारा ही सम्भव है।

सन्तानहीनता विशेषतः पुत्र-हीनता के कारण मनुष्य को अतीव कष्ट का कारण मनोवैज्ञानिक (भावात्मक) तथा व्यावहारिक दोनों होता है। अपनी सन्तान से मनुष्य ही क्या, प्राणिमात्र को, सहज सुख (आनन्द) होता है। मनुष्य अपनी सन्तात को अकारण ही अपना वात्सल्य-स्नेह देकर अपार आनन्द की

प्राप्ति करता है। भवभूति ने तो सन्तति को एक ऐसा सूत्र (धागा) बताया है जो अपने माता-पिता को एक बन्धन से बाँध देता है।[1] ऐसे सुख का कारण वैज्ञानिक तथा भावात्मक है। ऐसा सुख सन्तान (पुत्र) की प्राप्ति से ही हो सकता है। सन्तान (पुत्र) के अभाव में उक्त सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। सन्तानाभाव (विशेषतः पुत्राभाव) से होने वाले कष्ट का व्यावहारिक कारण वंश-परम्परा का मूलच्छेद है। सन्तानाभाव की स्थिति में पितृ-ऋण से मुक्ति नहीं मिल सकती।

राजा दशरथ की कोई सन्तान नहीं थी। अतः वे उक्त दोनों कारणों से दुःखी थे। न तो उनके पुत्रवात्सल्य की तृप्ति हो सकती थी और न ही उन्हें पितृ-ऋण से मुक्ति ही मिल सकती थी। रामायण के बालकाण्ड के आठवें सर्ग के प्रारम्भ में, सन्तानाभाव (पुत्राभाव) से होने वाली उनकी चिन्ता का चित्रण निम्नांकित रूप से हुआ है—

तस्य चैवं प्रभावस्य धर्मज्ञस्य महात्मनः।
सुतार्थं तप्यमानस्य नासीत् वंशकरः सुतः॥[2]

'सम्पूर्ण धर्मों को जानने वाले महामना राजा दशरथ, ऐसे प्रभावशाली होते हुये भी, पुत्र के लिये सदा चिन्तित रहते थे, क्योंकि उनके वंश को चलाने वाला कोई पुत्र नहीं था।'

उनके मन में ऐसा विचार उठा कि पुत्र-प्राप्ति के लिये एक यज्ञ का विधान किया जाय। परामर्श के लिये उन्होंने सुयज्ञ, वामदेव, जाबालि, कुलपुरोहित वसिष्ठ आदि को बुलाया। उनका सम्मान करके उन्होंने उनके समक्ष अपना विचार रखा।[3] ब्राह्मणों के समक्ष राजा दशरथ का यह कथन कितना मार्मिक है—

मम लालप्यमानस्य सुतार्थं नापि वै सुखम्।
तदर्थं हयमेधेन यक्ष्यामीति मतिर्मम॥[4]

'महर्षियों! मैं सदा पुत्र के लिये विलाप करता रहता हूँ। उसके बिना इस राज्य आदि से मुझे सुख नहीं मिलता। अतः मैंने पुत्र-प्राप्ति के लिये अश्वमेध यज्ञ करने का विचार किया है।'

राजा दशरथ के उक्त कथन से उनकी मार्मिक वेदना का अनुमान लगाया जा सकता है। उनके पास सांसारिक वैभव, सुख-सुविधा किसी की भी कमी नहीं थी, परन्तु पुत्र रूप सम्पत्ति के अभाव में सदा उनका हृदय तड़पता रहता था।

---

१. उत्तररामचरित
२. वाल्मीकीयरामायण : गीताप्रेस संस्करण, बालकाण्ड, सर्ग ८, श्लोक–१
३. वही, अष्टम सर्ग, श्लोक २-७ ४. वही, अष्टम सर्ग, श्लोक–८

ब्राह्मणों ने जब दशरथ के प्रस्ताव का अनुमोदन करके उन्हें यह आश्वासन दे दिया कि 'उन्हें उनकी इच्छा के अनुरूप पुत्र की प्राप्ति होगी' तो वे बहुत सन्तुष्ट हुये।[१] सबके सहयोग के यज्ञ सम्पन्न हुआ और पुत्रोत्पत्ति की प्रतीक्षा में वे सुख-पूर्वक रहने लगे। यज्ञ समाप्ति के बाद जब छः ऋतुयें बीत गयीं, तब बारहवें मास में चैत्र शुक्ल पक्ष की नवमी तिथि को पुनर्वसु नक्षत्र एवं कर्क लग्न में कौशल्या ने दिव्य लक्षणों से युक्त सर्वलोकवन्दित जगदीश्वर श्रीराम को जन्म दिया। उस समय सूर्य, मंगल, शनि, गुरु तथा शुक्र, ये पाँच ग्रह अपने-अपने उच्च स्थान में विराजमान थे तथा लग्न में चन्द्रमा के साथ बृहस्पति भी विराजमान थे—

ततो यज्ञे समाप्ते तु ऋतूनां षट् समत्ययुः।
ततश्च द्वादशे मासे चैत्रे नावमिके तिथौ॥
नक्षत्रेऽदितिदैवत्ये स्वोच्चसंस्थेषु पंचसु।
ग्रहेषु कर्कटे लग्ने वाक्पताविन्दुना सह॥
प्रोद्यमाने जगन्नाथं सर्वलोकनमस्कृतम्।
कौसल्याजनयद् रामं दिव्यलक्षणसंयुतम्।[२]

वे (राम) विष्णुस्वरूप हविष् या खीर के आधे भाग से प्रकट हुये थे। कौसल्या के महाभाग्यशाली पुत्र श्रीराम इक्ष्वाकु के आनन्द को बढ़ाने वाले थे। उनके नेत्रों में कुछ-कुछ लालिमा थी। उनके होठ लाल, भुजायें बड़ी-बड़ी और स्वर दुन्दुभि के समान गम्भीर था——

विष्णोरर्धं महाभागं पुत्रमैक्ष्वाकुनन्दनम्।
लोहिताक्षं महाबाहुं रक्तौष्ठं दुन्दुभिस्वनम्॥[३]

माता की कोख से पुत्र पैदा होता है, वही पुत्र उत्पन्न होकर जब माता की गोद में बैठता है, तब उससे (पुत्र से) माता भी सुशोभित होती है। राम जैसे अति-तेजस्वी, प्रभावशाली पुत्र को पाकर कौसल्या उसी प्रकार सुशोभित हुयीं जिस प्रकार सुरश्रेष्ठ तथा वज्रपाणि इन्द्र से देवमाता अदिति सुशोभित हुयी थीं—

कौसल्या शुशुभे तेन पुत्रेणामिततेजसा।
यथा वरेण देवानामदितिर्वज्रपाणिना॥[४]

तदनन्तर 'कैकेयी के गर्भ से सत्यपराक्रमी भरत का जन्म हुआ, जो साक्षात् भगवान् विष्णु के (स्वरूपभूत पायस–खीर के) चतुर्थांश से भी स्वल्प भाग से प्रकट हुये थे। वे समस्त सद्गुणों से सम्पन्न थे —

---

१. वाल्मीकिरामायण बालकाण्ड ८/१२-१३ २. वही, बालकाण्ड १८/८ से १०
३. वही, बालकाण्ड १८/११ ४. वही, बालकाण्ड १८/१२

भरतो नाम कैकेय्यां जज्ञे सत्यपराक्रमः ।
साक्षाद् विष्णोश्चतुर्भागः सर्वैः समुदितो गुणैः ।।[१]

उसके बाद रानी सुमित्रा ने लक्ष्मण और शत्रुघ्न इन दो पुत्रों को जन्म दिया। वे दोनों वीर साक्षात् भगवान् विष्णु के अर्धभाग से सम्पन्न और सब प्रकार के अस्त्रों की विद्या में कुशल थे—

अथ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्राजनयत् सुतौ ।
वीरौ सर्वास्त्रकुशलौ विष्णोरर्धसमन्वितौ ।।[२]

भरत सदा प्रसन्नचित्त रहते थे। उनका जन्म पुष्य नक्षत्र तथा मीन लग्न में हुआ था। सुमित्रा के दोनों पुत्र आश्लेषा नक्षत्र और कर्क लग्न में उत्पन्न हुये थे। उस समय सूर्य अपने उच्च स्थान में विराजमान थे—

पुष्ये जातस्तु भरतो मीनलग्ने प्रसन्नधीः ।
सार्पे जातौ तु सौमित्री कुलीरेऽभ्युदिते रवौ ।।[३]

इस प्रकार राजा दशरथ के चार पुत्र उत्पन्न हुये, वे चारों महामनस्वी पुत्र पृथक्-पृथक् गुणों से सम्पन्न और सुन्दर थे। भाद्रप्रदा नामक चार तारों के समान वे कान्तिमान् थे—

राज्ञः पुत्रा महात्मानश्चत्वारो जज्ञिरे पृथक् ।
गुणवन्तोऽनुरूपाश्च रुच्या प्रोष्ठपदोपमाः ।।[४]

जैसा कि स्वाभाविक है, पुत्र की उत्पत्ति पर आनन्द की लहर दौड़ जाती है। इन चारों पुत्रों के जन्म के अवसर पर देवलोक में भी खुशियाँ मनायी जाने लगीं—

जगुः कलं च गन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः ।
देवदुन्दुभयो नेदुः पुष्पवृष्टिश्च खात् पतत् ।।[५]

इन पुत्रों के जन्म के समय गन्धर्वों ने मधुर गीत गाये। अप्सराओं ने नृत्य किये। देवताओं की दुन्दुभियाँ बजने लगीं तथा आकाश से फूलों की वर्षा होने लगी।

जहाँ तक अयोध्या नगरी का प्रश्न है, वह तो मानों उत्सव का केन्द्र बन गयी। पुत्र जन्म का समाचार सुनकर बधाई देने वालों की (बहुत बड़ी) भीड़ एकत्र हो गयी। अयोध्या की कोई सड़क और गली ऐसी नहीं थी जो खचाखच भरी न हो। उसी भीड़ में नट और नर्तक भी अपनी-अपनी कलायें दिखाकर

---

१. वाल्मीकिरामायण बालकाण्ड १८/१३   २. वही, बालकाण्ड १८/१४
३. वही, ,, ,, १८/१५   ४. वही, बालकाण्ड १८/१६
५. वही, बालकाण्ड १८/१७

मग्न हो रहे थे। पूरा वातावरण गाने-बजाने और उल्लसित लोगों के शब्दों से गूंज रहा था। राजा दशरथ के द्वारा दीन-दुःखियों के लिये लुटाये गये नाना प्रकार के रत्न यत्र-तत्र बिखरे पड़े थे—

उत्सवश्च महानासीदयोध्यायां जनाकुलः।
रथ्याश्च जनसम्बाधा नटनर्तकसंकुलाः॥
गायनैश्च विराविण्यो वादनैश्च तथापरैः।
विरेजुर्विपुलास्तत्र सर्वरत्नसमन्विताः॥[१]

पुत्र जन्म के अवसर पर चारणों, भाटों तथा बन्दीजनों को पुरस्कार देने और ब्राह्मणों को दान स्वरूप धन और गाय देने की परम्परा अति प्राचीन काल से चली आ रही है। उसी परम्परा के परिपालन के तारतम्य में राजा दशरथ ने भी मारे खुशी के सूतों, मागधों और बन्दीजनों को उचित पुरस्कार दिया और ब्राह्मणों को प्रचुर धन तथा हजारों गायें दीं—

प्रदेयांश्च ददौ राजा सूतमागधवन्दिनाम्।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ वित्तं गोधनानि सहस्रशः॥[२]

यहाँ तक आदिकवि वाल्मीकि ने दशरथ के चारो पुत्रों के महान् जन्मोत्सव का वर्णन किया। इसके बाद उन्होंने चारों पुत्रों के नामकरण संस्कार का उल्लेख इस प्रकार किया है—

अतीत्यैकादशाहं तु नामकर्म तथाकरोत्।
ज्येष्ठं रामं महात्मानं भरतं कैकेयीसुतम्॥
सौमित्रिं लक्ष्मणमिति शत्रुघ्नमपरं तथा।
वसिष्ठः परमप्रीतो नामानि कुरुते तदा॥[३]

ग्यारह दिन बीतने पर महाराज ने बालकों का नामकरण संस्कार किया। उस समय महर्षि वसिष्ठ ने प्रसन्नता के साथ सबके नाम रखे। उन्होंने ज्येष्ठ पुत्र का नाम 'राम' रखा। श्रीराम महात्मा (परमात्मा) थे। कैकेयीकुमार का नाम 'भरत' तथा 'सुमित्रा' के एक पुत्र का नाम 'लक्ष्मण' और दूसरे का 'शत्रुघ्न' निश्चित किया।

बच्चों के नामकरण आदि संस्कारों के समय प्रीतिभोज देने की परम्परा भी बहुत पुरानी है और ऐसे अवसरों पर ब्राह्मणों को प्रचुर दान भी दिया जाता है। राजा दशरथ ने भी ब्राह्मणों, नगरवासियों तथा जनपदवासियों को प्रीतिभोज दिया और ब्राह्मणों को देदीप्यमान् रत्नों का दान भी दिया—

१. वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड १८/१८–१९
२. वही, बालकाण्ड १८/२० ३. वही, बालकाण्ड १८/२१–२२

ब्राह्मणान् भोजयामास पौरजानपदानपि ।
अददद् ब्राह्मणानां च रत्नौघममलं बहु ॥[1]

राजा दशरथ ने चारों पुत्रों के जातकर्म आदि सभी संस्कारों को कराया। इनके सभी पुत्र वेदों में निष्णात, शूरवीर तथा लोकहितकारी कार्यों में संलग्न रहते थे। ज्ञानसम्पन्न तथा सर्वगुणसम्पन्न थे।[2]

यद्यपि उन चारों भाइयों की मातायें भिन्न थीं, परन्तु उनके पिता एक (दशरथ) थे। उनमें अधिकांश मायने में समतायें थी और कुछ अर्थों में विषमतायें भी थीं। जैसा कि प्रायः होता है, एक ही पिता की सन्तानों में कोई अत्यधिक योग्य एवं गुणों में अग्रणी हो जाता है। संयोग से राम सभी भाइयों में न केवल आयु की दृष्टि से ही बड़े थे, अपितु गुणों और योग्यता में भी अग्रणी थे। योग्य और गुणवान् सन्तान सभी को प्रिय होती है। वह अपने मां-बाप को भी अन्य सन्तानों की अपेक्षा अधिक प्रिय हो जाती है। चारों भाइयों में राम की ऐसी ही स्थिति थी। रामचन्द्र अपने कुल की कीर्ति-ध्वजा को फहराने वाले थे। वे न केवल अपने माता-पिता को अपितु स्वयम्भू ब्रह्मा के समान सभी प्राणियों को प्रिय थे।[3]

राम की तेजस्विता तथा सर्वप्रियता को लक्षित कर महाकवि कहते हैं कि सत्यपराक्रमी और महान् तेजस्वी राम सभी लोगों के विशेष स्नेह-भाजन थे, निष्कलङ्क चन्द्रमा की भाँति निर्मल थे—

तेषामपि महातेजा रामः सत्यपराक्रमः ।
इष्टः सर्वस्य लोकस्य शशाङ्क इव निर्मल ॥[4]

राम अपने पिता के सच्चे सेवक थे—

"पितुः शुश्रूषणे रतः" ।[5]

उसके साथ ही उन्होंने हाथी के कंधे पर बैठने, घोड़े की पीठ पर सवारी भरने एवं रथ हाँकने की विद्या में सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था।

यह प्रायः देखा जाता है कि एक ही पिता की कई सन्तानों में किसी को कोई अधिक प्रिय होता है। जहाँ तक दशरथ के चारों बेटों का प्रश्न है उनमें भी दो वर्ग थे। एक वर्ग में राम-लक्ष्मण तथा दूसरे में भरत-शत्रुघ्न थे। लक्ष्मण जन्म से ही राम के हितैषी, अनुरागी और सेवक थे। राम भी उनको बहुत मानते थे। एक प्रकार से लक्ष्मण मानो राम के बाहरी प्राण थे—

---

१. वाल्मीकीय रामायण बालकाण्ड १८/२३।
२. वही, बालकाण्ड १८/२४, पूर्वार्द्ध, २५ उत्तरार्द्ध तथा २६ पूर्वार्द्ध।
३. वही, १८/२४ उत्तरार्द्ध, २५ पूर्वार्द्ध। ४. वही, १८/२६ उ० तथा २७ पू०।
५. वही, १८/२७ उ० तथा २८ पूर्वार्द्ध।

लक्ष्मणो लक्ष्मिसम्पन्नो बहिः प्राण इवापरः ।"[१]

पुरुषोत्तम श्रीराम लक्ष्मण को इतना मानते थे कि उनके बिना (लक्ष्मण के बिना) उनको (राम को) नींद नहीं आती थी। अच्छे से अच्छा भोजन यदि राम के सामने रखा जाता था, तो वे उसे लक्ष्मण को दिये बिना नहीं खाते थे—

न च तेन विना निद्रां लभते पुरुषोत्तमः ।
मृष्टमन्नमुपानीतमश्नाति नहि तं विना ।।[२]

जब राम घोड़े पर चढ़कर शिकार खेलने जाते तो लक्ष्मण धनुष-बाण लेकर उनकी रक्षा करते थे।[३]

इसी प्रकार भरत और शत्रुघ्न में भी अत्यधिक प्रीति थी। वे एक दूसरे को प्राणों से भी अधिक प्रिय थे—

भरतस्यापि शत्रुघ्नो लक्ष्मणावरजो हि सः ।
प्राणैः प्रियतरो नित्यं तस्य चासीत् तथा प्रियः ।।[४]

अपने प्रिय पुत्रों से सभी लोग आनन्दित होते हैं, तो भला दशरथ क्यों न आनन्दित होते ? वे अपने भाग्यशाली तथा प्रिय पुत्रों से उसी प्रकार आनन्दित होते थे, जिस प्रकार चार दिक्पालों से ब्रह्मा को प्रसन्नता होती है—

स चतुर्भिर्महाभागैः पुत्रैर्दशरथः प्रियैः ।।
बभूव परमप्रीतो देवैरिव पितामहः ।।[५]

राजा दशरथ के चारों पुत्र कुछ समझदार होने पर समस्त गुणों से सम्पन्न हो गये। वे लज्जाशील, यशस्वी, सर्वज्ञ और दूरदर्शी थे। ऐसे प्रभावशाली और अत्यन्त तेजस्वी उन पुत्रों को प्राप्त कर दशरथ लोकेश्वर ब्रह्मा की भाँति अत्यधिक प्रसन्न थे। वे वैदिक अध्ययन, धनुर्वेद के ज्ञान तथा पिता की सेवा में तल्लीन थे।[६]

राजा दशरथ के चारों पुत्रों के जन्म तथा उनके माता-पिता आदि के आनन्द के साथ ही मर्त्यलोक और देवलोक में होने वाले आनन्द का वर्णन कवि ने बड़ी तत्परता के साथ किया है। पुत्रोत्सव के उपलक्ष्य में नृत्य, गायन, वादन, दान, पुरस्कार एवं प्रीतिभोज आदि का वर्णन भी किया है, पर कवि ने उनके (चारों पुत्रों के) बाल-स्वभाव, बालचेष्टा एवं बालक्रीड़ा आदि के प्रति कोई अभिरुचि नहीं दिखाई है। ऐसा प्रतीत होता है कि आदिकवि वाल्मीकि को नारद

---

१. वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड १८/३० पूर्वार्द्ध
२. वही, १८/३० उ० तथा ३१ पूर्वार्द्ध।
३. वही, १८/३१ उ० तथा ३२ पू० ४. वही, १८/३२ उ० तथा ३३ पूर्वार्द्ध।
४. वही, बालकाण्ड १८/३३ उ० तथा ३४ पूर्वार्द्ध
५. वही, बालकाण्ड १८/३५–३७

के वचनानुसार लोकहित में रत, सर्वगुणसम्पन्न, चरित्रवान् राम तथा उनके साथ उनके तीन भाइयों को आदर्श रूप में प्रस्तुत करना ही अभीष्ट था। यही कारण है कि उन्होंने चारों भाइयों के परस्पर भ्रातृ-प्रेम तथा पितृ-भक्ति आदि का विशद वर्णन किया है और अपने आराध्य देव राम को राजा दशरथ का सर्वाधिक प्रियपुत्र बताने का प्रयत्न किया है। राम तथा लक्ष्मण के बीच एवं भरत तथा शत्रुघ्न के मध्य परस्पर प्रेम का भी चित्रण किया है और यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि लक्ष्मण, राम के प्रति बाल्यावस्था से ही सेवाभाव और भक्ति-भाव रखते थे तथा लक्ष्मण भी राम के बहुत प्रिय पात्र थे।

उक्त चारों भाइयों के जन्म के अतिरिक्त वाल्मीकिरामायण में पुत्रजन्म सम्बन्धी कुछ और भी प्रसङ्ग हैं, जिनका संक्षेप में उल्लेख करना आवश्यक है। बालकाण्ड के तैंतीसवें सर्ग में स्वामी कार्तिकेय के जन्म की चर्चा है। शंकर के प्रक्षिप्त तेज (वीर्य) से अपेक्षित कार्तिकेय की जब उत्पत्ति हुई तो इन्द्र और मरुद्गणों सहित सभी देवताओं ने नवजात शिशु को दूध पिलाने के लिए छः कृत्तिकाओं को नियुक्त किया।[1] छः कृत्तिकाओं ने इस शर्त के साथ दूध पिलाना प्रारम्भ किया कि वह नवजात शिशु उन सबका पुत्र होगा। देवताओं ने उनकी शर्त को स्वींकार करते हुए "यह बालक कार्तिकेय कहलायेगा और तुम लोगों का त्रिभुवन-विख्यात पुत्र होगा, इसमें संशय नहीं।"[2] कृत्तिकाओं से परम उत्तम दूध प्रकट हुआ। चूंकि माता स्वरूपिणी कृत्तिकायें छः थीं, अतः अलौकिक शक्ति वाले कार्तिकेय ने छः मुख धारण कर, एक ही साथ सबका दुग्धपान किया।[3] यहाँ स्वामी कार्तिकेय के जन्म से सम्बद्ध इतना ही वर्णन प्राप्त होता है।

बालोत्पत्ति का दूसरा प्रसङ्ग बालकाण्ड के ३८वें सर्ग में चित्रित है, जहाँ राजा सगर के अनेक पुत्रों के जन्म का उल्लेख है। अयोध्या के राजा सगर के कोई पुत्र नहीं था। अतः वे पुत्र-प्राप्ति के लिए सदा उत्सुक रहा करते थे—

"सगरो नाम धर्मात्मा प्रजाकामः स चाप्रजः।"[4]

राजा सगर अपनी ज्येष्ठ पत्नी 'केशिनी' तथा दूसरी पत्नी 'सुमति' के साथ पुत्र प्राप्ति हेतु हिमालय पर तपस्या करने लगे। सौ वर्षों की उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर महर्षि भृगु ने यह वर दिया कि एक पत्नी से केवल एक पुत्र उत्पन्न होगा और दूसरी से ६०,००० (साठ हजार) पुत्र उत्पन्न होंगे। यह सुनकर दोनों पत्नियाँ वात्सल्य-प्रेम से परम आनन्दित हो गयीं।[5]

---

१. वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड ३७/२३
२, वही, बालकाण्ड ३७/२४-२५ ३. वही, ,, ३७/२६-२८
४. वही, ,, ३८/२ ५. वही, ,, ३८/८-९

रानियों की याचना पर महर्षि भृगु ने केशिनी को एक पुत्र तथा सुमति को साठ हजार पुत्रों को जन्म देने का वर प्रदान किया। तदनन्तर बड़ी रानी केशिनी ने 'असमञ्जस' नामक पुत्र को जन्म दिया—

अथ काले गते तस्य ज्येष्ठा पुत्रं व्यजायत।
असमञ्जस इति ख्यातं केशिनी सगरात्मजम्॥[1]

छोटी रानी सुमति ने तुंबी के आकार का एक गर्भपिण्ड उत्पन्न किया, जिसको फोड़ने से साठ हजार शिशु उत्पन्न हुए। धायियों ने घी से भरे हुए घड़ों में रख कर उनका पालन-पोषण किया।[2]

सगर के सभी पुत्रों में 'असमञ्जस' नामक पुत्र अत्यन्त चञ्चल था। वह अयोध्या नगरी के बालकों को पकड़कर सरयू के जल में फेंक देता था और जब वे डूबने लगते तो उन्हें देखकर हँसता था।[3] उसकी शैतानी बढ़ती ही गयी और सगर को उसे नगर से बाहर निकालना पड़ा।

यद्यपि इस प्रसङ्ग में विस्तृत शैशव-चित्रण के दर्शन नहीं होते, फिर भी धायियों के द्वारा नवजात शिशुओं के पालन-पोषण तथा नटखट बालक 'असमञ्जस' के चित्रण तथा पुत्रप्राप्ति के लिए राजा की उत्सुकता की दृष्टि से यह प्रसंग महत्त्वपूर्ण ही है। असमञ्जस की दुष्टता (शैतानी) ऐसे नटखट और उद्धत बच्चों का प्रतिनिधित्व करती है, जो अपने मनोविनोद के लिए दूसरे बच्चों को प्रताड़ित करते हैं।

बालकाण्ड के ही सत्रहवें सर्ग में वानर-यूथपतियों के जन्म का अति संक्षिप्त उल्लेख हुआ है। उसमें इन्द्र के पुत्र 'वाली', सूर्य के पुत्र 'सुग्रीव', बृहस्पति के पुत्र 'तार', कुबेर के पुत्र 'गन्धमादन', विश्वकर्मा के पुत्र 'नल', अग्नि के पुत्र 'नील', अश्विनीकुमारों के पुत्र 'मैन्द' और 'द्विविद', वरुण के पुत्र 'सुषेण', पर्जन्य के पुत्र 'शरभ' तथा वायु के पुत्र 'हनुमान्' की उत्पत्ति का उल्लेख है। कवि ने विशेष रूप से हनुमान् के बाल पौरुष आदि का वर्णन किया है। तदनुसार 'हनुमान्' सभी श्रेष्ठ वानरों में सबसे अधिक बुद्धिमान् और बलवान् थे। उनका शरीर वज्र के समान सुदृढ़ था। वे तेज चलने में 'गरुड़' के समान थे।[4]

उक्त वानरों की उत्पत्ति के वर्णन के साथ अन्य रीछों, वानरों तथा लाङ्गूलों (वानरों) की उत्पत्ति भी सामान्य तथा संक्षिप्त रूप में उल्लिखित है।[5]

---

१. वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड ३८/१६
२. वही, बालकाण्ड ३८/१७–१८ ३. वही, बालकाण्ड ३८/२०–२१
४. वही, बालकाण्ड, १७/१६–१७ ५. वही, सत्रहवां सर्ग

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि वानर-यूथपतियों की उत्पत्ति प्रायः देवताओं से हुई है। यद्यपि उनके जन्म का उल्लेखमात्र है तथा उनके बाल्य-जीवन का कोई भी चित्र अंकित नहीं है पर उक्त उल्लेख का महत्त्व है यह कि उन वानर-यूथपतियों तथा रीछों आदि की रामकथा की गतिशीलता में महनीय भागीदारी है। हनुमान् के जन्म-वर्णन प्रसंग में उनके बलशालित्व, शरीर-सुदृढ़ता, बुद्धिमत्ता तथा तीव्र-गमन की क्षमता आदि गुणों का उल्लेख कर दिया गया है, जिनके (गुणों के) दर्शन विभिन्न प्रसंगों में होते हैं। उक्त प्रसंगों के अतिरिक्त भी पुत्रोत्पत्ति एवं वात्सल्य के अनेक प्रसंग हैं, पर शैशव-चित्रण की दृष्टि से उनका कोई महत्त्व नहीं है। फिर भी एक का यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है।

वाल्मीकिरामायण के उत्तर काण्ड के ६६वें सर्ग में सीता के दो जुड़वा पुत्रों के जन्म का वृत्तान्त है। जिस रात शत्रुघ्न ने पर्णशाला में प्रवेश किया था, उसी रात सीता ने दो पुत्रों को जन्म दिया। पुत्रोत्पत्ति का समाचार कुछ मुनिकुमारों ने वाल्मीकि को सुनाया और उनसे बालग्रहजनित बाधा से मुक्ति हेतु भी निवेदन किया।[1] मुनिकुमारों की बातों को सुनकर महर्षि वाल्मीकि सीता के पास गये। दोनों बालक बालचन्द्रमा के समान सुन्दर तथा देवकुमारों के समान महातेजस्वी थे। वाल्मीकि ने प्रसन्नचित्त होकर सूतिकागृह में प्रवेश किया और उन्होंने उन दोनों बच्चों की भूतों तथा पिशाचों से रक्षा की व्यवस्था की—

> तेषां तद्वचनं श्रुत्वा महर्षिः समुपागमत्।
> बालचन्द्रप्रतीकाशौ देवपुत्रौ महौजसौ ॥
> जगाम तत्र हृष्टात्मा ददर्श च कुमारकौ।
> भूतघ्नीं चाकरोत् ताभ्यां रक्षां रक्षोविनाशिनीम् ॥[2]

महर्षि वाल्मीकि ने उन दोनों बच्चों की भूतादि से रक्षा व्यवस्था के प्रसंग में, वृद्धा स्त्रियों को यह समझा दिया कि वे मन्त्र-संस्कृत 'कुश' से ज्येष्ठ पुत्र का तथा 'लव' से कनिष्ठ पुत्र का मार्जन करें। साथ ही यह भी कहा कि दोनों बच्चों का नाम भी क्रमशः 'कुश' और 'लव' होगा।[3]

संयोगवश वहाँ उपस्थित शत्रुघ्न को जब उक्त शुभ समाचार मिला, तब उन्होंने सीता जी से मिलकर कहा कि "माता जी, यह बड़े सौभाग्य की बात है—'मातर्दिष्टयेति चाब्रवीत्।'" शत्रुघ्न के हृदय में असीम आनन्द का आविर्भाव हुआ। परिणामस्वरूप वर्षाकालिक सावन की रात बातों-बातों में बीत गयी।[4]

---

१. वाल्मीकीय रामायण, उत्तरकाण्ड ६६/३
२. वही, उ०का० ६६/७–८ ३. वही, उ० का० ६६/४–५
४. वही, उ० का० ६६/१३

जैसा कि ऊपर कहा गया है, वाल्मीकि रामायण में शैशव-चित्रण के लिये विशेष एवं विस्तृत स्थान नहीं है, पर उसमें किन्हीं स्थलों में वात्सल्य, विशेषकर वियोग वात्सल्य के अच्छे चित्र चित्रित हैं। ऐसे प्रसंगों में विश्वामित्र द्वारा दशरथ से यज्ञ की रक्षा हेतु राम की याचना का प्रसंग नितान्त महत्त्वपूर्ण है। उसका उल्लेख कर देना आवश्यक है।

अयोध्या में पधारे विश्वामित्र का अयोध्यानरेश दशरथ द्वारा किया गया स्वागत-सत्कार इस रूप में फलीभूत हुआ कि विश्वामित्र ने यज्ञ के विध्वंसक दो राक्षसों मारीच एवं सुबाहु को ध्वस्त करने के लिये दशरथ से इन शब्दों में 'राम' को देने की याचना की—

स्वपुत्रं राजशार्दूल ! रामं सत्यपराक्रमम् ॥
काकपक्षधरं वीरं ज्येष्ठं मे दातुमर्हसि ।[1]

उक्त याचना को दशरथ के सामने रखते समय, विश्वामित्र के हृदय में, दशरथ का पुत्र-स्नेह स्मृत हो रहा था। अतः उन्होंने उसको दृष्टि में रखकर कहा कि—

न च पुत्रगतं स्नेहं कर्त्तुमर्हसि पार्थिव ॥[2]
'भूपाल ! आप पुत्र विषयक स्नेह को सामने न लाइये।'

विश्वामित्र ने दशरथ को नाना प्रकार से समझाते हुये राम की प्राप्ति की पृष्ठभूमि तैयार कर दी, पर विश्वामित्र के उक्त याचनापरक वचनों को सुनकर पुत्र-वियोग की आशंका से महाराज दशरथ को असीम दुःख हुआ। वे उससे पीड़ित होकर काँप गये तथा मूर्छित हो गये। होश आने पर भयभीत होकर वे विषाद करने लगे। विश्वामित्र के वचन उनके हृदय को विदीर्ण कर रहे थे। परिणामस्वरूप वे पुनः बेहोश हो गये।[3]

जैसे ही उन्हें होश आया, उनके हृदय में पुत्र-स्नेह का अपार स्रोत उमड़ पड़ा। राम के वियोग में उनका वह स्नेहपुष्प प्रताड़ित हो रहा था, जो राम के जन्म से ही उनके हृदय में अंकुरित, पल्लवित तथा पुष्पित हुआ था। अतः वे किसी भी प्रकार राम को देने की स्थिति में नहीं थे। उन्होंने विश्वामित्र से अक्षौहिणी सेना के साथ स्वयं चलकर यज्ञ की रक्षा करने का प्रस्ताव किया।[4]

पुत्र चाहे जितना बलवान्, विद्वान्, शक्तिशाली हो जाय, पर पिता का उसके प्रति स्नेह सदा आशंकित ही रहता है—'स्नेहः पापमाशंकते।' उसी आशंका के वशीभूत होकर दशरथ विश्वामित्र से कहते हैं—

---

१. वाल्मीकीय रामायण, उत्तरकाण्ड १९/८-९ २. वही, उ० १९/१३
३. वही, १९/२०-२२ ४. वही, बा० का० २०/३-६

बालो ह्यकृतविद्यश्च न च वेत्ति बलाबलम् ।
न चास्त्रबलसंयुक्तो न च युद्धविशारदः ।।
न चासौ रक्षसां योग्यः कूटयुद्धा हि राक्षसाः ।[१]

'मेरा राम अभी बालक है। इसने अभी तक युद्ध की क्रिया नहीं सीखी है। यह दूसरे के बलाबल को नहीं जानता है। न तो यह अस्त्र-बल से सम्पन्न है और न युद्ध की कला में निपुण ही है। अतः यह राक्षसों से युद्ध करने योग्य नहीं है; क्योंकि राक्षस माया से (छल-कपट से) युद्ध करते हैं।

राजा दशरथ के कष्ट का सबसे बड़ा कारण यह था कि वे राम के वियोग में अपना जीवन-धारण भी नहीं कर सकते थे। जो जिसका प्रिय होता है, वह समीप रहने पर चाहे कुछ भी न करे पर अपनी उपस्थिति से जनित सुख से समस्त दुःखों को मिटा देता है—

न किञ्चिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति ।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः ।।[२]

दशरथ के लिये राम भी वैसे ही प्रिय पात्र थे। वे स्वयं कहते हैं कि 'राम का वियोग हो जाने पर वे मुहूर्त मात्र भी जीवित नहीं रह सकते—

विप्रयुक्तो हि रामेण मुहूर्तमपि नोत्सहे ।'[३]

इसीलिये वे करुण स्वर में विश्वामित्र से कहते हैं—हे मुनिश्रेष्ठ, इस लिये आप मेरे राम को न ले जाइये—

'जीवितं मुनिशार्दूल न रामं नेतुमर्हसि'[४]

'जब किसी व्यक्ति को सन्तान (पुत्र) की प्राप्ति बड़ी कठिनाई और प्रयास से, ढलती अवस्था में, होती है तो सन्तान के प्रति उसका स्नेह अत्यन्त गम्भीर, ममतामय तथा भावपूर्ण होता है।' यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है और दशरथ उसके अपवाद नहीं थे। अब दशरथ के ही शब्दों में उनकी व्यथा का आकलन करना ठीक होगा—

षष्टिवर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक ।।
कृच्छ्रेणोत्पादितश्चायं न रामं नेतुमर्हसि ।[५]

'कुशिकनन्दन ! मेरी अवस्था साठ हजार वर्ष की हो गयी। इस बुढ़ापे में बड़ी कठिनाई से मुझे पुत्र की प्राप्ति हुयी है, अतः आप राम को न ले जाइये।'

---

१. वाल्मीकीय रामायण बालकाण्ड २०/७ तथा ८ पूर्वार्द्ध
२. उत्तररामचरितम् २/१९   ३. वाल्मीकीय रामायण बा०का० २०/८ उत्तरार्द्ध
४. वही, २०/९ पूर्वार्द्ध   ५. वही, ,, ,, २०/१०

उनकी एक और बड़ी कठिनाई भावात्मक है। उसका उल्लेख इन शब्दों में वे स्वयं करते हैं।

चतुर्णामात्मजानां हि प्रीतिः परमिका मम।
ज्येष्ठे धर्मप्रधाने च न रामं नेतुमर्हसि ॥[1]

'धर्म-प्रधान राम मेरे चारों पुत्रों में ज्येष्ठ हैं, इसलिये उन पर मेरा प्रेम सबसे अधिक है, अतः आप राम को न ले जाइये।'

राम दशरथ के ज्येष्ठ लड़के और धर्म-प्रधान थे, इसलिये उनपर दशरथ का सबसे अधिक प्रेम था। यही उनका सबसे अधिक संकट था।

विश्वामित्र दशरथ के लिए देवता तथा गुरु के समान थे, परन्तु आज उनका प्रताड़ित पुत्र-वात्सल्य-स्नेह उन्हें अपने देवता की भी आज्ञा को न मानने के लिए बाध्य कर रहा है। वे विश्वामित्र से गिड़गिड़ाते हुए कहते हैं—

स त्वं प्रसादं धर्मज्ञ कुरुष्व मम पुत्रके।
मम चैवाल्पभागस्य दैवतं हि भवान् गुरुः ॥
कथमप्यमरप्रख्यं संग्रामाणामकोविदम्।
बालं मे तनयं ब्रह्मन् नैव दास्यामि पुत्रकम् ॥[2]

"धर्मज्ञ महर्षे! आप मेरे पुत्र पर तथा मुझ मन्दभागी दशरथ पर भी कृपा कीजिये, क्योंकि आप मेरे देवता तथा गुरु हैं।"

"ब्रह्मन्! यह मेरा देवोपम पुत्र युद्ध की कला से सर्वथा अनभिज्ञ है। इसकी अवस्था भी अभी बहुत थोड़ी है, इसलिए मैं इसे किसी तरह नहीं दूँगा।"

किसी प्रकार गुरु वसिष्ठ के समझाने पर दशरथ का मन प्रसन्न हुआ और उन्होंने लक्ष्मण सहित राम को अपने पास बुलाया। माता कौशल्या, पिता दशरथ तथा पुरोहित वसिष्ठ के द्वारा स्वस्ति-वाचन करने के बाद यात्रा सम्बन्धी मंगल कार्य सम्पन्न किये गये।[3]

तदनन्तर राजा दशरथ ने अपने प्रिय पुत्रों का मस्तक सूँघकर उन्हें प्रसन्नतापूर्वक विश्वामित्र को सौंप दिया।[4]

वाल्मीकि-रामायण के अयोध्या काण्ड में वियोग-वात्सल्य का एक अन्य अत्यन्त भावपूर्ण दृश्य तब उपस्थित हो जाता है, जब राम के राज्याभिषेक जैसे हर्षोल्लास के अवसर पर, कैकेयी द्वारा याचित वरदान के कारण, सीता और लक्ष्मण के साथ राम को वनवास के लिए जाना पड़ता है। वैसे कष्ट स्वभावतः

---

१. वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड २०/११
२. वही, बा०का० २०/२१ तथा २४ उ० एवं २५ पू०
३. वही, २२/१-२ ४. वही, २२/३

अवांछनीय होता है, लेकिन तब उसका रूप अत्यन्त विकराल हो जाता है, जब वह हर्ष और उल्लास की घड़ी में उपस्थित हुआ हो। राम के राज्याभिषेक के समाचार से राम की माताओं के हृदय में, प्रिय पत्नी सीता के मानस में स्वयं दशरथ के चित्त में उल्लास छा जाता है, सारी प्रजा आनन्द-विभोर हो जाती है।[1] ऐसे आनन्दोल्लासमय वातावरण में क्रूर कैकेयी, कपटपूर्वक अनुनय-विनय से दशरथ को प्रसन्न कर दो वरदान माँगती है। एक में वह माँगती है कि—"धीर स्वभाव वाले राम, तपस्वी के वेश में, मृगचर्म धारण करके, चौदह वर्षों तक दण्डकारण्य में जाकर रहें और दूसरे वर में याचना करती है कि भरत को आज ही निष्कण्टक युवराज पद प्राप्त हो जाय।[2]

कैकेयी के वरयाचना सम्बन्धी वचनों को सुनते ही राजा दशरथ उद्वेलित हो गये।[3] उस समय उनके समक्ष कैकेयी एक क्रूर काल की तरह प्रतीत हुई। कैकेयी को देखकर वे उसी प्रकार पीड़ित और व्याकुल हुए, जिस प्रकार किसी हिंसक बाघिन को देखकर मृग व्यथित होता है। बिस्तर रहित खाली भूमि पर बैठकर वे लम्बी साँसें भरने लगें, मानो कोई विषैला सर्प किसी मण्डल में मन्त्रों द्वारा अवरुद्ध हो गया हो।[4]

जब किसी प्राणी, विशेषतः मनुष्य का कोई भाव आहत होता है, तो उसका व्यथित हृदय फिर क्रोध का शिकार हो जाता है और वह अपने क्रोध प्रकाशन के ही माध्यम से अपनी सारी वेदना कह देता है। कैकेयी के वचनों को सुनते ही दशरथ मूर्छित हो गये, पर होश में आने पर उन्होंने कहा—

नृशंसे दुष्टचारित्रे कुलस्यास्य विनाशिनि।
किं कृतं तव रामेण पापे पापं मयापि वा ।।[5]

दयाहीन दुराचारिणी कैकेयी! तुम इस कुल का विनाश करने वाली डाइन हो। पापिनी! बताओ मैंने अथवा श्रीराम ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है?'

नयनाभिराम राम तो एक ऐसे आदर्श पुत्र हैं, जिनका किसी से कोई बैर नहीं है, वे तो तुम्हारे साथ भी सगी माता जैसा व्यवहार करते रहे, फिर तुम किसलिए उनका अनिष्ट करने पर उतारू हो रही हो। ऐसा प्रतीत होता है कि मैंने अपने विनाश के लिए ही तुझे अपने घर में लाकर रखा था। मैं नहीं जानता था कि तुम राजकन्या के रूप में तीक्ष्ण विष वाली नागिन हो।"[6]

---

१. वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकाण्ड ४–६ सर्ग
२. वही, अयोध्याकाण्ड ११/२६ पू० तथा २७
३. वही, अ०का० १२/१
४. वही, अ०का० १२/४ तथा ५ पूर्वार्द्ध
५. वही अ०का० १२/७ उ० तथा ८ पूर्वार्द्ध
६. वही, अ०का० १२/६–१०

राम के प्रति बचपन से ही दशरथ का इतना अधिक वात्सल्य प्रेम था कि वे (राम) दशरथ के एक प्रकार से प्राण ही थे। वे कैकेयी से रामविषयक अपने स्नेह का प्रकाशन करते हुए कहते हैं—"मैं कौशल्या और सुमित्रा को भी छोड़ सकता हूँ, राज्यलक्ष्मी का भी परित्याग कर सकता हूँ, परन्तु अपने प्राण स्वरूप पितृ-भक्त श्रीराम को नहीं छोड़ सकता।"[1]

रामविषयक अपने स्नेह की सफाई देते हुए वे आगे कहते हैं कि राम को देखते ही मेरे हृदय में परम प्रेम उमड़ जाता है और उनको न देखने पर मेरी चेतना ही नष्ट सी हो जाती है।[2]

राम के रहने पर ही दशरथ का जीवन है और उनके न रहने पर वे जीवित नहीं रह सकते। वे कैकेयी से कहते हैं कि—"सम्भव है कि सूर्य के बिना यह संसार टिक जाय अथवा पानी के बिना खेती उपज जाय, परन्तु राम के बिना मेरे प्राण निश्चित ही नहीं रह सकते—

तिष्ठेल्लोको विना सूर्यं सस्यं वा सलिलं विना।
न तु रामं विना देहे तिष्ठेत्तु मम जीवितम्॥[3]

जब अपने प्रिय पात्र, विशेषकर सन्तान के प्रति कोई संकट उपस्थित होता है तो प्रेम के खातिर माँ-बाप न अपने सम्मान की परवाह करते हैं और न ही प्राणों की। आज दशरथ की भी वही दशा हो गई है। अपने प्रिय पुत्र को वनवास की विपत्ति से बचाने हेतु वे कैकेयी को प्रसन्न करने के लिए उनके पैरों पर अपना मस्तक रख देते हैं जिससे कैकेयी अपने दुराग्रह को त्याग दे।[4]

दशरथ ने अपने हृदय की सफाई दी, भरत को तुरन्त युवराज बनाने की इच्छा प्रकट की तथा अपनी वृद्धावस्था का हवाला देकर कैकेयी से इन शब्दों में दया की भीख माँगी—

मम वृद्धस्य कैकेयि ! गतान्तस्य तपस्विनः।
दानं लालप्यमानस्य कारुण्यं कर्त्तुमर्हसि॥[5]

"कैकेयी मैं बूढ़ा हो गया हूं, मौत के किनारे बैठा हूँ, मेरी अवस्था शोचनीय हो गयी है और मैं दीनभाव से तुम्हारे सामने गिड़गिड़ा रहा हूँ, तुम्हें मुझ पर दया करनी चाहिए।"

पर कैकेयी के ऊपर न दशरथ की दयनीय दशा का प्रभाव पड़ा, न उनके रोने-धोने का और न ही राम के शील, सद्भाव एवं सद्व्यवहार आदि गुणों का

---

१. वालमीकीय रामायण, अयो० १२/११ उ० तथा १२ पू०
२. वही, ,, १२/१२ उ० १३ पू०, ३. वही अयो० १२/१३ उ०, १४ पू०
४. वही, १२/१४ उ० तथा १५ का पूर्वार्द्ध ५. वही, अयो०का० १२/३४

ही (प्रभाव पड़ा)। वह राम के वनवास सम्बन्धी वर पर जोर देती हुई कहने लगी—"नरेश्वर, मैं आपके सामने अपनी और भरत की शपथ खाकर कहती हूँ कि राम को इस देश से निकाल देने के सिवाय दूसरे किसी वर से हमें सन्तोष नहीं होगा।"[1]

गुरु वसिष्ठ, राम की माताओं तथा अयोध्या की प्रजा को क्या पता था कि भीतर क्या हो गया ? उन्हें क्या पता था कि जिस राज्याभिषेक को देखने के लिए उनकी आँखें लालायित हैं, उन्हें कुछ ही क्षणों में वल्कलधारी राम को देखना पड़ेगा। सुमन्त्र ने जब राजा दशरथ को गुरु वसिष्ठ के आगमन की सूचना दी और यह कहा कि "आप राम के अभिषेक का कार्य आरम्भ करने के लिए शीघ्र आज्ञा दें" तो दशरथ का शोकाकुल हृदय और व्यग्र हो गया और उन्होंने कहा—

"तुम ऐसी बातें सुनाकर मेरे मर्म-स्थानों पर और अधिक आघात क्यों कर रहे हो ? उस समय पुत्र-वियोग की सम्भावना से उनकी प्रसन्नता नष्ट हो चुकी थी और शोक के कारण उनके नेत्र लाल हो गये थे।[2]

राम के वनवास का समाचार सुनकर सारे अन्त:पुर में कुहराम मच गया, परन्तु अभी तक माता कौशल्या को इस दारुण घटना के बारे में कुछ भी पता नहीं था। जब राम वनवास के लिए जाने के पूर्व आशीर्वाद लेने के लिए उनके पास पहुँचे तो वे (देवी कौशल्या) पुत्र की मंगल कामना से, रात भर जागने के बाद सबेरे एकाग्रचित्त होकर, भगवान विष्णु की पूजा करा रही थीं। राम के पहुँचने के समय वे हवन करा रही थीं।[3]

अपने प्रिय पुत्र राम को सामने उपस्थित देखकर वे बड़े हर्ष से उनकी ओर लपकीं, जैसे कोई घोड़ी अपने बच्छड़े को देखकर हर्षोल्लासपूर्वक उसकी ओर लपकती है।[4]

अभी तक माता कौशल्या की आँखें तो राम के राज्याभिषेक समारोह को देखने के लिए लालायित थीं और उनका हृदय स्नेह और उल्लास से भरा था, इसलिए जब उनके प्रिय पुत्र राम ने उनके चरणों में प्रणाम किया तो उन्होंने (माता कौशल्या ने) उन्हें दोनों भुजाओं से कसकर छाती से लगा लिया और बड़े प्यार से उनका मस्तक चूमा।[5]

कोई भी सहृदय जिसे स्वल्प भी माता के हृदयगत पुत्रस्नेह का ज्ञान होगा, वह वात्सल्यमयी माता कौशल्या के तत्कालीन उल्लास का अनुमान लगा सकता

१. वाल्मीकीय रामायण, अयोकाण्ड १२/४९
२. वही, अयो०का० १४/५८–५९   ३. वही, अयो०का० २०/१४–१६
४. वही, अयो०का० २०/२०   ५. वही, ,, २०/२१

है। उस समय उनका हृदय पुत्र-स्नेहातिशय से भरा हुआ था। उन्होंने अपने प्रिय पुत्र राम को आशीर्वाद देकर कहा—

सत्यप्रतिज्ञं पितरं राजानं पश्य राघवः।
अद्यैव त्वां स धर्मात्मा यौवराज्येऽभिषेष्यति ॥[1]

'रघुनन्दन ! अब तुम जाकर अपने सत्यप्रतिज्ञ पिता राजा का दर्शन करो। वे धर्मात्मा नरेश आज ही तुम्हारा युवराज के पद पर अभिषेक करेंगे।'

माता के इस प्रकार पुत्रप्रेम को देखकर राम का हृदय भी भावमय हो गया। पर उनके सामने माता से सही बात बताने के अतिरिक्त कोई विकल्प न था। उन्होंने कहा—'माता निश्चय ही तुम्हें मालूम नहीं है कि तुम्हारे ऊपर महान् भय उपस्थित हो गया है। इस समय मैं जो बात कहने जा रहा हूँ, उसको सुनकर तुमको, सीता को और लक्ष्मण को भी दुःख होगा, तथापि कहूँगा।'[2] माता के प्रत्युत्तर की अपेक्षा किये बिना उन्होंने भरत के राज्याभिषेक और अपने वनवास की बात इन शब्दों में कह ही दी—

भरताय महाराजो यौवराज्यं प्रयच्छति।
मां पुनर्दण्डकारण्यं निवासयति तापसम् ॥
स षट् चाष्टौ च वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने।
आसेवमानो वन्यानि फलमूलैश्च वर्तयन् ॥[3]

'महाराज युवराज का पद भरत को दे रहे हैं और मुझे तपस्वी बनाकर दण्डकारण्य में भेज रहे हैं।'

'अतः मैं चौदह वर्षों तक निर्जन वन में रहूँगा और जंगल में सुलभ होने वाले वल्कल आदि को धारण करके फलफूल के आहार से ही जीवन निर्वाह करता रहूँगा।'

जो माता कौशल्या अपने प्रिय बेटे का मस्तक सूँघकर एवं आशीर्वाद देकर अपने वात्सल्य को कृतार्थ कर रही थी, अभिषेक के समाचार से नितान्त हर्षित थीं, उन्हें क्या पता था कि सहसा इस प्रकार का अनर्थ हो जायेगा। राम के द्वारा वनवास का समाचार सुनकर उनकी दशा अत्यन्त दयनीय हो गयी। उनकी दशा का वर्णन करते हुए आदिकवि वाल्मीकि कहते हैं—

सा निकृत्तेव सालस्य यष्टिः परशुना वने।
पपात सहसा देवी देवतेव दिवश्च्युता ॥[4]

---

१. वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकाण्ड २०/२४
२. वही, अयो०का० २०/२७ ३. वही, अयो०का० २०/३०–३१
४. वही, अयो०का० २०/३२

'यह अप्रिय बात सुनकर माता कौशल्या फरसे से काटी गयी शालवृक्ष की शाखा के समान सहसा पृथिवी पर गिर पड़ीं, मानों स्वर्ग से कोई देवांगना पृथिवी पर आ गिरी हो।'

राम के द्वारा सहारा देकर किसी प्रकार उठायी जाने पर कौसल्या ने राम से कहा—

यदि पुत्र ! न जायेथा मम शोकाय राघव ।
न स्म दुःखमतो भूयः पश्येयमहमप्रजाः ॥[१]

'बेटा रघुनन्दन ! यदि तुम्हारा जन्म न हुआ होता तो मुझे इस एक ही बात का शोक रहता। आज जो मुझ पर इतना भारी दुःख आ पड़ा है, उसे वन्ध्या होने पर मुझे नहीं देखना पड़ता।'

कौसल्या की इस उक्ति में एक ऐसी माँ के हृदय की तीव्र वेदना छिपी है, जिसके हृदय की सारी आशाओं पर पानी फिर गया हो और जिसका पुत्रवात्सल्य कुचल दिया गया हो। उन्होंने अपने बेटे से अपनी सौतों आदि के उपेक्षापूर्ण बर्ताव के विषय में जो कुछ कहा वह निश्चय ही बहुत दर्दनाक है। राम के वियोग में वे एक क्षण भी जीना नहीं चाहतीं। वे कहती हैं—

ममैव नूनं मरणं न विद्यते
न चावकाशोऽस्ति यमक्षये मम ।
यदन्तकोऽद्यैव न मां जिहीर्षति
प्रसह्य सिंहो रुदतीं मृगीमिव ॥[२]

'निश्चय ही मेरे लिये कहीं मौत नहीं है, यमराज के घर में भी मेरे लिये जगह नहीं है, तभी तो जैसे किसी रोती हुयी मृगी को सिंह जबरदस्ती उठा ले जाता है, उसी प्रकार यमराज मुझे आज ही उठा ले जाना नहीं चाहता है।'

आज माता कौसल्या को इस बात का हार्दिक दुःख है कि उनका व्रत, दान, संयम, तप आदि सभी व्यर्थ हो गये। वे कहती हैं—

इदं तु दुःखं यदनर्थकानि मे
व्रतानि दानानि च संयमाश्च हि ।
तपश्च तप्तं यदपत्यकाम्यया
सुनिष्फलं बीजमिवोप्तमूषरे ॥[३]

'सबसे अधिक दुःख की बात तो यह है कि पुत्र के सुख के लिये मेरे द्वारा किये गये व्रत, दान और संयम सब व्यर्थ हो गये। मैंने संतान की हित-कामना से जो तप किया है, वह भी ऊसर में बोये हुये बीज की भाँति निष्फल हो गया।'

---

१. बाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकाण्ड २०/५०
२. वही, अयो० का० २०/३६
३. वही, अयो० का० २०/५२

जब कौसल्या को यह निश्चय हो गया कि राम को वन जाने से रोकना कठिन है, तो वे अपने प्रिय बेटे राम के वनवास के कष्टों को सोच-सोच कर तड़प उठती हैं। वे कहती हैं—

अदृष्टदु:खो धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः।
मयि जातो दशरथात् कथमुञ्छेन वर्तयेत्॥
यस्य भृत्याश्च दासाश्च भृष्टान्यन्नानि भुञ्जते।
कथं स भोक्ष्यते रामो वने मूलफलान्ययम्॥[1]

'हाय ! जिसने जीवन में कभी दुःख नहीं देखा है, जो समस्त प्राणियों से सदा प्रिय वचन बोलता है, जिसका जन्म महाराज दशरथ से मेरे द्वारा हुआ है, वह मेरा धर्मात्मा पुत्र उञ्छवृत्ति से (खेत में गिरे हुये अनाज के एक-एक दाने को बीनकर) कैसे जीवन-निर्वाह कर सकेगा ?'

'जिनके भृत्य और दास भी पके हुए शुद्ध, स्वादिष्ट अन्न खाते हैं, वे ही श्रीराम वन में फल-मूल का आहार कैसे करेंगे ?'

अन्त में, वे सब प्रकार से अपने को असहाय पाकर राम के साथ स्वयं चलने का आग्रह करती हुयी इस प्रकार बोलीं—

कथं हि धेनुः स्वं वत्सं गच्छन्तमनुगच्छति।
अहं त्वानुगमिष्यामि यत्र वत्स ! गमिष्यसि॥[2]

'वत्स ! धेनु आगे जाते हुये अपने बछड़े के पीछे-पीछे कैसे चली जाती है, उसी प्रकार मैं भी तुम जहाँ भी जाओगे, तुम्हारे पीछे-पीछे चली चलूँगी।'

बछड़े और गाय के दृष्टान्त द्वारा महाकवि ने कौसल्या के वात्सल्यमय हृदय के पुत्रस्नेहातिशय को अतीव सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है। यह वही कवि कर सकता है जो सहृदय होने के साथ ही कल्पना-वैभव से भी धनाढ्य हो।

माता कितनी भी विपत्ति में हो, उसके हृदय में अपनी सन्तान (पुत्र) के लिये सदा प्यार और आशीर्वाद भरा रहता है। वह दोनों को लुटाने के लिये सदा आतुर रहती है। अब तो उन्हें (कौसल्या को) इस आशा के सहारे ही जीना है कि जब उनका बेटा वनवास की अवधि बीतने पर, वल्कल वेश में ही सही, घर लौटेगा और वे उसे जीभर कर देख सकेंगी—

अपीदानीं स कालः स्याद् वनात् प्रत्यागतं पुनः।
यत् त्वां पुत्रक ! पश्येयं जटावल्कलधारिणम्॥[3]

---

१. वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकाण्ड २४/२–३

२. वही, अयो० का० २४/९

३. वही, अयो० का० २४/३७

अयोध्या काण्ड का पच्चीसवाँ सर्ग कौसल्या के मंगलकामनापूर्वक स्वस्ति-वाचनों से भरा है। कौसल्या भारतीय माता हैं। वे भारतीय संस्कृति में पली हैं। इसलिये पुत्र राम के लिये दिये गये उनके उपदेश में उच्चकोटिक भारतीय आदर्श छिपा है। वे उस विषम स्थिति में भी उन्हें उपदेश देती हुयी कहती हैं—'महाबाहु पुत्र ! तुम पिता की शुश्रूषा, माता की सेवा तथा सत्य के पालन से सुरक्षित होकर चिरंजीवी बने रहो—

> पितृशुश्रूषया पुत्र मातृशुश्रूषया तथा।
> सत्येन च महाबाहो चिरं जीवाभिरक्षितः ॥[१]

यह तो भारतीय माँ ही है, जो अपने इकलौते बेटे को वनवास भेजने वाली सौतेली माँ कैकेयी की भी सेवा करने के लिये अपने बेटे को उपदेश देती है।

यहाँ तक माता कौसल्या के वियोग-वात्सल्य सम्बन्धी अपार दुःख और व्यथा का आकलन किया गया, अब एक बार फिर दशरथ की पुत्रवियोग जनित व्यथा की थोड़ी परख कर लेनी अपेक्षित है। जब राम, लक्ष्मण और सीता के साथ अपने पिता दशरथ से वनवास हेतु आज्ञा प्राप्त करने के लिये गये तो, उनको देखते ही दशरथ उनकी ओर दौड़ पड़े और व्याकुल होकर पृथिवी पर गिरकर मूर्छित हो गये। यह दशा देखकर राम लक्ष्मण तथा सीता भी रो पड़े।[२]

दशरथ का पुत्र-वात्सल्य इतनी पराकाष्ठा को प्राप्त है कि वे सब कुछ ताख पर रखकर अपने पुत्र राम से कहते हैं—'रघुनन्दन मैं कैकेयी को दिये गये वर के कारण मोह में पड़ गया हूँ। तुम मुझे कैद करके स्वयं ही अब अयोध्या का राजा बन जाओ।'[३]

राम तो किसी भी प्रकार अपने पूज्य पिता को सत्य-पालन से डिगाना नहीं चाहते थे। उन्होंने अपने पिता से कहा—'निष्पाप नरेश ! आज आप को मिथ्यावादी बनाकर मैं अक्षय राज्य, सब प्रकार के भोग, वसुधा का आधिपत्य, मिथिलेशकुमारी सीता तथा अन्य किसी अभिलषित पदार्थ को स्वीकार नहीं कर सकता। मेरी एकमात्र इच्छा यही है कि—'आपकी प्रतिज्ञा सत्य हो।' राम के इस दृढ़ निश्चय को सुनकर दशरथ के हृदय की पीड़ा सीमा का लंघन कर गयी। उन्होंने दुःख और सन्ताप से पीड़ित होकर अपने प्रिय पुत्र राम को छाती से लगा लिया और फिर अचेत होकर पृथिवी पर गिर पड़े। उस समय उनका शरीर जड़ पदार्थ की भाँति सर्वथा निश्चेष्ट था—

---

१. वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकाण्ड २५/६
२. वही, अयो०का० ३४/१७ तथा २०
३. वही, अयो०का० ३४/२६

एवं स राजा व्यसनाभिपन्न-
स्तापेन दुःखेन च पीड्यमानः ।
आलिङ्ग्य पुत्रं सुविनष्टसंज्ञो
भूमिं गतो नैव चिचेष्ट किंचित् ॥[1]

इस प्रसंग को देखकर कैकेयी के अतिरिक्त सभी रानियाँ रो पड़ीं । सुमंत्र भी रोते-रोते मूर्छित हो गये तथा वहाँ सब ओर हाहाकार मच गया ।

रामायण का वह प्रसंग नितान्त कारुणिक है, जब राम-लक्ष्मण और सीता वल्कल धारण करते हैं । उसी प्रसंग में राजा जनक की बेटी कोमलांगी सीता के भी वल्कल-धारण का प्रसंग तो अत्यन्त भावपूर्ण तथा हृदयावर्जक है । सीता के प्रति भी दशरथ तथा कौशल्या आदि का वात्सल्य-स्नेह कम नहीं था । अभी सीता को आये ही कितने दिन बीते थे ? किसी ने कल्पना भी नहीं की थी कि रघुवंशकुल की उस वधू को, जो पिता राजा जनक के भोग-विलास एवं वैभव से सम्पन्न कुल में स्नेह के वातावरण में पली थी, वल्कल पहनकर वन में कालयापन करनापड़ेगा ।

जब राम सीता को वल्कल वस्त्र पहना रहे थे, रनिवास की सभी स्त्रियों की आँखें डबडबा गयीं थीं । सभी ने राम से कहा कि वे (राम) पिता की आज्ञा पालन करने के लिए जब तक निर्जन वन में रहें, तब तक सीता अयोध्या में ही रहें जिन्हें देखकर हम लोगों का जीवन तो सफल हो सके ।[2]

वहाँ उपस्थित गुरु वसिष्ठ की आँखों में भी आँसू भर आये । सीता के प्रति उनके भी हृदय में स्नेह भरा था और अपने उस स्नेह को आहत जानकर वे क्रुद्ध हो गये और उन्होंने कैकेयी को बहुत कुछ बुरा-भला कहा । उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि 'राम और सीता के साथ हम लोग भी चले जायेंगे और नगर के सभी निवासी एवं अन्तःपुर के रक्षक भी चले जायेंगे, यही नहीं शत्रुघ्न के साथ तुम्हारा बेटा भरत भी चला जायेगा ।[3]

गुरु वसिष्ठ ने कैकेयी की निर्दयता, कठोरता और क्रूरता पर तीव्र प्रहार करते हुए कहा कि जब सब लोग जंगल में चले जायेंगे तो तुम वृक्षों के साथ इस अयोध्या में अकेली रहकर इस निर्जन और सूनी पृथिवी का राज्य करना, तुम सम्प्रति गर्हित आचरण तथा सम्पूर्ण प्रजा का अहित करने में लगी हुई हो—

ततः शून्यां गतजनां वसुधां पादपैः सह ।
त्वमेका शाधि दुर्वृत्ता प्रजानामहिते स्थिता ॥[4]

---

१. वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकाण्ड ३४/६०

२. वही, अयो०का० ३७/१६ ३. वही, ३७/२५, २६, २७

४. वही, ३७/२८

पूर्वापर का विचार करने वाले गुरु वसिष्ठ के अधोलिखित कथन में कितना मर्म, कितना भाव और कितनी वास्तविकता भरी है। इस प्रकार के अनर्थकारी वर माँगने वाली कैकेयी को सावधान करते हुए वे कहते हैं—

'कैकेयि ! याद रखो, श्रीराम जहाँ के राजा न होंगे, वह राज्य, राज्य नहीं रह जायेगा, जंगल हो जायेगा तथा जहाँ श्रीराम निवास करेंगे, वह वन भी एक स्वतन्त्र राष्ट्र बन जायेगा—

न हि तद्भविता राष्ट्रं यत्र रामो न भूपतिः।
तद् वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति ॥[1]

भरत यद्यपि कैकेयी के पुत्र हैं, परन्तु वे एक सिद्धान्तवादी तथा राम के भक्त भी हैं। अतः उनके लिए (भरत के लिए) श्रीराम को वंश परम्परा प्राप्त राज्य की कैकेयी ने जो याचना की है वह उसकी बहुत बड़ी भूल है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर वे पुनः कैकेयी से कहते हैं कि 'तुम (कैकेयी) पृथिवी छोड़कर आसमान में यदि उड़ जाओ तो भी अपने पवित्र वंश के आचार-व्यवहार को जानने वाले भरत उसके विरुद्ध कुछ नहीं करेंगे, वस्तुतः तुमने अपने प्रिय पुत्र का प्रिय करने की इच्छा से उसका अप्रिय ही किया है।'[2]

सीता के प्रति दशरथ के हृदय में भी अपार पुत्री-स्नेह था। अतः वे वल्कल वस्त्र धारण करने वाली अपनी प्रिय पुत्रवधू को किसी भी प्रकार देखने की स्थिति में नहीं थे। वे कैकेयी से कहते हैं—

सुकुमारी च बाला च सततं च सुखोचिता।
नेयं वनस्य योग्येति सत्यमाह गुरुर्मम ॥[3]

'यह (सीता) सुकुमारी है, बालिका है और सदा सुखों में ही पली है। मेरे गुरुजी ठीक कहते हैं कि यह सीता वन में जाने योग्य नहीं है।'

अबोधबाला निरपराधिनी सीता के विषय में, कैकेयी के प्रति कहे गये उनके (दशरथ के) निम्नांकित कथन में कितनी मार्मिकता और वात्सल्य-प्रेम भरा है—

इयं हि कस्यापि करोति किंचित्
तपस्विनी राजवरस्य पुत्री।
या चीरमासाद्य जनस्य मध्ये
स्थिता विसंज्ञा श्रमणीव काचित् ॥[4]

---

१. वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकाण्ड ३७/२९　२. वही, अयो० का० ३७/३१-३२
३ वही, ,, ३८/४　४. वही, ,, ३८/५

'राजाओं में श्रेष्ठ जनक की इस तपस्विनी पुत्री ने क्या किसी का कुछ भी बिगाड़ा है ? जो इस प्रकार, जन-समुदाय के बीच किसी किंकर्त्तव्यविमूढ़ भिक्षुणी के समान चीर धारण करके खड़ी है।'

वियोग-वात्सल्य के पूरे प्रकरण में 'लक्ष्मण सम्बन्धी सन्दर्भ बहुत कम हैं। माता सुमित्रा तो एक ऐसी आदर्श भारतीय ललना हैं, जो मूक रहकर ही अपने कर्त्तव्य का परिपालन करती रहती हैं। उन्हें अच्छी प्रकार यह पता है कि उनका बेटा लक्ष्मण राम का कितना बड़ा भक्त है। इसीलिये वनवास हेतु प्रस्थान करने के समय, जब लक्ष्मण ने अपनी माता सुमित्रा के चरणों में प्रणाम किया तो माता की आँखों में पुत्र-प्रेम आँसू बनकर पिघल गया। उन्होंने मात्र अपने प्रिय पुत्र का सिर सूँघा और बेटे को हित-बुद्धि से उपदेश दिया—

अन्वक्षं लक्ष्मणो भ्रातुः कौसल्यामभ्यवादयत्।
अपि मातुः सुमित्रायाः जग्राह चरणौ पुनः॥
तं वन्दमानं रुदती माता सौमित्रिमब्रवीत।
हितकामा महाबाहुं मूर्घ्न्युपाघ्राय लक्ष्मणम्॥[1]

सुमित्रा भी अपने पुत्र के वियोग से अत्यन्त दुःखी थीं परन्तु अपने पुत्र के सामने उन्होंने अपने दुःख का प्रकाशन नहीं किया। अपने बेटे के उपदेश में उन्होंने बड़े भाई राम की सेवा को ही सबसे बड़ा धर्म बताया।[2]

इस संदर्भ में लक्ष्मण को दिये गये सुमित्रा के अधोलिखित उपदेश को उद्धृत करना आवश्यक है, जिसमें वात्सल्य-स्नेह के साथ कर्त्तव्य का भी मणिकांचन योग है। सुमित्रा लक्ष्मण से कहती हैं—

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्॥[3]

'बेटा! तुम श्रीराम को ही अपना पिता महाराज दशरथ समझो, जनकनन्दिनी सीता को ही अपनी माता सुमित्रा मानो और वन को ही अयोध्या जानो। अब सुखपूर्वक यहाँ से प्रस्थान करो।'

सुमित्रा के उक्त उपदेश में उनके वात्सल्य-प्रेम का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है, क्योंकि उसमें राम और सीता के प्रति भी उनके स्नेह की व्यंजना होती है। माता पिता का वात्सल्य-प्रेम तभी कृतार्थ होता है, जब उनके स्नेहभाजन का कल्याण होता हो। सुमित्रा उक्त कार्यों के करने में ही अपने पुत्र का कल्याण देख रही हैं।

---

१. वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकाण्ड ४०/३-४ २. वही, अयो० का० ४०/५-६
३. वही, अयो० का० ४०/९

दुःख की घड़ी में मात्र आशा ही एक ऐसा अवलम्ब है, जिसके कारण प्राणिमात्र शुभ घड़ी की प्रतीक्षा में अपना कालयापन करता है। सीता-लक्ष्मण के साथ प्रिय पुत्र राम के वन चले जाने पर, माता कौशल्या अब उस शुभ घड़ी की प्रतीक्षा करेंगी, जब सीता और लक्ष्मण के साथ वन से लौटे अपने इकलौते बेटे राम को देख सकेंगी।[1]

कौशल्या के निम्नांकित कथन में उनके प्रताड़ित वात्सल्य का कैसा अच्छा प्रकाशन है—

साहं गौरिव सिंहेन विवत्सा वत्सला कृता।
कैकेय्या पुरुषव्याघ्र बालवत्सेव गौर्बलात् ॥[2]

'हे पुरुषसिंह। जैसे किसी सिंह ने छोटे से बछड़े वाली वत्सला गौ को बलपूर्वक बछड़े से हीन कर दिया हो, उसी प्रकार कैकेयी ने मुझे बलात् अपने बेटे (राम) से विलग कर दिया है।'

छोटे बछड़े को हठात् अलग कर देने पर जो दशा वात्सल्यमयी विवश गाय की होती है, ठीक वही दशा आज राम के अलग कर देने पर कौशल्या की हो गयी है। बछड़े और गाय के औपम्य-विधान द्वारा महाकवि वाल्मीकि ने कौशल्या के शोक-विह्वल हृदय के तीव्र ताप की जो व्यंजना कराई है, वह निश्चित ही श्लाघ्य हैं।

माता कौशल्या का वात्सल्य-प्रेम पुत्र राम तक ही सीमित न था। वह सीता के प्रति भी राम जैसा ही था। राजर्षि जनक के घर सुख-सुविधा तथा वैभव भरे राजसी वातावरण में, जिस कोमलांगी सीता का लालन-पालन हुआ था, उसकी जंगल में क्या दशा होगी? यह सोच-सोच कर माता कौशल्या तड़पने लगती हैं—

भुक्त्वाशनं विशालाक्षी सूपदशान्वितं शुभदम्।
वन्यं नैवारमाहारं कथं सीतोपभोक्ष्यते॥
गीतवादित्रनिर्घोषं श्रुत्वा शुभसमन्विता।
कथं क्रव्यादसिंहानां शब्दं श्रोष्यत्यशोभनम्॥[3]

प्रवासगत प्रिय के समाचार को सुनने के लिये हर व्यक्ति का हृदय आकुल हो जाता है और सभी लोग सन्देशवाहक से नाना प्रकार के प्रश्न पूछ कर अपनी जिज्ञासा की शान्ति करना चाहते हैं। ठीक वही दशा दशरथ की हो गयी है। राम सीता तथा लक्ष्मण को वन भेजकर लौटे सुमन्त्र से राजा दशरथ पूछते हैं—

---

१. वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकाण्ड ४३/९ २. वही, अयो० का० ४३/१८
३. वही, अयोध्याकाण्ड ६१/५-६

किमुवाच वने रामः किमुवाच च लक्ष्मणः।
सुमन्त्र ! वनमासाद्य किमुवाच च मैथिली ॥[१]

'सुमन्त्र। वन में पहुँचकर श्रीराम ने तुमसे क्या कहा ? लक्ष्मण ने भी क्या कहा ? तथा मिथिलेशकुमारी सीता ने क्या सन्देश दिया ?'

सुमन्त्र द्वारा भेजे गये राम के सन्देश को सुनकर तथा सुमन्त्र द्वारा बताये गये राम के वियोग में अयोध्या के प्राणियों, वन-वृक्षों आदि की शोकाकुलताको जानकर दशरथ का हृदय और शोक-विह्वल हो जाता है। वे यह कहते हुये कि— 'मैं लक्ष्मणसहित श्रीराम को देखना चाहता हूँ, परन्तु इस समय उन्हें यहाँ नहीं देख पा रहा हूँ। यह मेरे बहुत बड़े पाप का फल है' मूर्छित होकर शय्या पर गिर पड़ते हैं।[२]

प्रिय पुत्र राम के वियोग में जो होना था, वही हुआ। कौशल्या और सुमित्रा के समक्ष शोकपूर्ण विलाप करते हुए दशरथ ने अन्ततः अपने प्राणों का परित्याग कर ही दिया—

इति मातुश्च रामस्य सुमित्रायाश्च संनिधौ।
राजा दशरथः शोचञ्जीवितान्तमुपागमत् ॥[३]

करुण-वात्सल्य का एक और प्रसंग उत्तरकाण्ड के ७३ वें सर्ग में चित्रित है। एक वृद्ध ब्राह्मण अपने इकलौते बेटे का शव लेकर राम के राजद्वार पर आया। इकलौते बेटे के दिवंगत होने के कारण उसका पुत्र-वात्सल्य इतना प्रताड़ित था कि यह बेहद बिलख रहा था। उसका रोदन बड़ा कारुणिक और हृदय को दहलाने वाला था। उसका विलख कर यह कहना कितना दर्दनाक है कि 'वत्स ! तुम्हारे शोक में तुम्हारे माता-पिता दोनों निस्सन्देह शीघ्र ही इस संसार से विदा हो जायेंगे—

अल्पैरहोभिर्निधनं गमिष्यामि न संशयः।
अहं च जननी चैव तव शोकेन पुत्रक ॥[४]

ऐसी विपत्ति की घड़ी में मानव-मन में नाना शंकायें उठती हैं। उसका ध्यान अपने द्वारा किये गये ऐसे कर्मों को स्मरण करता है, जिनके कारण पुत्र-वियोग जैसा दारुण दुःख आया। वह ब्राह्मण भी इसी प्रकार सोचता है।[५]

इस प्रकार पुत्र-प्रेम की वेदी पर दशरथ के प्राणों की आहुति हो गयी। वाल्मीकि रामायण में शैशव-चित्रण (शिशु-क्रीड़ा-लीला-चेष्टा आदि) ने भले ही

---

१. वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकाण्ड ५८/११
२. वही, अयोध्याकाण्ड ५९/३३ ३. वही, अयोध्याकाण्ड ६४/७७
४. वाल्मीकिरामा०, उत्तरका० सर्ग ७३/६ ५. वही, उत्तरकाण्ड सर्ग ७३/७

विशेष स्थान न पाया हो, पर वात्सल्य के दोनों पक्षों (संयोग और वियोग) विशेषकर संभावित वियोगजन्य वात्सल्य ने तो सम्मानित स्थान पाया ही है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। सचमुच वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड का वरयाचन तथा राम-वनगमन का सन्दर्भ एक भव्य काव्यात्मक भावसृष्टि है। वियोग-वात्सल्य का इतना जीता-जागता चित्र अन्यत्र सर्वांशत दुर्लभ है। महाकवि वाल्मीकि का प्रातिभचक्षु प्राणिमात्र के अन्त:करण को अच्छी प्रकार परखने में सर्वथा समर्थ है। यदि वह माता-पिता के हृदय के सन्तान स्नेह, स्नेहजनित कल्पना-सुख आदि का आकलन कर लेता है, तो वह माता-पिता की सन्तान प्राप्ति विषयक कामना के भी दर्शन कर लेता है। सन्तान के वियोग अथवा सम्भावित वियोग की दशा में, माता-पिता आदि गुरुजनों की वियोगजनित तीव्र वेदना को सम्यक् समझ लेने में तो वह (प्रातिभ चक्षु) सर्वथा पटु है। वाल्मीकि की जो सबसे बड़ी विशेषता हैं, वह यह कि वे चराचर की अपनी तीव्र अनुभूति को अपनी अलौकिक वर्णन-प्रतिभा द्वारा वैसे ढंग से चित्रित करते हैं, जैसे वह सर्वांशतः बिम्बित हो जाता है। इस प्रकार के चित्रणों में उनका औपम्य विधान विशेष सहायक बन जाता है। उनके द्वारा वर्णित वियोग-वात्सल्य संस्कृत-काव्यजगत् का ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण काव्य-जगत् की अनुपम थाती है।

महाभारत में शैशव-चित्रण

व्यास का जीवनवृत्त

महाभारत के रचयिता महर्षि वेदव्यास हैं। उनकी माता का नाम सत्यवती था। किसी द्वीप में उत्पन्न होने के कारण व्यास को द्वैपायन भी कहते हैं। शरीर का रंग काला होने के कारण वे 'कृष्णमुनि' भी कहे जाते हैं। वैदिक मन्त्रों का चार संहिताओं में विभाग (व्यास) करने के कारण उन्हें वेदव्यास भी कहते हैं। वेदव्यास ने तीन वर्षों तक कठोर परिश्रम से महाभारत की रचना की थी। जहाँ तक उनके स्थिति-काल का प्रश्न है, वह विवाद-ग्रस्त है। कई प्रमाणों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि महाभारत की रचना ईसा पूर्व ५०० ई० के पहले हुई होगी। वे० वरदाचार्य महाभारत के प्रक्षिप्त अंशों को छोड़कर उसके शेष अंशों का रचनाकाल ३००० ई० पू० मानते हैं।[1]

महाभारत

विकास की दृष्टि से महाभारत के तीन क्रमिक रूप माने जाते हैं— (१) जय (२) भारत (३) महाभारत।

---

१. वरदाचार्यः संस्कृत साहित्य का इतिहास : १९६२ संस्करण, पृ० ८०

'जय' महाभारत का मूल रूप है, उसमें ८८०० श्लोक थे। व्यास ने उसे वैशम्पायन को सुनाया था। आगे राजनीति आदि से सम्बद्ध अनेक विषयों को जोड़ कर उसके श्लोकों की संख्या २४००० हो गयी और उसका नाम 'भारत' पड़ा। उसे वैशम्पायन ने जनमेजय के नाग-यज्ञ में सुनाया था। आगे अनेक आख्यानों को जोड़कर 'भारत' का आकार बढ़ गया। उसके श्लोकों की संख्या २४००० से बढ़-कर १,००००० हो गयी और बृहदाकार रूप 'महाभारत' इस नाम से अभिहित हुआ। 'महाभारत' कुल १८ पर्वों में विभक्त है। उसके प्रथम पर्व का नाम 'आदि पर्व' तथा अन्तिम पर्व का नाम 'स्वर्गारोहण' है।[1]

महाभारत के कई संस्करण हैं। उसमें चार संस्करण जो इस समय प्रचलित हैं, वे हैं—कलकत्ता, बम्बई, मद्रास तथा पूना संस्करण।

महाभारत का मुख्य कथानक पाण्डवों तथा कौरवों से सम्बद्ध है और उसमें दोनों पक्षों के भयंकर युद्ध का वर्णन मुख्य रूप से किया गया है। उसके साथ ही उसमें अनेक महत्त्वपूर्ण विषय भी वर्णित हैं। महाभारत के उपाख्यानों की संख्या भी बहुत अधिक है, जिनमें शकुन्तलोपाख्यान, रामोपाख्यान, सावित्री-उपाख्यान तथा नलोपाख्यान आदि मुख्य हैं। महाभारत में ही श्रीमद्भगवद्गीता भी निविष्ट है।

महाभारत संस्कृत-वाङ्मय का अभूतपूर्व ग्रन्थ-रत्न है। वह एक प्रकार से ज्ञान-विज्ञान, समाज, राजनीति, नीति का कोषागार है। मानव-मात्र के लिए निर्धारित चार पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का उसमें विशद वर्णन है। इस विषय में महाभारत के रचयिता वेदव्यास की निम्नांकित उक्ति सर्वथा यथार्थ है—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥[2]

महाभारत में प्रायः सभी रसों का समावेश है; पर वीर, अद्भुत और शान्त इन रसों की प्रधानता है। किन्हीं विद्वानों के मत में इसका प्रधान रस वीर है और कुछ लोग अन्त में शान्त रस के चित्रित होने से उसका प्रधान रस 'शान्त' मानते हैं। महाभारत की भाषा सरल और सुबोध है, शैली पांचाली है, उसमें अलंकारों का प्रयोग भी सुन्दर हुआ है। अतः महाभारत का काव्यात्मक सौन्दर्य भी अपने उत्कृष्ट रूप में प्रतिष्ठित है।

---

१. डॉ० राजदेव मिश्र एवं डॉ० प्रभुनाथ द्विवेदी : संस्कृत साहित्य की संक्षिप्त रूपरेखा, पृ० ७

२. महाभारत, गीता प्रेस संस्करण, आदिपर्व २६/५३

वास्तविकता यह है कि महाभारत को किसी एक सीमित स्वरूप में बाँधकर देखना समीचीन नहीं हैं। महर्षि व्यास ने स्वयं ही कह दिया हैं कि वह महान् अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, मोक्षशास्त्र, सब कुछ है—

धर्मशास्त्रमिदं पुण्यमर्थशास्त्रमिदं महत्।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ॥[१]

महाभारत मे ही विश्वप्रसिद्ध श्रीमद्भगवद्गीता वर्णित है और प्रसिद्ध हरिवंश पुराण भी महाभारत का ही परिशिष्ट है। उसमें १६४०० श्लोक हैं और उसके तीन भाग हैं—(१) हरिवंश पर्व (२) विष्णुपर्व (३) भविष्य पर्व।[२]

उक्त सभी तथ्यों को केन्द्रित कर यह कहना असमीचीन नहीं है कि महाभारत एक ऐसा महान् ग्रन्थ है जिसमें कौरव-पाण्डव की कथा के वर्णन-प्रसंग में सब कुछ कह दिया गया है। जहाँ तक महाभारत में शैशव चित्रण का प्रश्न हैं, उसके लिये महाभारत में कोई विशेष एवं विस्तृत अवसर नहीं है। इसका कारण है महाभारत की कथावस्तु का विस्तार और पात्रों का बाहुल्य। वैसे महाभारत में अनेक उत्पत्ति-वर्णन प्रसंग हैं, पर प्रस्तुत विषय की दृष्टि से उनका कोई महत्त्व नहीं है। महाभारत की सम्पूर्ण कथा की धुरी कौरव तथा पाण्डव हैं। पाण्डु के पाँच पुत्र तथा धृतराष्ट्र के सौ पुत्र थे, जिन्हें क्रमशः पाण्डव तथा कौरव कहा जाता है। महाभारत में पाँचों पाण्डवों के जन्म का वृत्तान्त सम्यक् रूप से वर्णित है पर कौरवों में दुर्योधन को छोड़कर अन्य किसी के जन्म के वृत्तान्त का समुचित वर्णन नहीं किया गया है।

महाभारत के आदि पर्व के सम्भवपर्व के अन्तर्गत ११४ वें अध्याय में धृतराष्ट्र के ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन का नामोल्लेखपूर्वक वर्णन किया गया है।

जनमेजय के द्वारा वैशम्पायन से यह पूछने पर कि गान्धारी से सौ पुत्र किस प्रकार और कितने समय में उत्पन्न हुये और उन सबकी पूरी आयु कितनी थी?[३] वैशम्पायन ने धृतराष्ट्र के पुत्रों की उत्पत्ति का वर्णन किया। धृतराष्ट्र से गान्धारी ने गर्भ धारण किया और दो वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी प्रसव नहीं हुआ। इस बीच कुन्ती के गर्भ से महातेजस्वी पुत्र के जन्म का वृत्तान्त सुनकर गान्धारी को बहुत कष्ट हुआ तो उन्होंने अपने उदर पर आघात किया। उसके गर्भ से एक मांस का पिण्ड प्रकट हुआ, जो लोहे के पिण्ड के समान कड़ा था। गान्धारी उस माँस पिण्ड को फेंक देने का विचार कर रही थी। उसी समय व्यास

---

१. महाभारत, गीता प्रेस संस्करण, आदिपर्व २६/२३

२. वरदाचार्य: संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी अनुवाद), पृ० ८३

३. महाभारत : गीता प्रेस, पंचम संस्करण आदिपर्व ११४/३

जी पहुँच गये और उन्होंने गान्धारी को रोका। उनके निर्देशानुसार मांसपिण्ड के सौ टुकड़े हो गये तथा वे गर्भ रूप में परिवर्तित हो गये। फिर उस मांसपिण्ड के उन सभी गर्भों को कुण्डों में रखा गया। तदनन्तर दो वर्ष बीतने पर जिस क्रम से वे गर्भ कुण्डों में रखे गये थे, उसी क्रम से सौ पुत्रों की उत्पत्ति हुयी। सबसे पहले दुर्योधन उत्पन्न हुये। युधिष्ठिर दुर्योधन से पहले ही पैदा हो चुके थे, अतः अवस्था-क्रम में वे ज्येष्ठ थे—

जज्ञे क्रमेण चैतेन तेषां दुर्योधनो नृपः।
जन्मतस्तु प्रमाणेन ज्येष्ठो राजा युधिष्ठिरः॥[1]

यह संयोग ही था कि जिस दिन दुर्योधन का जन्म हुआ, उसी दिन परम पराक्रमी महाबाहु भीमसेन भी उत्पन्न हुये। दुर्योधन के जन्म के समय एक आश्चर्यकर घटना यह हुयी कि वह (दुर्योधन) जन्म लेते ही गधे की (रेंकने की) आवाज में रोने-चिल्लाने लगा। उसकी आवाज सुनकर बदले में दूसरे गधे भी रेंकने लगे। गीध, गीदड़, गधे सभी कोलाहल करने लगे और बड़े जोर की आँधी चलने लगी। सम्पूर्ण दिशाओं में दाह सा होने लगा।[2] धृतराष्ट्र भयभीत हो गये। उन्होंने ब्राह्मणों, भीष्म, विदुर तथा मित्रों आदि को बुला कर दुर्योधन के राजा होने के विषय में प्रश्न किया। उनके इस प्रकार प्रश्न करते ही चारों ओर भयंकर मांसाहारी जीव गर्जना करने लगे और गीदड़ अमंगल सूचक बोली बोलने लगे।[3]

उस समय वहाँ उपस्थित ब्राह्मणों एवं विदुर जी ने धृतराष्ट्र से यह स्पष्ट किया कि 'उनका' (धृतराष्ट्र का) वह पुत्र कुल-संहारक होगा। अतः उसका त्याग कर देना चाहिए, अन्यथा आगे भारी उपद्रव होगा।[4] पुत्र का स्नेह अति भावनामय होता है। भला माता-पिता के वश में कहाँ है कि वह अपनी सन्तान का परित्याग कर दे, चाहे भले ही सन्तान नालायक ही क्यों न हो? पुत्रस्नेहयुक्त धृतराष्ट्र अपने पुत्र दुर्योधन का परित्याग न कर सके—

'न चकार तथा राजा पुत्रस्नेहसमन्वितः।'[5]

महाभारत के इस स्थल में दुर्योधन की उत्पत्ति के समय भयंकर एवं अमंगल ध्वनियाँ तथा आँधी आदि चलने की घटना अपने में अद्भुत है, क्योंकि

---

१. महाभारत आदिपर्व (सम्भव पर्व) ११४/९५
२. महाभारत आदिपर्व ११४/२६ उत्त० २७, २८, २९ पू०
३. वही, आदिपर्व (सम्भव पर्व) ११४/३३ ४. वही, ११४
५. वही, आदिपर्व (सम्भव पर्व) ११४/४० पूर्वार्द्ध

वह पुत्र-जन्म के अवसर पर होने वाली पुष्पवृष्टि, हर्षोल्लास आदि की पुष्ट-साहित्यिक-परम्परा के विरुद्ध है।

महाभारत के उसी सर्ग में धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों तथा एक कन्या के जन्म का उल्लेख मात्र है। उसी प्रसंग में धृतराष्ट्र की एक वैश्य जातीय स्त्री से युयुत्सु नामक पुत्र की उत्पत्ति का भी वर्णन है।

महाभारत के उसी पर्व के ११५ वें अध्याय में गान्धारी की इच्छा के अनुसार व्यास जी की कृपा से, एक कन्या (दुःशला नामक) भी उत्पन्न हुयी। पुत्री के स्नेहवश गान्धारी ने स्वयं ही व्यास जी से अपनी इच्छा प्रकट की थी—

ममेयं परमा तुष्टिर्दुहिता मे भवेद्यदि ।[१]

'मुझे अधिक सन्तोष तो तब होता जब मुझे एक पुत्री भी हो जाती।' गान्धारी की पुत्री-कामना के मूल में 'जामाता' की प्राप्ति भी थी। क्योंकि स्त्रियों का जामाता (दामाद) में पुत्र से भी अधिक स्नेह होता है—

'अधिका किल नारीणां प्रीतिर्जामातृजा भवेत् ।'[२]

गान्धारी की यह कल्पना कितनी सुन्दर है कि यदि उन्हें एक पुत्री हो जाती तो वे पुत्र तथा दौहित्र—दोनों से घिरी रहकर कृतकृत्य हो जाती—

'यदि नाम ममापि स्याद् दुहितैका शताधिका ।
कृतकृत्या भवेयं वै पुत्रदौहित्रसंवृता ।।[३]

यहाँ यह विचारणीय है कि पुत्री-स्नेह को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है और यह भी स्पष्ट किया गया है कि जामातृ-स्नेह पुत्र-स्नेह से भी बड़ा होता है। पुत्रप्राप्ति के पीछे यह भावना मानी जाती है कि वह (पुत्र) पुम् नामक नरक से अपने माता-पिता को बचाता है और वह अपने पिता को पितृ-ऋण से भी मुक्त करता है, जिससे उसका परलोक भी सुधर जाता है, पर इस स्थल में जमाता को अधिक महत्त्व दिया गया है।

जमाता की प्राप्ति के मूल में भी कन्या होती है। कन्या से जो पुत्र उत्पन्न होता है, वह दौहित्र (नाती) होने के नाते, अपने पुण्य से अपने नाना को उत्तम लोकों की प्राप्ति कराता है। इसीलिए गांधारी को सौ पुत्रों के रहते, एक पुत्री की कामना हुई थी।[४]

---

१. महाभारत, आदिपर्व ११५/१० उत्तरार्द्ध
२. वही, आदिपर्व ११५/१२ पूर्वार्द्ध
३. वही, आदिपर्व ११५/१२ उ० तथा १३ का पूर्वार्द्ध
४. वही, ११५/११

निश्चय ही यह स्थल पुत्री-स्नेह, दौहित्र-स्नेह तथा जामातृ-स्नेह के लिए नितान्त महनीय है। संस्कृत-साहित्य में पुत्री-स्नेह के तो दर्शन होते हैं, पर जामातृ-स्नेह तथा दौहित्र-स्नेह के प्रसंग अप्राप्त ही हैं। यहाँ यह भी विचारणीय है कि अन्यत्र पुत्री-स्नेह के तो यत्र-तत्र दर्शन होते हैं, पर पुत्री प्राप्ति की कामना के दर्शन कम ही होते हैं। इस दृष्टि से गांधारी की पुत्री सम्बन्धी कामना नितान्त महत्त्वपूर्ण है।

महाभारत में धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों में दुर्योधन के जन्म का विशेषतः उल्लेख है और शेष ९९ पुत्रों का नामोल्लेख आदिपर्व के ११६ वें अध्याय में किया गया है। जिस क्रम से उनके नाम गिनाये गये हैं, उसी क्रम से उनकी उत्पत्ति भी हुई थी। सौ पुत्रों के साथ धृतराष्ट्र की 'दुःशला' नामक एक कन्या की उत्पत्ति की चर्चा मात्र है।

धृतराष्ट्र के सभी पुत्र अतिरथी और शूर-वीर थे। सभी ने युद्ध-विद्या में निपुणता एवं सम्पूर्ण अस्त्रविद्या की मर्मज्ञता प्राप्त कर ली। वे सभी वेदों के ज्ञाता भी हो गये। धृतराष्ट्र ने सभी पुत्रों का योग्य कन्याओं से तथा दुःशला का जयद्रथ से विवाह भी कर दिया।[1]

महाभारत के आदिपर्व में ही, १२२वें अध्याय में पाण्डवों की उत्पत्ति का वर्णन है। पाण्डु की पत्नी कुन्ती को योगमूर्ति धारण करने वाले धर्म के समागम से सभी प्राणियों का हितैषी एक पुत्र उत्पन्न हुआ—

संयुक्ता सा हि धर्मेण योगमूर्तिधरेण ह।
लेभे पुत्रं वरारोहा सर्वप्राणभृतां हितम्॥

उस समय चन्द्रमा ज्येष्ठा नक्षत्र पर तथा सूर्य तुला राशि पर विराजमान थे। शुक्लपक्ष की 'पूर्णा' नाम वाली पंचमी तिथि थी। अत्युत्तम अभिजित् नामक आठवाँ मुहूर्त भी विद्यमान था। पुत्र के जन्म लेते ही यह आकाशवाणी हुई कि 'यह श्रेष्ठ धर्मात्माओं में अग्रगण्य होगा और इस पृथ्वी पर सत्यवादी और पराक्रमी राजा होगा। यह 'युधिष्ठिर' इस नाम से विख्यात होकर, तीनों लोकों में ख्याति प्राप्त करेगा। यह यशस्वी होने के साथ तेजस्वी और सदाचारी भी होगा।'[2]

तदनन्तर अपने पति पाण्डु के आग्रह और इच्छा से वायु के सम्पर्क से, महाबली विशालकाय तथा सबके घमण्ड को चूर करने वाले 'भीम' उत्पन्न हुए, जो भयंकर पराक्रमी और महाबाहु थे और उसी समय आकाशवाणी हुई कि यह पुत्र सभी पुत्रों में बलवान् है—

---

१. महाभारत, आदिपर्व ११७/१६–१८ २. वही, १२२/८

तस्माज्जज्ञे महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः ।
तमप्यतिबलं जातं वागुवाचाशरीरिणी ॥
सर्वेषां बलिनां श्रेष्ठो जातोऽयमिति भारत ।[१]

जिस समय भीम उत्पन्न हुए, उस समय चन्द्रमा मघा नक्षत्र पर तथा बृहस्पति सिंह लग्न में विराजमान थे। दोपहर का समय, पुण्यमयी त्रयोदशी तिथि और मुहूर्त्त 'मैत्र' था। उसी दिन दुर्योधन की भी उत्पत्ति हुई थी।[२]

भीम जन्म से ही अति बलवान् और भीमकाय थे। जब वे मात्र दस दिन के थे, तब वे अपनी माता की गोद से सहसा एक पत्थर की चट्टान पर गिर गये और उनके शरीर के भार से वह चट्टान चूर-चूर हो गयी थी।[३] इससे भीम की शक्ति तथा उनके शरीर की विशालता का सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

तदनन्तर इन्द्र की कृपा से कुन्ती की कोख से 'अर्जुन' नामक पुत्र उत्पन्न हुआ—

अथाजगाम देवेन्द्रो जनयामास चार्जुनम् ।[४]

उस समय आकाशवाणी के द्वारा विशद रूप से अर्जुन के गुणों की घोषणा हुई और यह घोषित हुआ कि यह बालक कार्त्तवीर्य अर्जुन के समान तेजस्वी, भगवान् शिव के समान पराक्रमी और देवराज इन्द्र के समान अजेय होकर यश का विस्तार करेगा, इत्यादि।[५]

सूतिका गृह में ही कुन्ती ने उक्त अद्भुत आकाशवाणी सुनी। आकाशवाणी सुनकर आकाश में फूलों की वर्षा के साथ, देव-दुन्दुभियों की ध्वनि से आकाश गूँज गया—

आकाशे दुन्दुभीनां च बभूव तुमुलः स्वनः ।
उदतिष्ठन् महाघोषः पुष्पवृष्टिभिरावृतः ॥[६]

पाण्डु-पुत्रों में अर्जुन ऐसे थे, जिनके ऊपर समस्त देवताओं की, विशेषकर इन्द्र की दृष्टि लगी थी। अर्जुन के जन्म से मनुष्यलोक से ज्यादा तो देवलोक हर्षित हुआ, जैसे पूरा देवलोक ही उमड़कर वहाँ आ गया। अत्रि, मरीचि, अङ्गिरा, प्रजापति दक्ष के साथ गन्धर्व और अप्सरायें भी वहाँ आ गयीं। अप्सराओं ने गाने गाये और उन्होंने हर्षोल्लास में नृत्य भी किया। उन अप्सराओं में मिश्रकेशी, तिलोत्तमा, मेनका आदि भी थीं।[७] बारह आदित्य पाण्डुपुत्र अर्जुन का अभिनन्दन कर उनका महत्त्व बढ़ाते हुए आकाश में खड़े थे—

१. महाभारत, आदिपर्व १२२/१४–१५
२. वही, १२२/१९
३. वही, १२२/१९
४. वही, १२२/३५
५. वही १२२/३८–४६
६. वही, १२२/४९
७. वही, १२२/६१–६६

'महिमानं पाण्डवस्य वर्धयन्तोऽम्बरे स्थिताः ॥[1]

ग्यारह रुद्र, दोनों अश्विनीकुमार, आठों वसु, मरुद्गण आदि विनता-पुत्रों के साथ पुत्रोत्सव में भागीदारी कर रहे थे।[2]

सभी देवगण विमान और पर्वत के शिखर पर खड़े थे। उन्हें केवल तपःसिद्ध महर्षि ही देख पाते थे।[3]

देवलोक की उपस्थिति देखकर श्रेष्ठ मुनियों को बहुत आश्चर्य हुआ। तभी पाण्डवों (पाण्डुपुत्रों) के प्रति उनमें अधिक प्रेम और आदर का भाव उत्पन्न हो गया—

तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं विस्मिता मुनिसत्तमाः।
अधिकां स्म ततो वृत्तिमवर्तन् पाण्डवान्प्रति ॥[4]

तीन सन्तानों के उत्पन्न होने पर फिर अन्य पुत्रों की उत्पत्ति के प्रति कुन्ती ने पाण्डु से अनिच्छा प्रकट की। पाण्डु की ज्येष्ठा रानी माद्री की सन्तान-विषयिणी इच्छा के प्रति पाण्डु तथा कुन्ती की सहानुभूति हुई। कुन्ती ने माद्री से कहा कि वह (माद्री) एक बार किसी देवता का चिन्तन करे, तो उससे उसे निःसन्देह योग्य सन्तान की प्राप्ति होगी। उस वचन को सुनकर माद्री ने मन ही मन कुछ विचार करके, दोनों अश्विनीकुमारों का स्मरण किया। तब उन दोनों ने आकर माद्री के गर्भ से दो (जुड़वे) पुत्र उत्पन्न किये, उनमें से एक का नाम नकुल था और दूसरे का नाम सहदेव। इस पृथ्वी पर रूप में उन दोनों की समानता करने वाला दूसरा कोई नहीं था—

ततो माद्री विचार्यैव जगाम मनसाश्विनौ।
तावागम्य सुतौ तस्यां जनयामासतुर्यमौ।
नकुलं सहदेवं च रूपेणाप्रतिमौ भुवि।[5]

उन नवजात दो पुत्रों के विषय में आकाशवाणी के द्वारा यह सूचना मिली कि ये दोनों बालक बुद्धि, रूप और गुण में अश्विनीकुमारों से भी बढ़कर होंगे।

पाँचों पाण्डुपुत्रों की उत्पत्ति के बाद १२३ वें अध्याय में उनके नामकरण-संस्कार का वर्णन है। शतश्रृङ्गनिवासी ऋषियों ने उन बच्चों की भक्ति और कर्म के अनुसार उनका नामकरण किया। कुन्ती के ज्येष्ठ पुत्र का नाम 'युधिष्ठिर' मझले का नाम 'भीमसेन' तथा तीसरे का नाम 'अर्जुन' रखा गया। इसी प्रकार माद्री के पहले पुत्र का नाम 'नकुल' तथा दूसरे का 'सहदेव' रखा गया—

---

१. महाभारत, आदिपर्व १२२/६७ २. वही, १२२/६८–७३
३. वही, १२२/७४ ४. वही, १२२/७५
५. वही, १२३/१६–१७

नामानि चक्रिरे तेषां शतशृङ्गनिवासिनः ।
भक्त्या च कर्मणा चैव तथाशीर्भिर्विशाम्पते ।।
ज्येष्ठं युधिष्ठिरेत्येवं भीमसेनेति मध्यमम् ।
अर्जुनेति तृतीयं च कुन्तीपुत्रानकल्पयन् ।।
पूर्वजं नकुलेत्येवं सहदेवेति चापरम् ।
माद्रीपुत्रावकथयंस्ते विप्राः प्रीतमानसाः ।।[1]

यद्यपि वे पाण्डव एक-एक वर्ष के अन्तर से उत्पन्न हुए थे, पर देवस्वरूप होने के कारण वे पाँच संवत्सरों की भाँति एक समान सुशोभित हो रहे थे—

अनुसंवत्सरं जाता अपि ते कुरुसत्तमाः ।
पाण्डुपुत्रा व्यराजन्त पञ्च संवत्सरा इव ।।[2]

उक्त पांचों पाण्डु-पुत्र महान् धैर्यशाली, अधिक वीर्यवान्, महाबली तथा पराक्रमी थे। उन देवस्वरूप महान् तेजस्वी पुत्रों को देखकर महाराज पाण्डु को बड़ी प्रसन्नता हुई। वे आनन्दमग्न हो गये—

महासत्त्वा महावीर्या महाबलपराक्रमाः ।
पाण्डुर्दृष्ट्वा सुतांस्तांस्तु देवरूपान् महौजसः ।।
मुदं परमिकां लेभे ननन्द च नराधिपः ।[3]

अपने पुत्रों को पाकर पाण्डु का आनन्दित होना उचित ही था। पुत्रोत्पत्ति किसे आनन्दित नहीं करती ? ऊपर यह बताया जा चुका है कि पाँचों पाण्डु-पुत्रों की उत्पत्ति पर देवलोक आनन्दित हो गया था। उन बालकों की स्थिति यह थी कि वे अपने पिता-माता के प्रिय तो थे ही, साथ ही वे शतशृङ्गनिवासी समस्त मुनियों तथा उनकी पत्नियों के भी प्रिय हो गये—

ऋषीणामपि सर्वेषां शतशृङ्गनिवासिनाम् ।।
प्रिया बभूवुस्तासां च तथैव मुनियोषिताम् ।[4]

वे पाण्डुपुत्र सिंह के समान अभिमानी, महान् धनुर्धर तथा सिंह के समान गति वाले थे। सिंह की सी गर्दन वाले तथा देवसम वे बालक हिमालय के शिखर पर पलते एवं पुष्ट होते हुए अपने अद्भुत कर्मों से महर्षियों को भी आश्चर्य-चकित कर देते थे।[5]

---

१. महाभारत, आदिपर्व १२३/१९-२१
२. वही, १२३/२२
३. महाभारत, आदिपर्व १२३/२३-२४
४. वही, १२३/२४-२५
५. वही, १२३/३०-३१

वन में तो हर्षोल्लास व्याप्त हुआ ही, साथ ही वृष्णिवंश में भी हर्षोल्लास की लहर दौड़ गयी। वृष्णिवंशियों को जब पाण्डुपुत्रों की उत्पत्ति का समाचार मिला, तब उसे सुनते ही सबके सब हर्ष-विभोर हो गये—

पाण्डोः पुत्रागमं श्रुत्वा सर्वे हर्षसमन्विताः।[1]

वृष्णिवंश के लोगों ने मिलकर राजा वसुदेव से निवेदन किया 'महायशस्वी वसुदेव जी! हम लोग चाहते हैं कि राजा पाण्डु के पुत्र संस्कारहीन न हों। अतः आप पाण्डु के प्रिय और हित की इच्छा रखकर उनके पास किसी पुरोहित को भेजें। वसुदेव ने जनता के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और तदनुसार वहाँ पुरोहित के साथ नवजात पुत्रों के लिये दासी-दास, वस्त्राभूषण, आवश्यक सामग्री, गायें, चाँदी तथा सुवर्ण आदि भिजवाये। जब सब कुछ लेकर पुरोहित काश्यप वन में कुन्ती तथा माद्री के पास पहुँचे, तो वे बहुत प्रसन्न हुई। उन्होंने पुरोहित जी का स्वागत और वसुदेव की प्रशंसा की।[2]

पुरोहित ने सभी पाण्डुपुत्रों के गर्भाधान से लेकर चूडाकरण और उपनयन तक सभी संस्कार सम्पन्न कराये। तदनन्तर यशस्वी पाण्डुपुत्र वेदाध्ययन में संलग्न होकर उसमें पारंगत हो गये—

काश्यपः कृतवान् सर्वमुपाकर्म च भारत।
चौलोपनयनादूर्ध्वमृषभाक्षा यशस्विनः॥
वैदिकाध्ययने सर्वे समपद्यन्त पारगाः।[3]

राजर्षि शुक्र की कृपा से सभी पाण्डव धनुर्वेद में पारंगत हो गये—

तत्प्रसादाद् धनुर्वेदे समपद्यन्त पारगाः।[4]

उसी अध्याय में, अस्त्र-शस्त्र-संचालन में, कौन किसमें विशेषज्ञ हुआ, इसका भी वर्णन है। भीमसेन गदासंचालन में, युधिष्ठिर तोमर (भाला) फेंकने में एवं माद्रीपुत्र (नकुल सहदेव) ढाल-तलवार चलाने में पारंगत हो गये। महावीर अर्जुन तो धनुर्वेद के पारगामी ही हो गये। अर्जुन के धनुर्वेद की विशेषज्ञता को जानकर राजर्षि शुक्र ने प्रसन्नतापूर्वक उन्हें शक्ति, खड्ग, बाण, विशाल चमकीला धनुष, विपाट, क्षुर तथा नाराच आदि दिये। अर्जुन ने यह अनुभव किया कि तेज में उनकी समानता करने वाला भूमण्डल पर कोई वीर नहीं है।[5]

महर्षि व्यास ने आदिपर्व के १२३ वें अध्याय का अन्त इस कथन के साथ समाप्त किया कि 'धृतराष्ट्र के सौ तथा पाण्डु के पाँच अर्थात् कुल मिलाकर

---

१. महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १२३ २. वही, अध्याय १२३
३. वही, अध्याय १२३ ४. वही, अध्याय १२३
५. वही, पृष्ठ ३६९

१०५, वे बालक जल में बढ़ते हुये कमल की भाँति कुरु वंश की वृद्धि करते हुये, थोड़े ही समय में बढ़कर सयाने हो गये—

ते च पञ्च शतं चैव कुरुवंशविवर्धनाः ।
सर्वे ववृधुरल्पेन कालेनाप्स्विव नीरजाः ॥[1]

इस प्रकार पाण्डवों के जन्म तथा संस्कार आदि के वर्णन के पश्चात् आदि-पर्व १२७ वें अध्याय में बाल पाण्डवों तथा कौरवों (धृतराष्ट्र-पुत्रों) की परस्पर बालक्रीड़ा का वर्णन किया गया है। बालक्रीड़ा के वर्णन के पूर्व वैशम्पायन जनमेजय से कहते हैं कि 'शिक्षाग्रहण के बाद पाँचों पाण्डवों के वेदोक्तसमापवर्तनादि संस्कार सम्पन्न किये गये । वे अपने पितृगृह में नाना प्रकार के भोगों को भोगते हुये पालित और पोषित होते रहे—

अयावृवन्तो वेदोक्तान् संस्कारान् पाण्डवास्तदा ।
संव्यवर्धन्त भोगांस्ते भुञ्जाना पितृवेश्मनि ॥[2]

आगे उन पाण्डवों तथा कौरवों की परस्पर बालक्रीड़ा का वर्णन करते हुये वैशम्पायन कहते हैं कि धृतराष्ट्र के पुत्रों के साथ सुखपूर्वक खेलते हुए वे (बाल-पाण्डव) सदा प्रसन्न रहते थे । सब प्रकार की बालक्रीड़ाओं में अपने तेज से वे बढ़-चढ़ कर सिद्ध होते थे —

धार्तराष्ट्रैश्च सहिताः क्रीडन्तो मुदिताः सुखम् ।
बालक्रीडासु सर्वासु विशिष्टास्तेजसाभवन् ॥[3]

'छोटे बालकों का हृदय सर्वथा शुद्ध तथा निष्कलुष होता है ।' किसी भी बालमण्डली की सामूहिक क्रीड़ा को देखने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है । खेल या क्रीड़ा के प्रति बच्चों का सहज आकर्षण होता है । खेल ही उनका एक प्रकार से मनोविनोद होता है । खेल कर वे अपना कष्ट भूल जाते हैं और नितान्त प्रमुदित होते हैं । खेल-कूद के प्रति उसी जन्मजात आकर्षण के कारण पाण्डव, कौरवों के साथ खेलते थे और खेलकर प्रसन्न होते थे ।

यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि बाल-पाण्डवों में भीमसेन महाबलशाली तथा विशालकाय थे । वे स्वभावतः नटखट थे । जैसा कि नटखट बच्चों का स्वभाव होता है, सभी कार्यों में वे आगे रहते हैं और जिन बच्चों को कम पसन्द करते हैं, उन्हें परेशान भी करते हैं । बालक भीमसेन ऐसे ही बच्चों में थे । वे दौड़ने में, दूर रखी हुयी किसी वस्तु को सबसे पहले पहुँचकर उठा लेने में, खान-पान में तथा धूल उछालने के खेल में धृतराष्ट्र के सभी पुत्रों का मानमर्दन कर डालते थे—

---

१. महाभारत, आदिपर्व १२३/३२   २. वही, १२७/१४   ३. वही, १२७/१५

जवे लक्ष्याभिहरणे भोज्ये पांसुविकर्षणे।
धार्तराष्ट्रान् भीमसेनः सर्वान् स परिमर्दति ॥[1]

कौरवों-पाण्डवों की बालक्रीडा के प्रसंग में कवि ने सामूहिक क्रीडा का कोई विशद वर्णन नहीं किया है। उसने अकेले भीमसेन की ही क्रीडा तथा उनके पराक्रम तथा चंचलता के वर्णन में अपने बालक्रीडा-वर्णन को केन्द्रित किया है। खिलाड़ी भीमसेन के क्रीडा विषयक क्रियाकलाप का वर्णन करते हुये कवि कहता है—

'भीमसेन हँसी में, खेल-कूद में संलग्न कौरवों को पकड़ कर कहीं छिप जाते थे। कभी उनके सिर पकड़कर पाण्डवों से लड़ा देते थे। धृतराष्ट्र के एक सौ एक कुमार बड़े बलवान् थे, किन्तु भीमसेन कष्ट उठाये बिना अकेले ही उन सबको अपने वश में कर लेते थे—

हर्षात् प्रक्रीडमानांस्तान् गृह्य राजन् निलीयते।
शिरःसु विनिगृह्यैतान् योधयामास पाण्डवैः॥
शतमेकोत्तरं तेषां कुमाराणां महौजसाम्।
एक एव निगृह्णाति नातिकृच्छ्राद् वृकोदरः॥[2]

बालकों के समूह में ऐसा भी देखने में आता है कि नटखट एवं बलिष्ठ बच्चे दूसरे बच्चों का बाल पकड़कर भी खींच लेते हैं, उन्हें एक दूसरे से टकरा देते हैं और उन्हें पृथ्वी पर घसीट देते हैं, भले ही बच्चे चीखते-चिल्लाते क्यों न रहते हों। इस प्रकार घसीटने तथा टकराने आदि में उनके घुटने, कन्धे और मस्तक छिल जाते हैं। यह सब भीम भी करते थे—

कचेषु च निगृह्यैतान् विनिहत्य बलाद् बली।
चकर्ष क्रोशतो भूमौ धृष्टजानुशिरोंऽसकान्॥[3]

'जल-क्रीड़ा करते समय भीम अपनी दोनों भुजाओं से धृतराष्ट्र के दस बच्चों को पकड़ लेते थे और देर तक पानी में गोते लगाते थे। जब वे बच्चे अधमरे से हो जाते थे, तब उन्हें छोड़ देते थे—

दश बालाञ्जले क्रीडन् भुजाभ्यां प्रतिगृह्य सः।
आस्ते स्म सलिले मग्नो मृतकल्पान् विमुञ्चति॥[4]

जब बालकौरव वृक्ष पर चढ़कर फल तोड़ने लगते तब भीम पैर से ठोकर मार कर उन पेड़ों को हिला देते थे। उनके वेगपूर्वक प्रहार से आहत होकर वे वृक्ष हिलने लगते थे और उन पर चढ़े हुए धृतराष्ट्रकुमार भयभीत होकर फलों सहित नीचे गिर पड़ते थे—

---

१. महाभारत, आदिपर्व १२७/१६ २. वही, १२७/१७–१८
३. वही, १२७/१९ ४. वही, १२७/२०

फलानि वृक्षमारुह्य विचिन्वन्ति च ते यदा ।
तदा पादप्रहारेण भीमः कम्पयते द्रुमान् ।।
प्रहारवेगाभिहता द्रुमा व्याघूर्णितास्ततः ।
सफलाः प्रपतन्ति स्म द्रुतं त्रस्ताः कुमारकाः ।।[1]

खिलाड़ी बच्चों में परस्पर होड़ भी होती है । कभी व्यक्तिगत होड़ होती है, तो कभी एक वर्गीय तो कभी सामूहिक । धृतराष्ट्र के पुत्र एक होकर भीमसेन से लाग-डाँट रखते थे । पर कुश्ती में, दौड़ लगाने में तथा शिक्षा के अभ्यास में होड़ लगाने पर भी धृतराष्ट्रकुमार कभी भी भीमसेन की बराबरी नहीं कर पाते थे—

न ते नियुद्धे न जवे न योग्यासु कदाचन ।
कुमारा उत्तरं चक्रुः स्पर्धमाना वृकोदरम् ।।[2]

जब धृतराष्ट्र के पुत्र भीमसेन से स्पर्धा रखते थे, तो चञ्चल स्वभाव वाले भीमसेन कहाँ मानने वाले थे । वे भी धृतराष्ट्रपुत्रों से स्पर्धा रखते थे और वे ऐसे काम करते थे, जो कौरवों के अप्रिय थे । परन्तु भीम के मन में कौरवों के प्रति द्वेष नहीं था । वे बालस्वभाव के कारण ही वैसा करते थे—

एवं स धार्तराष्ट्रांश्च स्पर्धमानो वृकोदरः ।
अप्रियेऽतिष्ठदत्यन्तं बाल्यान्न द्रोहचेतसा ।।[3]

यह दुर्भाग्य ही था कि कौरवों में धृतराष्ट्र का सबसे बड़ा पुत्र दुर्योधन स्वभावतः बड़ा दुष्ट था । वह भीमसेन के विख्यात बल से चिढ़ता था । अतः उनके प्रति द्वेष-भाव रखने लगा । उसे धर्म से कुछ लेना-देना नहीं था और उसकी दृष्टि सदा पापकर्मों पर ही थी । ऐश्वर्य के लोभ-वश उसके मन में पापपूर्ण विचार भर गये थे ।[4]

अपने षड्यन्त्रकारी विचार के कारण वह मध्यम पाण्डुपुत्र भीमसेन को धोखा देकर कैद करने की भी सोचने लगा । उसने अपने भाइयों से यह भी विचार किया कि 'नगरोद्यान' में जब भीमसेन सो जायँ तब उन्हें उठाकर हम लोग गंगा जी में फेंक दें और उसके बाद छोटे भाई अर्जुन तथा बड़े भाई युधिष्ठिर को बलपूर्वक कैद में डालकर मैं अकेला ही पृथ्वी का शासक बनूँगा ।' इस प्रकार सोच-विचारकर वह पापी दुर्योधन भीमसेन का अनिष्ट करने के लिए सदा मौका ढूँढ़ता था ।[5]

तदनन्तर दुर्योधन ने गंगातट पर जल-विहार के लिए ऊनी और सूती कपड़ों से विचित्र और विशाल गृह तैयार कराया और उसका नाम 'उदकक्रीडन' रखा ।

---

१. महाभारत, आदिपर्व १२७/२१–२२ २. वही, १२७/२३
३. वही, १२७/२४ ४. वही, १२७/२५–२६ ५. वही, १२७/३०

वहाँ उसने विविध प्रकार के भोज्य-पदार्थों को तैयार कराया। तदनन्तर कपटपूर्वक पाण्डवों को निमन्त्रित करते हुए उसने कहा कि 'आज हम लोग भाँति-भाँति के उद्यानों एवं वनों से सुशोभित गंगाजी के तट पर चलें। वहाँ हम सब भाई एक साथ जल-विहार करेंगे—

गङ्गां चैवानुयास्याम उद्यानवनशोभिताम्।
सहिता भ्रातरः सर्वे जलक्रीडामवाप्नुमः॥[1]

युधिष्ठिर ने 'एवमस्तु' कहकर दुर्योधन की बात मान ली। वहाँ उदक-क्रीडन में पहुँचकर कौरव और पाण्डव एक दूसरे के मुख में खाद्य वस्तुयें डालने लगे—

अथोद्यानवरे तस्मिंस्तथा क्रीडागताश्च ते।
परस्परस्य वक्त्रेभ्यो ददुर्भक्ष्यांस्ततस्ततः॥[2]

ऐसा प्रायः देखा जाता है कि बच्चे सामूहिक जलपान अथवा भोज में भी अपनी चंचलता नहीं छोड़ते। वे हँसी-खुशी में एक दूसरे को खिलाते भी हैं। ऐसा बाल-कौरव-पाण्डव भी कर रहे थे।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि दुर्योधन स्वभावतः दुष्ट और क्रूर था तथा पाण्डवों के प्रति ईर्ष्यालु था। अतः बालक्रीड़ा के समय भी वह अपने स्वभाव के अनुसार ही कार्य करता था।

सामूहिक भोजन के अवसर पर उसने भीमसेन को मार डालने की इच्छा से भीमसेन के भोजन में 'कालकूट' नामक विष डलवा दिया और उसने स्वयं भीमसेन को खाने के लिए विषमिश्रित भोजन परस दिया। भीमसेन सब खा गये।[3]

जब भीम खा गये तो दुर्योधन मन ही मन हँसता हुआ अपने आप को कृतार्थ मानने लगा—

ततो दुर्योधनस्तत्र हृदयेन हसन्निव।
कृतकृत्यमिवात्मानं मन्यते पुरुषाधमः॥[4]

ऐसा अन्यत्र भी देखा जाता है कि हँसी-हँसी में कोई बच्चा अथवा व्यक्ति किसी के प्रति ऐसा रहस्यमय कार्य कर देता है, जिसे (रहस्यमय कार्य को) व्यक्ति-विशेष नहीं जान पाता। ऐसी स्थिति में वह स्वयं प्रसन्न होता है और दूसरे को भी प्रसन्न होने का अवसर देता है। पर दुर्योधन का उक्त कार्य निश्चित ही बालक्रीडा की आचार संहिता के सर्वथा विरुद्ध है।

भोजन के पश्चात् सभी ने मिलकर प्रसन्नतापूर्वक जलक्रीडा की—

---

१. महाभारत, आदिपर्व १२७/३६ २. वही, १२७/४४
३. वही, १२७/४५–४७ ४. वही, १२७/४८

ततस्ते संहिताः सर्वे जलक्रीडामकुर्वत ।
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च तदा मुदितमानसा ।।[१]

उसके बाद थककर तथा विष के मद से अभिभूत होकर भीम के निश्चेष्ट हो कर सो जाने पर, दुर्योधन ने अपनी योजना के अनुसार, उन्हें ऊँचे तट से गंगा जी में ढकेल दिया।[२] भीम जल के भीतर डूबकर नागलोक में पहुँच गये, जहाँ नागों ने उन्हें इतना डँसा कि उनका सारा विष उतर गया। भीम को जब होश आया तो उन्होंने अपने शरीर के बन्धनों को तोड़कर नागों को पटक-पटक कर मार डाला। अन्त में बचे हुए नागों के निवेदन पर नागराज के आदेश से भीम को महाकुण्डों का रस प्रदान किया गया। वे एक ही साँस में एक कुण्ड का रस पी जाते थे। वे आठ कुण्डों का रस पीकर नागों द्वारा दी गयी शैय्या पर सुखपूर्वक सो गये।

१२८वें अध्याय में समस्त कौरव-पाण्डवों ने भीम के बिना ही हस्तिनापुर को प्रस्थान किया। दुर्योधन तो सब कुछ जानता था। इसलिये वह भीमसेन के न आने पर बेहद प्रसन्न था। धर्मात्मा युधिष्ठिर को दुर्योधन के षड्यन्त्र का कुछ पता नहीं चला। हस्तिनापुर पहुँचने पर भीम के विषय में युधिष्ठिर की चिन्ता में, वियोगजनित वात्सल्य के दर्शन होते हैं। इसी प्रकार माता कुन्ती की भीम विषयक-चिन्ता में अपूर्व ममतामय वात्सल्य भरा है। कुन्ती से मिलने पर भीम के प्रति युधिष्ठिर की चिन्ता दर्शनीय है। वे अपनी माता से कहते हैं—

माता ! वह (भीम) कहाँ गया होगा ? शुभे ! यहाँ भी तो मैं उसे नहीं देख पा रहा हूँ। वहाँ हम लोगों ने भीमसेन के लिये उद्यान और वन का कोना-कोना खोज डाला। फिर भी जब वीरवर भीम को हम देख न सके, तब सबने यही समझ लिया कि वह हम लोगों से पहले ही चला गया होगा।[३]

भीम के न आने का समाचार जानकर ममतामयी माता कुन्ती का हृदय व्याकुल हो गया। युधिष्ठिर के यह कहने पर कि जहाँ मैं भीमसेन को सोया हुआ समझता था, वहीं किसी ने उसे मार तो नहीं डाला है ?

युधिष्ठिर के इस प्रकार कहते ही माता कुन्ती 'हाय-हाय' कहकर घबरा गयीं और युधिष्ठिर से बोलीं—"बेटा ! मैंने भीम को नहीं देखा है। वह मेरे पास आया ही नहीं"—

इत्युक्ता च ततः कुन्ती धर्मराजेन धीमता।
हा हेति कृत्वा सम्भ्रान्ता प्रत्युवाच युधिष्ठिरम् ।।
न पुत्र भीमं पश्यामि न मामभ्येत्यसाविति ।।[४]

---

१. महाभारत, आदिपर्व १२७/४९ २. वही, १२७/५४
३. वही, १२८/६-७ ४. वही, १२८/१०-११

युधिष्ठिर के द्वारा बुलाये गये विदुर से माता कुन्ती के ये शब्द कितने हृदयद्रावक हैं—

निहन्यादपि तं वीरं जातमन्युः सुयोधनः ।
तेन मे व्याकुलं चित्तं हृदयं दह्यतीव च ।।[1]

अतः सम्भव है, वह क्रोध में वीर भीमसेन को धोखा देकर मार भी डाले । इसी चिन्ता से मेरा चित्त व्याकुल हो उठा है, हृदय दग्ध सा हो रहा है ।

इधर नागों से सत्कारपूर्वक विदा होकर, भीम अपनी माता के पास गये । महाबली भीम के मिलन का वह अवसर नितान्त आनन्दमय हो गया । एक प्रकार से वह (अवसर) वात्सल्य प्रेम का केन्द्र सा बन गया । भीम ने अपनी माता तथा बड़े भाई को प्रणाम किया । तदनन्तर अपने छोटे भाइयों का सिर सूँघा ।

बड़े द्वारा अपने से छोटे का सिर सूँघना, वात्सल्य प्रेम का व्यंजक है । वात्सल्य-स्नेहवश छोटे के सिर सूँघने की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है ।

भीम के आगमन से माता तथा भीम के भाइयों का हृदय इतना आनन्दित हो गया कि माता तथा युधिष्ठिर आदि भाइयों ने उन्हें (भीम को) गले लगाया । परस्पर स्नेह के कारण सबने भीम के आगमन से अपने सौभाग्य की 'अहोभाग्य' 'अहोभाग्य' कहकर सराहना की—

तैश्चापि सम्परिष्वक्तः सह मात्रा नरर्षभैः ।
अन्योन्यमतिसौहार्दाद् दिष्ट्या दिष्ट्येति चाब्रुवन् ।।[2]

इस प्रकार पाण्डवों तथा कौरवों के शैशव से सम्बद्ध प्रकरण समाप्त हुआ । महाभारत में अनेक स्थल पुत्रोत्पत्ति आदि से सम्बद्ध हैं । सम्पूर्ण आदिपर्व आंशिक रूप से जन्म की कथाओं से भरा है । उसमें महर्षि च्यवन एवं विनता के पुत्रों के जन्म, शकुन्तला के जन्म, उनके (शकुन्तला के) पुत्र के जन्म, ययाति और शर्मिष्ठा के पुत्रों के जन्म, शान्तनु के जन्म, भीष्म के जन्म, चित्रांगद तथा विचित्रवीर्य की उत्पत्ति, धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा विदुर की उत्पत्ति, कृपाचार्य, द्रोण तथा अश्वत्थामा की उत्पत्ति, घटोत्कच की उत्पत्ति, धृष्टद्युम्न और द्रौपदी की उत्पत्ति, अर्जुन, चित्रांगद के पुत्र की उत्पत्ति, अभिमन्यु की उत्पत्ति, जरिता-शार्ङ्गिका के पुत्रों की उत्पत्ति आदि का विवरण है । एक दो की चर्चा कर देना समीचीन होगा ।

महाभारत के आदिपर्व के ७४वें अध्याय में, शकुन्तला के गर्भ से एक पुत्र की उत्पत्ति का वर्णन है । उस पुत्र की उत्पत्ति दुष्यन्त-शकुन्तला के सम्पर्क से

---

१. महाभारत, आदिपर्व १२८/१६ २. वही, १२८/३१

हुई थी। वह नवजात शिशु प्रज्वलित अग्नि के समान तेजस्वी, रूप एवम् उदारता आदि गुणों से सम्पन्न अमित पराक्रमी था।[1] पुत्र-जन्म के समय आकाश से पुष्पवृष्टि हुई। देव-दुन्दुभि बजी, अप्सराओं ने नृत्य किये तथा गाने गाये। उस समय इन्द्रादि देवों ने उस बालक के सुन्दर भविष्य का विवरण दिया। उसे सुनकर कण्व के आश्रम के सभी महर्षियों ने शकुन्तला के भाग्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की। शकुन्तला तो पुत्र की जननी थी। अतः अपने पुत्र का गुण-गौरव सुनकर वह आनन्दविभोर हो गयी—

'शकुन्तला च तच्छ्रुत्वा परं हर्षमवाप सा।'[2]

महर्षि कण्व ने ब्राह्मणों को बुलाकर नवजात शिशु के जातकर्म आदि संस्कारों का विधान किया। वह बालक दिनानुदिन बढ़ने लगा—

जातकर्मादिसंस्कारं कण्वः पुण्यकृतां वरः।
विधिवत् कारयामास वर्धमानस्य धीमतः॥[3]

बच्चों के मुख में जब छोटे-छोटे और नुकीले सफेद दाँत निकल जाते हैं तब उनके मुख बहुत अच्छे लगते हैं। वह नवजात शिशु भी सफेद और नुकीले दाँतों से शोभा पा रहा था। उसके शरीर का गठन सिंह के समान था। उसके हाथों में चक्र के चिह्न थे। वह अद्भुत शोभा से सम्पन्न विशाल मस्तक वाला और महान् बलवान् था—

दन्तैः शुक्लैः शिखरिभिः सिंहसंहननो महान्।
चक्राङ्कितकरः श्रीमान् महामूर्धा महाबलः॥[4]

शकुन्तला का वह पुत्र देवताओं के समान था और वह अति शीघ्रतापूर्वक बढ़ने लगा। छः वर्ष की अवस्था में ही वह आश्रम के सिंहों, व्याघ्रों, वराहों, भैंसों तथा हाथियों (के बच्चों) को पकड़कर खींच लाता और आश्रम के समीपवर्ती वृक्षों में बाँध देता था—

कुमारो देवगर्भाभः स तत्राशु व्यवर्धत।
षड्वर्ष एव बालः स कण्वाश्रमपदं प्रति॥
सिंहव्याघ्रान् वराहांश्च महिषांश्च गजांस्तथा।
बबन्ध वृक्षे बलवानाश्रमस्य समीपतः॥[5]

उक्त प्रकरण में बालकों की स्वाभाविक क्रीडा-प्रवृत्ति का सहज चित्रण है। बालक अपनी शैशवावस्था में इसी प्रकार पशु-पक्षियों के बच्चों को पकड़ कर तथा उनको परेशान कर अपना मनोविनोद करते हैं।

---

१. महाभारत, आदिपर्व (सम्भवपर्व) ७४/१–२
२. वही, अध्याय ७४, पृष्ठ २१७ ३. वही ७४/३
४. वही, ७४/४ ५. वही, ७४/५–६

'वह बालक इतना नटखट था कि पशु-शावकों को पकड़-पकड़ कर उनका दमन करते हुए, उनकी पीठ पर चढ़ जाता था और क्रीडा करते हुये उन्हें सब ओर दौड़ाता हुआ स्वयं भी दौड़ता था। सभी का दमन कर देने के कारण उसका नाम 'सर्वदमन' रख दिया गया—

आरोहन् दमयंश्चैव क्रीडैश्च परिधावति।
ततोऽस्य नाम चक्रुस्ते कण्वाश्रमनिवासिनः॥
अस्त्वयं सर्वदमनः सर्वं हि दमयत्यसौ।
स सर्वदमनो नाम कुमारः समपद्यत॥[1]

सर्वदमन जब बड़ा हो गया तो, पिता कण्व ने शकुन्तला को, पुत्रसहित पतिगृह जाने का परामर्श दिया। शकुन्तला कण्व की धर्म-दुहिता थी। अतः 'सर्वदमन' उनका दौहित्र (नाती) था। पौत्र-पौत्री तथा दौहित्र-दौहित्री (नाती-नातिन) पर दादा-दादियों का अत्यधिक स्नेह होता है। अतः सर्वदमन के प्रति कण्व का भी वैसा ही स्नेह था। शकुन्तला की विदायी के प्रसंग में अपने नाती (सर्वदमन) के वियोग को सोचकर कण्व का वात्सल्य-स्नेह उमड़ पड़ा और उन्होंने सर्वदमन को कसकर अपनी दोनों बाहों में पकड़कर तथा अपनी गोद में भरकर उसका मस्तक सूँघ लिया—

एवमुक्त्वा सुतां तत्र पौत्रं कण्वोऽभ्यभाषत।
परिष्वज्य च बाहूभ्यां मूर्ध्निर्युपाघ्राय पौरवम्॥[2]

शकुन्तला को पतिगृह पहुँचाने के लिये जब कण्व ने आश्रमनिवासी मुनियों को बुलाया तो, शकुन्तला के प्रति उनका वात्सल्य, कारुण्य से अभिभूत हो गया। उन्होंने मुनियों से जो कुछ कहा, उसमें उनका वात्सल्य सजीव हो जाता है—

मया तु लालिता नित्यं मम पुत्री यशस्विनी।
वने जाता विवृद्धा च न च जानाति किंचन॥
अश्रमेण यथा सर्वैर्नीयतां क्षत्रियात्ययम्।[3]

'महर्षियों! यह मेरी यशस्विनी पुत्री वन में उत्पन्न हुई और यहीं पलकर इतनी बड़ी हुई है। मैंने सदा इसे लाड़-प्यार किया है। उसी वात्सल्य से ओत-प्रोत होकर कण्व ने अपने दौहित्र सर्वदमन और अपनी धर्मपुत्री को अपना अलौकिक स्नेह देकर उन दोनों को तथा स्वयं अपने वात्सल्य को कृतार्थ किया।

महाभारत के आदिपर्व के (हरणाहरण पर्व के) अन्तर्गत २२० वें अध्याय में अभिमन्यु के जन्म का उल्लेख है। वैशम्पायन के अनुसार अर्जुन की पत्नी तथा

१. महाभारत, आदिपर्व ७४/७-८ २. वही, अध्याय, ७४ पृ० २१९
३. वही, अध्याय ७४, पृष्ठ २२०

श्रीकृष्ण की प्रिय बहिन सुभद्रा ने यशस्वी 'सौभद्र' को वैसे ही उत्पन्न किया जैसे शची ने जयन्त को उत्पन्न किया था—

ततः सुभद्रा सौभद्रं केशवस्य प्रिया स्वसा ।
जयन्तमिव पौलोमी ख्यातिमन्तमजीजनत् ।।[१]

'उस पुत्र की आँखें बड़ी-बड़ी और बैलों के समान विशाल थीं। उसका वक्षस्थल विस्तृत था और वह शत्रुओं का दमन करने वाला था।[२]

वह 'अभी' (निर्भय) एवं मन्युमान (क्रुद्ध होकर लड़ने वाला) था। इसी लिये अर्जुन ने उसका नाम 'अभिमन्यु' रखा—

अभीश्च मन्युमांश्चैव ततस्तमरिमर्दनम् ।
अभिमन्युमिति प्राहुरार्जुनिं पुरुषर्षभम् ।।[३]

'चूंकि अभिमन्यु पौत्र के रूप में उत्पन्न हुये थे अतः सर्वत्र आनन्द छा गया। युधिष्ठिर ने ब्राह्मणों को दस हजार गायें और बहुत सी स्वर्णमुद्रायें दान में दीं—

यस्मिञ्जातो महातेजाः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
अयुतं गा द्विजातिभ्यः प्रादान्निष्कांश्च भारत ।।[४]

'चूंकि अभिमन्यु श्रीकृष्ण के भाञ्जे थे और समस्त पितरों और प्रजाओं के लिये चन्द्रमा जैसे प्रिय थे। अतः वे बचपन से ही भगवान् कृष्ण के अत्यन्त प्रिय हो गये।[५]

जहाँ तक नवजात अभिमन्यु के लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा का प्रश्न है, उसके विषय में श्रीकृष्ण ने जन्म से ही अभिमन्यु के लालन-पालन की सुन्दर व्यवस्थायें की और बालक अभिमन्यु शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की भाँति बढ़ने लगे। उन्होंने वेदों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद अपने पिता अर्जुन से धनुर्वेद-ज्ञान, अस्त्र-विज्ञान आदि की शिक्षा प्राप्त की।[६]

अभिमन्यु में रूप और गुण का सुन्दर समन्वय था। उनमें सिंह के समान गर्व एवं मत्तगजराज के समान पराक्रम था। उनका गम्भीर स्वर मेघ और दुन्दुभि के ध्वनि को लजा देता था और सुन्दर मुख तो परिपूर्ण चन्द्रमा को भी लजा देता था। अभिमन्यु को देखने पर ऐसा लगता था कि वे अपने मामा श्रीकृष्ण के प्रतिरूप हों क्योंकि अभिमन्यु की शूरता, पराक्रम, रूप तथा आकृति आदि श्रीकृष्ण के समान ही थी।[७]

---

१. महाभारत, आदिपर्व (हरणाहरण पर्व) अध्याय २२०/६५
२. वही, २२०/६६
३. वही, २२०/६७
४. वही, २२०/६९
५. वही, २२०/७०
६. वही, २२०/६२–६३
७. वही, २२०/७६–७७

उसी अध्याय में द्रौपदी के पाँचों पतियों से पुत्रों के उत्पन्न होने का भी वर्णन किया गया है। युधिष्ठिर से प्रतिविन्ध्य, भीमसेन से सुतलोम, अर्जुन से श्रुतकर्मा, नकुल से शतानीक और सहदेव से श्रुतसेन। पाँचों बालकों के नाम अनुवर्थक थे, क्योंकि वे सोचसमझकर रखे गये थे। उन सभी पुत्रों के जातकर्म, चूडाकरण और उपनयन संस्कार पुरोहित धौम्य ने किया। यहाँ यह स्मरणीय है कि वे सभी पुत्र एक-एक वर्ष के अन्तराल से पैदा हुए थे। धौम्य मुनि ने ही उन्हें वेद पढ़ाया और अर्जुन ने धनुर्वेद का ज्ञान कराया।[1]

महाभारत में बालोत्पत्ति के और अनेक सन्दर्भ हैं। उनमें भी शिशुक्रीडा, शिशुचेष्टा तथा शिशुलीला आदि के लिये कोई उल्लेखनीय स्थान नहीं है। जहाँ तक पाण्डु-पुत्रों एवं धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन के शैशव-चित्रण का प्रश्न है, उसके विषय में ऊपर बहुत कुछ कहा जा चुका है। इतना अवश्य है कि बालक्रीड़ा के सन्दर्भ में ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कौरवों और पाण्डवों के बीच परस्पर वैमनस्य की बुनियाद है। शिशुक्रीडा की दृष्टि से भीमसेन की उद्धत क्रीडायें अवश्य आकर्षक हैं। उसमें उनका अद्भुत पराक्रम और विशालकायता प्रतिबिम्बित होती है। एक प्रकार से बाल पाण्डवों और कौरव (दुर्योधन) की क्रीडा में भीमसेन ही नायक (HERO) हैं।

महाभारत के जन्म-वृत्तान्त प्रायः अलौकिक तथा अतिरंजित हैं। वात्सल्य-चित्रण महाभारत में वाल्मीकि-रामायण जैसा नहीं हुआ है।

श्रीमद्भागवत में शैशव-चित्रण

संस्कृत वाङ्मय का पौराणिक साहित्य अत्यन्त विशाल तथा व्यापक है। भारतीय संस्कृति, धर्म, इतिहास और भूगोल आदि के ज्ञान के लिये पुराणों का ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। भारतीय जन-जीवन पर पुराणों का अत्यन्त प्रभाव है। पुराणों को पृथक् कर भारतीय धर्म, संस्कृति के अतिरिक्त प्राचीन इतिहास तथा भूगोल आदि का ज्ञान करना अत्यन्त दुःसाध्य है। जहाँ तक पुराणों की संख्या का प्रश्न है, उसके विषय में मतमतान्तर हैं। लेकिन निम्नांकित अठारह पुराण, जिन्हें महापुराण भी कहा जाता है, सर्वमान्य हैं—(१) ब्रह्मपुराण (२) पद्मपुराण (३) विष्णुपुराण (४) वायुपुराण (५) श्रीमद्भागवत (६) नारद पुराण (७) मार्कण्डेय पुराण (८) अग्निपुराण (९) भविष्यपुराण (१०) ब्रह्मवैवर्तपुराण (११) लिंगपुराण (१२) वराहपुराण (१३) स्कन्द-पुराण

१. महाभारत, आदिपर्व २२०/७८ से ८८ तक

(१४) वामनपुराण (१५) कूर्मपुराण (१६) मत्स्यपुराण (१७) गरुड-पुराण (१८) ब्रह्माण्डपुराण।[1]

वेदव्यास

पुराणों के रचयिता के रूप में महर्षि वेदव्यास सर्वमान्य हैं। उनके विषय में ऊपर कहा जा चुका है।

श्रीमद्भागवत

भागवत के नाम से दो पुराण—(१) श्रीमद्भागवत तथा (२) देवी-भागवत उपलब्ध होते हैं। दोनों में से कौन महापुराण है ? यह प्रश्न भी उपस्थित होता है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने श्रीमद्भागवत को अठारह महापुराणों में परिगणित किया है।[2]

दोनों पुराणों में अनेक समानतायें भी हैं। पर दोनों में बहुत अन्तर भी है। शक्ति प्राधान्य के कारण देवी भागवत का तथा शक्तिमान् के प्राधान्य से श्रीमद्भागवत का महत्त्व है।[3]

श्रीमद्भागवत में कुल बारह स्कन्ध हैं। प्रथम स्कन्ध का प्रारम्भ 'शौनक' आदि ऋषियों के प्रश्न से होता है। इसमें भगवद्भक्ति के माहात्म्य, भगवान् के विभिन्न अवतार, कृष्ण का द्वारका-गमन तथा विदुर के उपदेश से गान्धारी का वन में जाना आदि वर्णित है। द्वितीय में भगवान् के विराट् स्वरूप आदि के वर्णन के साथ भागवत के दश लक्षण अंकित हैं। तृतीय अंक में भगवान् की अन्य लीलाओं का वर्णन, सृष्टि का विस्तार, अष्टांग योगविधि आदि का उल्लेख हुआ है। चतुर्थ में सती के यज्ञ-प्रवेश, ध्रुव-वंश आदि विविध विषयों का वर्णन है। अन्त में प्रचेताओं को नारद के उपदेश और उनके परम पद के लाभ वर्णन से स्कन्ध समाप्त होता है। पंचम में अनेक चरित्रों के वर्णन के साथ भुवन-कोश, भारतवर्ष आदि का वर्णन किया गया है। षष्ठ स्कन्ध अजामिलोपाख्यान से प्रारम्भ होता है और उसमें भगवान् के प्रादुर्भाव, वृत्रासुर का वध तथा अदिति एवं दिति की सन्तानों का वर्णन आदि है। सप्तम स्कन्ध नारद-युधिष्ठिर के संवाद से प्रारम्भ होता है। उसमें हिरण्याक्ष का वध, नृसिंह भगवान् का आविर्भाव तथा गृहस्थ के लिए मोक्ष-धर्म आदि का चित्रण है। अष्टम स्कन्ध मन्वन्तरों से प्रारम्भ

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय : पुराण विमर्श-चतुर्थ परिच्छेद

२. आचार्य बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास : पृष्ठ ११३-११४

३ डॉ० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी : पुराणालोचनम्, गवेषणात्मक भाग, पृ० २००

होता है। उसमें समुद्रमन्थन, देवासुर-संग्राम, वामन भगवान् का प्रकट होना, भगवान् वामन का बलि से तीन पग पृथ्वी माँगना तथा अन्त में बलि का वध वर्णित है। नवम स्कन्ध अनेक चरित्रों तथा अनेक वंश-वर्णनों से भरा है।

श्रीमद्भागवत का दशम स्कन्ध सबसे महत्त्वपूर्ण है। उसमें वसुदेव-देवकी विवाह, कंस द्वारा देवकी के छह पुत्रों की हत्या, भगवान् कृष्ण का प्रादुर्भाव, गोकुल में कृष्ण का जन्म-महोत्सव तथा बालकृष्ण की अनेक अद्भुत लीलाओं, रास-लीलाओं आदि का सजीव एवं विस्तृत वर्णन है। इसी में पूतना, अघासुर जरासन्ध आदि का उद्धार भी वर्णित है। श्रीकृष्ण के साथ बलराम आदि का वर्णन भी इसी स्कन्ध में है। श्रीकृष्ण-रुक्मिणी विवाह आदि के साथ अन्त में कृष्ण के लीला-विहार का चित्रण है।

एकादश स्कन्ध में, ब्रह्म तथा कर्मयोग का निरूपण, भगवान् के विभिन्न अवतार, भक्तलक्षण एवं ज्ञान-कर्म-भक्ति-योग का निरूपण आदि प्रमुख हैं। अन्तिम द्वादश स्कन्ध में कलियुग के धर्म तथा कलियुग के दोषों से बचने के उपाय आदि वर्णित हैं।

प्रकृत-विषय की दृष्टि से दशम स्कन्ध महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसी स्कन्ध में कृष्ण का जन्म तथा उनकी बाल-लीलाओं आदि का वर्णन है। इसी में संयोग-वात्सल्य तथा वियोग-वात्सल्य के भी अनेक चित्र हैं। वैसे इसमें और भी जन्मोत्सव एवं वात्सल्य सम्बन्धी सन्दर्भ हैं, परन्तु वे गौण रूप से प्रतिपादित हैं।

श्रीमद्भागवत भक्ति का प्रतिपादक अपूर्व ग्रन्थरत्न है। वैष्णव धर्म में श्रीमद्भागवत का विशेष आदर है। इसके महत्त्व का आकलन इसी से किया जा सकता है कि इस ग्रन्थ के रहस्य के उद्घाटन के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण टीकायें लिखी गयी हैं। अद्वैत तत्त्व के प्रतिपादन, परब्रह्म के विभिन्न अवतारों के वर्णन तथा मुक्ति की साधनभूत भक्ति के प्रतिपादन में इस ग्रन्थ की भूमिका नितान्त महत्त्वपूर्ण है। 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' यह लोकप्रसिद्ध उक्ति श्रीमद्भागवत के अपूर्व माहात्म्य का प्रकाशन करती है।

सम्प्रति शैशव-चित्रण तथा वात्सल्य-अंकन की दृष्टि से इस ग्रन्थ का परीक्षण कर लेना उचित है।

श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के तृतीय अध्याय में श्रीकृष्ण के जन्म (प्राकट्य) का प्रसंग आया है। सर्वविदित है कि कंस ने वसुदेव और देवकी दोनों को कारागार में डाल दिया था। उसी कारागार में ही श्रीकृष्ण का जन्म हुआ था। कृष्ण का जन्म क्या था वह तो परमात्मा का अवतार ही था।

इतना अवश्य है कि उस अवतार को कृष्ण के रूप में देवकी के गर्भ से जन्म लेना था ।

दशम स्कन्ध के द्वितीय अध्याय में शुक के वर्णनानुसार 'भगवान्' वसुदेव के मन में, अपनी समस्त कलाओं के साथ, प्रकट हो गये । उस ज्योतिर्मय अंश को, जो जगत् का परम मंगल करने वाला है, वसुदेव जी के द्वारा आधान किये जाने पर, देवकी ने ग्रहण किया । जैसे पूर्व दिशा चन्द्रदेव को धारण करती है, वैसे ही शुद्ध सत्त्व से सम्पन्न देवी देवकी ने, विशुद्ध मन से सर्वात्मा एवं आत्मस्वरूप भगवान् को धारण किया ।'[1]

बन्दीगृह में देवकी के गर्भ में भगवान् विराजमान हो गये थे । उनके मुख पर पवित्र मुसकान थी और उनके शरीर की कान्ति से बन्दीगृह जगमगाने लगा था । कंस के मन में यह शंका बलवती हो गयी थी कि—उसके प्राणों के ग्राहक विष्णु ने उस गर्भ में प्रवेश कर लिया है ।[2]

श्रीकृष्ण के जन्म (प्रादुर्भाव) होने के समय दिशायें स्वच्छ और प्रसन्न थीं । निर्मल आकाश में तारे जगमगा रहे थे । सभी ग्राम, नगर एवं बस्तियाँ मंगलमय हो गयीं । नदियों का जल निर्मल हो गया । रात्रि में भी सरोवरों में कमल खिल गये । वृक्षों में पुष्प विकसित हो गये । भौंरे तथा पक्षी चहकने लगे । आनन्दकर, शीतल, मन्द तथा सुगन्ध वायु बहने लगी । अग्निहोत्रों की अग्नियाँ धधकने लगीं ।[3]

सबसे बड़ी प्रसन्नता तो सन्तों और देवताओं को हुई । जिस समय भगवान् के प्रादुर्भाव का समय आया, सन्तों का हृदय प्रसन्नता से भर गया और स्वर्ग में देवताओं की दुन्दुभियाँ अपने-आप बज उठीं । किन्नर और गन्धर्व मधुर स्वर में गाने लगे । सिद्ध और चारण भगवान् के मंगलमय गुणों की स्तुति करने लगे । विद्याधरियाँ अप्सराओं के साथ नाचने लगीं । बड़े-बड़े देवता और मुनि आनन्दित होकर पुष्पों की वृष्टि करने लगे । जल से भरे हुए बादल समुद्र के पास जाकर धीरे-धीरे गर्जन करने लगे—

> मनांस्यासन् प्रसन्नानि साधूनामसुरद्रुहाम् ।
> जायमानेऽजने तस्मिन् नेदुर्दुन्दुभयो दिवि ।।
> जगुः किन्नरगन्धर्वास्तुष्टुवुः सिद्धचारणाः ।
> विद्याधर्यश्च ननृतुरप्सरोभिः समं तदा ।।

---

१. श्रीमद्भागवत स्कन्ध १०, अध्याय २, श्लोक १८
२. वही, १०/२/२०
३. वही, १०/३/१–४

मुमुचुर्मुनयो देवाः सुमनांसि मुदान्विताः ।
मन्दं मन्दं जलधरा जगर्जुरनुसागरम् ।।[१]

'जनार्दन' के अवतार के रूप में श्रीकृष्ण के प्रादुर्भाव के अवसर पर रात्रि का समय था। घनघोर-अन्धकार छाया हुआ था। उसी समय सबके हृदय में विराजमान भगवान् विष्णु देवरूपिणी देवकी के गर्भ से प्रकट हुए, मानो पूर्व दिशा में सोलहों कलाओं से पूर्ण चन्द्रमा का उदय हो गया हो।[२]

महान् लोग शुभ दिन एवं घड़ी में जन्म लेते हैं। श्रीकृष्ण के जन्म का समय भी शुभ गुणों से युक्त था। रोहिणी नक्षत्र था। आकाश के सभी नक्षत्र, ग्रह और तारे शान्त सौम्य रहे—

अथ सर्वगुणोपेतः कालः परमशोभनः ।
यर्ह्येवाजनजन्मर्क्षं शान्तर्क्षग्रहतारकम् ।।[३]

आगे श्रीशुक के कथनानुसार पिता वसुदेव अपने सामने एक ऐसा अद्‌भुत बालक देखता हैं, जिसके नेत्र कमल के समान कोमल और विशाल हैं। चार सुन्दर हाथों में शंख, गदा, चक्र एवं कमल विराजमान हैं। वक्षःस्थल पर श्रीवत्स का चिह्न, अत्यन्त सुन्दर सुवर्णमयी रेखा है। गले में कौस्तुभ मणि झिलमिला रही है। बालक का शरीर वर्षाकालीन मेघ के समान परम सुन्दर एवं श्यामल है। उस पर पीताम्बर फहरा रहा है। सुन्दर-सुन्दर घुंघराले बाल चमक रहे हैं। कमर में करधनी की लड़ियाँ लटक रही हैं। बाहों में बाजूबन्द और कलाइयों में कंकण शोभायमान हो रहे हैं। इन सब आभूषणों से सुशोभित बालक के अंग-अंग से अनोखी छटा छिटक रही है।[४]

पुत्र के जन्म पर हर माता-पिता को अपार हर्ष होता है। वसुदेव भी अपवाद नहीं थे। पर उन्होंने जब देखा कि मेरे पुत्र के रूप में स्वयं भगवान् ही पधारे हैं, तो सर्व प्रथम, उन्हें आश्चर्य हुआ, फिर आनन्द से उनकी आँखें खिल उठीं। उनका रोम-रोम परमानन्द में मग्न हो गया। श्रीकृष्ण का जन्मोत्सव मनाने की उतावली में उन्होंने उसी समय ब्राह्मणों को दस हजार गायों का संकल्प कर दिया—

स विस्मयोत्फुल्लविलोचनो हरिं
सुतं विलोक्यानकदुन्दुभिस्तदा ।
कृष्णावतारोत्सवसम्भ्रमोऽस्पृशन्
मुदा द्विजेभ्योऽयुतमाप्लुतो गवाम् ।।[५]

---

१. श्रीमद्भागवत, १०/३/५–७
२. वही, १०/३/८
३. वही, १०/३/१
४. वही, १०/३/९ तथा १०
५. वही, १०/३/११

सामान्य रूप से पुत्र-जन्म के अवसर पर माता-पिता की जो स्थिति होती है, वसुदेव की स्थिति उससे भिन्न थी, क्योंकि उनका पुत्र साधारण पुत्र नहीं था। वह तो अवतारी पुरुष था। वसुदेव अब साधारण पुत्र के साधारण पिता नहीं थे। वे अवतारी पुरुष के पिता बन गये थे। उनका बेटा अपनी अंगकान्ति से सूतिकागृह को जगमगा रहा था। उनके हृदय का भय इसलिये दूर हो गया, क्योंकि उन्हें यह निश्चय हो गया कि उनका बालक परम पुरुष परमात्मा ही है और उसका प्रभाव अमित है। वे बालक के पिता होने का गर्व तो कर सकते थे पर भगवान् के प्रभाव का अपलाप कैसे कर सकते थे ? अपनी बुद्धि स्थिर करके उन्होंने भगवान् के चरणों में अपना सिर झुका दिया और फिर हाथ जोड़कर भगवत्स्वरूप उस बालक की स्तुति करने लगे।[1]

कंस के भय से देवकी भी भीत थीं, अतः पुत्रोत्सव के समय उनके हृदय के आनन्द में बालक की रक्षा की चिन्ता का भी मिश्रण था। पर जब उन्होंने यह देखा कि उनके पुत्र में पुरुषोत्तम भगवान् के सभी लक्षण विद्यमान हैं, तब कंस से भयभीत होने पर भी वे पवित्र भाव से मुस्कराती हुई बाल भगवान् की स्तुति करने लगीं।[2]

वसुदेव और देवकी दोनों की स्तुति सुन लेने के बाद बालरूपधारी भगवान् ने कहा कि तुम दोनों (वसुदेव और देवकी) मेरे प्रति पुत्र-भाव तथा निरन्तर ब्रह्मभाव रखना। इस प्रकार वात्सल्य-स्नेह और चिन्तन के द्वारा तुम्हें मेरे परम पद की प्राप्ति होगी।[3]

जैसा कि सर्वविदित है, वसुदेव और देवकी कंस द्वारा बन्दीगृह में रखे गये थे। जब भगवान् ने माता-पिता के देखते ही देखते एक साधारण शिशु का रूप धारण कर लिया, तब पुत्र की रक्षा के लिये वसुदेव ने पुत्र को लेकर बाहर निकलने की इच्छा प्रकट की। उस समय सभी दरवाजे बन्द थे। पर योगमाया, जिसने यशोदा के गर्भ से, श्रीकृष्ण के जन्म के समय ही जन्म लिया था, के प्रभाव से पुत्र को लेकर वसुदेव को बाहर जाते समय, समस्त द्वारपालों और पुरवासियों की समस्त चेतना हर ली गयी। वसुदेव श्रीकृष्ण को गोद में लेकर ज्यों ही दरवाजे के पास पहुँचे, वे सभी दरवाजे अपने आप खुल गये।[3]

किसी प्रकार रात में ही वसुदेव श्रीकृष्ण को लेकर नन्द बाबा के गोकुल में पहुँच गये। उस समय सभी लोग प्रायः सो रहे थे। उन्होंने (वसुदेव ने), अपने पुत्र को यशोदा की शय्या पर सुला दिया और उनकी नवजात कन्या

---

१. श्रीमद्भागवत १०/३/१२ २. वही, १०/३/२३
३. वही, १०/३/४८।

(योगमाया) को लेकर बंदीगृह वापस चले आये। उन्होंने उस कन्या (योगमाया) को देवकी की शय्या पर सुला दिया तथा अपने पैरों में पूर्ववत् बेड़ियाँ लगा लीं। इस प्रकार वे पहले की तरह ही बन्दीगृह में बन्द हो गये।[1]

उधर यशोदा प्रसूति के समय अत्यधिक श्रान्त तथा योगमाया की माया के प्रभाव से अचेत होने के कारण यह न जान सकीं थी, कि उन्हें पुत्री हुई है या पुत्र।[2]

वसुदेव नन्द की नवजात पुत्री को लेकर बन्दीगृह में सकुशल लौट आये। तत्पश्चात् नवजात शिशु के रोने की आवाज सुनकर द्वारपालों की नींद टूटी। उन्होंने तुरन्त जाकर कंस को सूचना दे दी। परिणामतः वह बन्दीगृह में पहुँच गया। सन्तान चाहे पुत्र हो, चाहे पुत्री, माता का वात्सल्य-प्रेम दोनों के प्रति होता है। अपनी सन्तान, विशेषकर नवजात सन्तान को माता प्राणों से भी अधिक मानती और चाहती है। बेचारी देवकी के कई बच्चों को कंस ने पहले ही मार डाला था। इस बार भी उसके वहाँ पहुँचने पर देवकी को यह सोचते देर न लगी कि वह फिर नवजात शिशु की हत्या करने आया है। उनका करुण-वात्सल्य फूट पड़ा। शोक-विह्वल होकर मारे भय के वे कन्या को अपनी गोद में छिपा कर अत्यन्त दीन भाव से रोती हुई याचना करने लगीं—

> तमाह भ्रातरं देवी कृपणा करुणं सती।
> स्नुषेयं तव कल्याणं स्त्रियं मा हन्तुमर्हसि ॥
> नन्वहं ते ह्यवरजा दीना हतसुता प्रभो।
> दातुमर्हसि मन्दाया अङ्गेमां चरमां प्रजाम् ॥[3]

बन्दीगृह में पहुँचने पर सती देवकी ने बड़े दुःख और करुणा के साथ अपने भाई कंस से कहा—'मेरे हितैषी भाई ! यह कन्या तो तुम्हारी पुत्रवधू के समान है। स्त्री जाति की है, तुम्हें स्त्री की हत्या कदापि नहीं करनी चाहिए। 'भैया ! अवश्य ही मैं तुम्हारी छोटी बहन हूँ। मेरे बहुत से बच्चे मर गये हैं, इसलिये मैं अत्यन्त दीन हूँ। मेरे प्यारे और समर्थ भाई ! तुम मुझ मन्दभागिनी को यह अन्तिम सन्तान अवश्य दे दो।'

देवकी की उक्त याचना में करुण-वात्सल्य जैसे सजीव हो गया है। देवकी की उक्त कारुणिक याचना में अत्यन्त हृदयद्रावक भाव भरे हैं। उसमें वस्तुतः अपनी सन्तान की रक्षा हेतु एक दर्द भरी गुहार है।

---

१. श्रीमद्भागवत, १०/३/५१ २. वही, १०/३/५३
३ वही, १०/४/४–६।

आश्चर्यजनक घटना यह हुई कि जब कंस ने उक्त नवजात कन्या को पकड़कर, उसे एक चट्टान पर पटका तो वह हाथ से छूटकर आकाश में चली गयी और उसने आठ प्रकार के आयुध धारण कर कंस से कहा—

'किं मया हतया मन्द जातः खलु तवान्तकृत् ।
यत्र क्व वा पूर्वशत्रुर्मा हिंसीः कृपणान् वृथा ।।[१]

'रे मूर्ख । मुझे मारने से तुझे क्या मिलेगा ? तेरे पूर्वजन्म का शत्रु तुझे मारने के लिये किसी स्थान पर पैदा हो चुका है । अतः तुम निर्दोष बच्चों की हत्या न करो ।'

कन्या के उक्त आकाशवाणी-स्वरूप वचनों को सुनकर, कंस अत्यन्त आश्चर्यचकित हो गया । उसने वसुदेव और देवकी को बन्दीगृह से छोड़ दिया । उसने अपने कुकृत्यों पर बहुत पश्चात्ताप भी किया । उसके क्षमा माँगने पर 'क्षमध्वं मम दौरात्म्यं साधवो दीनवत्सलाः' देवकी ने उसे क्षमा कर दिया ।[२]

अब थोड़ा नन्द बाबा के यहाँ आनन्द और उल्लास के वातावरण में हो रहे पुत्रोत्सव का विवेचन कर लेना उचित होगा ।

जब नन्द को यह पता चला कि उन्हें पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई है, तब उनका हृदय एक विलक्षण आनन्द से भर गया । उन्होंने स्नान करके सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषण धारण किये । ब्राह्मणों को बुलवाकर स्वस्ति-वाचन एवं अपने पुत्र का जातकर्म संस्कार करवाया । साथ ही देवता और पितरों की विधिवत् पूजा भी करवायी—

नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः ।
आहूय विप्रान् वेदज्ञान् स्नातः शुचिरलङ्कृतः ।।
वाचयित्वा स्वस्त्ययनं जातकर्मात्मजस्य वै ।
कारयामास विधिवत् पितृदेवार्चनं तथा ।।[३]

नन्द के आनन्द का ठिकाना नहीं था । वे अपने पुत्र को पाकर इतने आनन्दविभोर थे कि उन्होंने वस्त्र और अलंकारों से सुसज्जित एक लाख गायें ब्राह्मणों को दान-स्वरूप दे दीं । रत्नों और सुनहले वस्त्रों से ढके हुये तिल के साथ सात पहाड़ दान में दे दिये ।'[४]

पुत्रोत्सव प्रारम्भ हो गया । उस शुभ घड़ी में ब्राह्मण, सूत, मागध, बन्दीजन मंगलमय आशीर्वाद देने तथा स्तुतिगान करने लगे । गायक गान करने लगे । बार-बार भेरी और दुन्दुभियाँ बजने लगीं—

---

१. श्रीमद्भागवत, १०/४/१२
२. वही, १०/४/२५
३. वही, १०/५/१-२
४. वही, १०/५/३

सौमङ्गल्यगिरो विप्राः सूतमागधवन्दिनः ।
गायकाश्च जगुर्नेदुर्भेर्यो दुन्दुभयो मुहुः ॥[१]

पुत्र की उत्पत्ति पर केवल नन्द को ही प्रसन्नता न हुई, बल्कि सारा व्रज-मण्डल आनन्दोल्लसित हो गया। खुशहाली में व्रजमण्डल के सभी घरों के द्वार आंगन और भीतरी भाग स्वच्छ कर दिये गये, उनमें सुगन्धित जल का छिड़काव किया गया, उन्हें चित्र-विचित्र ध्वज-पताका, पुष्पों की मालाओं, रंग-विरंगे वस्त्र और पल्लवों की बन्दनवारों से सजाया गया—

वज्रः सम्मृष्टसंसिक्तद्वाराजिरगृहान्तरः ।
चित्रध्वजपताकास्रक्चैलपल्लवतोरणैः ॥[२]

मनुष्य की तो बात ही निराली थी। पुत्रोत्सव के समय सभी गाय, बैल तथा बछड़े भी सजा दिये गये।[३]

जैसा कि किसी आनन्दोत्सव में होता है, व्रजमण्डल के सभी ग्वाल बहु-मूल्य वस्त्र, आभूषण, अंगरखे और पगड़ियों से सुसज्जित होकर तथा अपने-अपने हाथों में भेंट की बहुत सी सामग्रियाँ लेकर, नन्द बाबा के घर पहुंच गये—

महार्हवस्त्राभरणकञ्चुकोष्णीषभूषिताः ।
गोपाः समाययू राजन् नानोपायनपाणयः ॥[४]

नन्द के पुत्र की प्राप्ति का समाचार पाकर, व्रजमण्डल में जब सारी ग्वालमण्डली आह्लादित हो गयी, तब भला गोपियाँ कहाँ पीछे रहने वाली थीं! वस्तुस्थिति यह है कि पुत्रोत्सव, विवाहोत्सव आदि के अवसरों पर पुरुषों से अधिक स्त्रियाँ ही आनन्दित होती हैं। ब्रजमण्डल की गोपियाँ, पुत्र-जन्म का समाचार पाकर अत्यन्त आनन्दित हो गयीं। उन्होंने सुन्दर-सुन्दर वस्त्र, आभूषण और अंजन आदि से अपना शृङ्गार किया। सज-धज कर वे सभी अति सुन्दर लग रही थीं। भेंट की सामग्री लेकर वे भी अति शीघ्र यशोदा के घर गयीं—

गोप्यश्चाकर्ण्य मुदिता यशोदायाः सुतोद्भवम् ।
आत्मानं भूषयाञ्चक्रुर्वस्त्राकल्पाञ्जनादिभिः ॥
नवकुङ्कुमकिञ्जल्कमुखपङ्कजभूतयः ।
बलिभिस्त्वरितं जग्मुः पृथुश्रोण्यश्चलत्कुचाः ॥[५]

---

१. श्रीमद्भागवत, १०/५/५ २. वही, १०/५/६
३. वही, १०/५/७ ४. वही, १०/५/८
५. वही, १०/५/९–१०

गोपियों ने नन्द बाबा के घर पहुँच कर नवजात बालक को यह आशीर्वाद दिया —'यह (बालक) चिरंजीवी हो, भगवान् इसकी रक्षा करे।' उस समय वे गोपियाँ उपस्थित लोगों पर हल्दी-तेल से मिला हुआ पानी छिड़कने लगीं और आनन्दित होकर मंगल-गान करने लगीं'—

> गोप्यः सुमृष्टमणिकुण्डलनिष्ककण्ठ्य—
> श्चित्राम्बराः पथि शिखाच्युतमाल्यवर्षाः ।
> नन्दालयं सवलया व्रजतीर्विरेजु-
> र्व्यालोलकुण्डलपयोधरहारशोभाः ॥[१]

यहाँ यह ध्यातव्य है कि ऐसे अवसरों पर हल्दी-तेल मिश्रित जल छिड़कने एवं मंगलगान की परम्परा अति प्राचीन है। उसी के परिपालन में ही गोपियों ने उक्त कार्य किये।

व्रज में किसी साधारण बच्चे का जन्म नहीं हुआ था, बल्कि कृष्ण के रूप में वहाँ समस्त जगत् के एकमात्र स्वामी ही प्रकट हुए थे। इसलिए वहाँ महान् उत्सव मनाया गया। उस अवसर पर बड़े-बड़े विचित्र और मंगलमय बाजे बजाये गये।[२]

नन्दबाबा स्वभावतः उदार और दानी थे। ऐसे आनन्दमय अवसर पर तो उनकी उदारता और दानवृत्ति और बढ़ गयी। उन्होंने गोपों को अनेक वस्त्र, आभूषण और गायें दीं। सूत-मागध आदि को मुँह माँगा ही दिया। यह सब उन्होंने अपने पुत्र के मंगलार्थ ही किया।[३]

नन्द के अवतारी बालक का यह प्रभाव था कि जिस दिन उसका आविर्भाव हुआ, उसी दिन से उनके घर सब प्रकार की ऋद्धि-सिद्धियाँ अठखेलियाँ करने लगीं और भगवान् श्रीकृष्ण का निवास मानो लक्ष्मी का क्रीड़ास्थल बन गया।[४]

श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में ही बालकृष्ण की अद्भुत शैशव-लीलाओं का अत्यन्त रोचक वर्णन है। चूँकि वे (बालकृष्ण) साधारण बालक नहीं थे, वे भगवान् के अवतार थे, अतः उनकी सब लीलायें भी अलौकिक थीं। न जाने कितनी बार उस अलौकिक बच्चे ने अपनी माता को भयान्वित कर दिया। एक बार वे बालकृष्ण को स्तनपान करा रही थीं। वात्सल्य-स्नेह से वे इस प्रकार सराबोर थीं कि उनके स्तनों से अपने आप दूध बह रहा था। उसी समय कृष्ण को जम्भायी आ गयी और यशोदा उनके मुख में आकाश, पर्वत, सूर्य-चन्द्र तथा

---

१. श्रीमद्भागवत, १०/५/११
२. वही, १०/५/१३
३. वही, १०/५/१५–१६
४. वही, १०/५/१८

वन-नदी आदि समस्त ब्रह्माण्ड को देखकर, इतनी अधिक भयभीत हुयीं कि मारे भय से उन्होंने अपनी आँखें ही बन्द कर लीं। उस समय वे आश्चर्य-चकित भी थीं।[1]

जिस समय कृष्ण का जन्म हुआ था, उस समय भारत में वर्णाश्रम व्यवस्था थी। अतः सभी वर्ण धर्मशास्त्रीय नियमों के अनुसार अपने-अपने बच्चों का संस्कार सम्पन्न कराते थे। कंस के भय से नन्द ने गोपनीय ढंग से यदुवंशियों के कुल-पुरोहित 'श्रीगर्गाचार्य' जी से अपने तथा रोहिणी के पुत्र का नामकरण संस्कार सम्पन्न कराया—

एवं सम्प्रार्थितो विप्रः स्वचिकीर्षितमेव तत्।
चकार नामकरणं गूढो रहसि बालयोः॥[2]

श्रीगर्गाचार्य ने रोहिणी के पुत्र का नाम 'रौहिणेय' रखा। उसके साथ ही आनन्दकर गुणों से सम्पन्न होने के कारण उसका दूसरा नाम 'राम' तथा असीमित बल होने के कारण एक और नाम 'बल' रखा और उक्त तीनों नामों के साथ ही उस बालक के मेल-मिलाप कारक गुणों के कारण एक नाम सङ्कर्षण भी रखा।[3]

श्री गर्गाचार्य ने यशोदा के पुत्र का वर्ण कृष्ण देखकर उनका नाम 'कृष्ण' रखा। उसी समय वसुदेव के पुत्र होने की वास्तविकता को जानते हुए कुल-पुरोहित ने बच्चे का नाम 'श्रीमान् वासुदेव' रखा।[4]

गर्गाचार्य ने यह भी कहा कि 'गुण और कर्म के अनुसार उस बच्चे के अनेक नाम होंगे। उन्होंने उस समय नवजात शिशु के गुणों की प्रशस्ति की और अन्त में यह कहा —

तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते नारायणसमो गुणैः।
श्रिया कीर्त्यानुभावेन गोपायस्व समाहितः॥[5]

नन्द जी ! चाहे जिस दृष्टि से देखें—गुण में, सम्पत्ति और सौन्दर्य में, कीर्ति तथा प्रभाव में तुम्हारा यह बालक साक्षात् भगवान् नारायण के समान है। तुम बड़ी सावधानी और तत्परता से इसकी रक्षा करो।'

माता-पिता की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वे अपनी सन्तान की आयु, सौभाग्य और भावी मंगलमय जीवन के विषय में, ज्योतिषियों तथा धर्मात्माओं आदि से पूछते रहते हैं और अनुकूल बात सुनकर अत्यन्त आनन्दित हो

---

१. श्रीमद्भागवत, १०/७/३४–३७।
२ वही, १०/८/११
३. वही १०/८/१२
४. वही, १०/८/१३–१४
५. वही, १०/८/१९

जाते हैं। श्रीकृष्ण के भावी जीवन के बारे में कुलपुरोहित के मुख से आनन्ददायी बातों को सुनलर नन्द बाबा के आनन्द की सीमा न रही। उन्होंने ऐसा अनुभव किया कि 'मेरी सब आशा-लालसायें पूरी हो गयीं। मैं अब कृतकृत्य हूँ।'[1]

दशम स्कन्ध के आठवें अध्याय में कृष्ण और बलराम दोनों की बाल-लीलाओं का अत्यन्त विशद एवं सजीव चित्रण है। यह संयोग ही था कि राम और कृष्ण की जोड़ी मिल गयी। बालक जब अपने ही समवयस्क बाल सखा को पा जाते हैं, तो उनकी लीलायें तथा क्रीड़ायें और बढ़ जाती हैं। अब दोनों बाल-मित्र राम और श्याम की शिशु-लीलायें द्रष्टव्य हैं—

कालेन व्रजताल्पेन गोकुले रामकेशवौ।
जानुभ्यां सह पाणिभ्यां रिङ्गमाणौ विजह्रतुः॥
तावङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य सरीसृपन्तौ
घोषप्रघोषरुचिरं व्रजकर्दमेषु।
तन्नादहृष्टमनसावनुसृत्य लोकं
मुग्धप्रभीतवदुपेयतुरन्ति मात्रोः॥[2]

शुक ने कहा—'परीक्षित ! कुछ ही दिनों में राम और श्याम घुटनों और हाथों के बल बकैयाँ चल-चलकर गोकुल में खेलने लगे। दोनों भाई अपने नन्हें-नन्हें पाँवों को गोकुल की कीचड़ में घसीटते हुए चलते। उस समय उनके पाँव और कमर में घुघरू रुनझुन बजने लगते। वह शब्द बड़ा कर्णसुखद मालूम पड़ता। वे दोनों स्वयं वह ध्वनि सुनकर खिल उठते। कभी-कभी वे रास्ते चलते किसी अज्ञात व्यक्ति के पीछे हो लेते। फिर जब देखते कि यह तो कोई दूसरा है, तब झक से रह जाते और डरकर अपनी माताओं—रोहिणी और यशोदा के पास लौट आते।'

राम और श्याम दोनों जब एक साथ मिलकर खेलते, माताओं की गोद में बैठकर दूध पीते, तब छोटी-छोटी दन्तुलियों से भरे उनके मुख को देखकर, उनकी मातायें (रोहिणी और यशोदा) वात्सल्यानन्द के सागर में गोते लगाने लगतीं—

तन्मातरौ निजसुतौ घृणया स्नुवन्त्यौ
पङ्काङ्गरागरुचिरावुपगुह्य दोर्भ्याम्।
दत्त्वा स्तनं प्रपिबतोः स्म मुखं निरीक्ष्य
मुग्धस्मिताल्पदशनं ययतुः प्रमोदम्॥[3]

'मातायें यह सब देख-देखकर, स्नेह से भर जातीं। उनके स्तनों से दूध की धारा बहने लगती थी। जब उनके दोनों नन्हें-नन्हें से शिशु अपने शरीर में

---

१. श्रीमद्भागवत, १०/८/२०   २. वही, १०/८/२१–२२
३. वही, १०/८/२३

कीचड़ का अङ्गराग लगा-लगाकर लौटते, तब उनकी सुन्दरता और भी बढ़ जाती थी। मातायें उन्हें आते ही दोनों हाथों से गोद में लेकर हृदय से लगा लेतीं और स्तन-पान कराने लगतीं। जब वे दूध पीने लगते और बीच-बीच में मुस्करा-मुस्कराकर अपनी माताओं की ओर देखने लगते, तब वे उनकी मन्द-मन्द मुस्कान, छोटी-छोटी दन्तुलियाँ और भोला-भाला मुँह देखकर आनन्द के समुद्र में डूबने उतराने लगतीं।'[1]

उक्त सन्दर्भ बाल-स्वभाव, बालस्वरूप एवं बाल-लीला का कितना भव्य उदाहरण है, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें संयोग वात्सल्य का भी अत्यन्त हृदयहारी प्रकाशन है। वात्सल्य रस का इससे बढ़कर हृदयावर्जक उदाहरण दूसरा और क्या हो सकता है?

बच्चे जब कुछ बढ़ जाते हैं, तो उनकी लीलायें और बढ़ जाती हैं। पशुओं के बच्चों की पूँछ आदि को पकड़कर उनका आनन्दित होना स्वाभाविक है। वहाँ ब्रज में भी दोनों बालक ऐसी ही लीलायें करते थे, जो गोपियों के लिये नितान्त हर्षद थीं—

यर्ह्यङ्गनादर्शनीयकुमारलीला—
वन्तर्व्रजे तदबलाः प्रगृहीतपुच्छैः।
वत्सैरितस्तत उभावनुकृष्यमाणौ
प्रेक्षन्त्य उज्झितगृहा जहृषुर्हसन्त्यः॥

'जब राम और श्याम दोनों कुछ और बड़े हुये, तब ब्रज में घर के बाहर ऐसी-ऐसी बाललीलायें करने लगे, जिन्हें गोपियाँ देखती ही रह जातीं। जब वे बैठे हुये, किसी बछड़े की पूँछ पकड़ लेते और बछड़े डरकर इधर-उधर भागते, तब वे दोनों और भी जोर से पूँछ पकड़ लेते और बछड़े उन्हें घसीटते हुए दौड़ने लगते। गोपियाँ अपने घर का काम-धन्धा छोड़कर यही सब देखती रहतीं और हँसते-हँसते लोट-पोट होकर परम आनन्द में मग्न हो जातीं।'

कृष्ण और बलराम दोनों ही बड़े चंचल और खिलाड़ी थे। वे कहीं सींग वाले हिरन और गाय आदि पशुओं के पास दौड़ जाते, तो कभी आँख बचाकर धधकती हुयी आग से खेलने के लिये कूद पड़ते, कभी दाँत से काटने वाले कुत्तों के पास पहुँच जाते, तो कभी तलवार उठा लेते। कभी कुयें या गड्ढे के पास जल में गिरते-गिरते बचते, कभी मोर आदि पक्षियों के निकट चले जाते और कभी काँटों की ओर बढ़ जाते थे। उनकी इस प्रकार की चंचलता को देखकर

---

१. श्रीमद्भागवत, १०/८/२४

मातायें उन्हें उक्त प्रकार के कर्म करने से रोकतीं, परन्तु उनकी एक न चलती। 'वे सारा काम धन्धा छोड़कर उन्हीं को सम्भालतीं। उनकी सबसे बड़ी समस्या भयंकर वस्तुओं तथा प्राणियों से बच्चों को बचाने की थी—

शृङ्ग्यग्निदंष्ट्र्यसिजलद्विजकण्टकेभ्यः
क्रीडापरावतिचपलौ स्वसुतौ निषेद्धुम्।
गृह्याणि कर्तुमपि यत्र न तज्जनन्यौ
शेकात आपतुरलं मनसोऽनवस्थाम्॥[1]

उक्त सन्दर्भ में शैशव जगत् का एक भव्य बिम्ब खड़ा हो गया है, जो सभी के लिये अत्यन्त आनन्दकर है। जैसा कि सभी लोग जानते हैं गोकुल में गोपियों की संख्या कम न थी। वे प्रारम्भ से ही भगवान् के अवतार कृष्ण के प्रति अत्यधिक समाकृष्ट थीं। जब कृष्ण बलराम अपने अन्य समवयस्क ग्वाल-बालों के साथ व्रज की गलियों में नाना प्रकार के खेल खेलते, तो उनके खेल देखकर भाग्यशाली गोपियाँ निहाल हो जातीं।[2]

उन दोनों शिशुओं की अनोखी बाल्य-चंचलताओं को देखकर गोपिकायें आनन्द-विभोर हो जाती थीं। एक दिन तो गोपिकाओं की पूरी मण्डली ही नन्द बाबा के घर पहुँच गयी और यशोदा माता से कृष्ण की लीलाओं को इन शब्दों में कहने लगी[3]—

वत्सान् मुञ्चन् क्वचिदसमये क्रोशसंजातहासः
स्तेयं स्वाद्वत्त्यथ दधिपयः कल्पितैः स्तेययोगैः।
मर्कान् भोक्ष्यन् विभजति स चेन्नात्ति भाण्डं भिनत्ति।
द्रव्यालाभे स गृहकुपितो यात्युपक्रोश्य तोकान्॥
हस्ताग्राह्ये रचयति विधिं पीठकोलूखलाद्यैः
छिद्रं ह्यन्तर्निहितवयुनः शिक्यभाण्डेषु तद्वित्।
ध्वान्तागारे धृतमणिगणं स्वाङ्गमर्थप्रदीपं
काले गोप्यो यर्हि गृहकृत्येषु सुव्यग्रचित्ताः॥[4]

'अरे यशोदा। यह तुम्हारा कान्हा बड़ा नटखट हो गया है। गाय दुहने का समय न होने पर भी यह बछड़ों को खोल देता है और जब हम सभी डाँटते हैं तो ठठा-ठठा कर हँसने लगता है। यह चोरी के वड़े-बड़े उपाय करके हमारे मीठे-मीठे दही-दूध को चुरा-चुरा कर खा जाता है। केवल अपने ही खाता तो भी एक बात थी, यह तो सारा दही-दूध बन्दरों को बाँट देता है और जब वे भी

१. श्रीमद्भागवत, १०/८/२५
२. वही, १०/८/२७
३. वही, १०/८/२८
४. वही, १०/८/२९–३०

पेट भर जाने पर नहीं खा पाते, तब यह हमारे माँटों (दुग्ध-दधि-पात्र) को भी फोड़ डालता है। यदि घर में कोई वस्तु इसे नहीं मिलती तो यह घर और घर वालों पर बहुत खीझता है और हमारे बच्चों को रुलाकर भाग जाता है। छींकों पर रखे गये दही-दूध को जब वह अपने हाथों से नहीं पाता, तो उन्हें पाने के लिये अनेक उपाय करता है। कहीं दो-चार पीढ़ों को एक के ऊपर एक रख देता है, कहीं ओखल पर चढ़ जाता है, तो कहीं ओखल पर पीढा रख देता है। जब इन उपायों से उसका काम नहीं चल पाता, तब नीचे से ही उन बर्तनों में छेद कर देता है। उसे इस बात की पक्की पहचान है कि किस छीके पर, किस बर्तन में, क्या रखा है और यह बर्तनों में छेद भी ऐसे ढंग से करता है कि किसी को पता तक नहीं चल पाता। नन्दरानी ! जब उससे बचाने के लिये हम लोग अँधेरे में वस्तुओं को छिपा देती हैं, तो वे वस्तुयें भी नहीं बच पातीं, क्योंकि यह उन छिपायी गयी वस्तुओं को, पहनाये गये आभूषणों की ज्योति में, अथवा अपने शरीर की कान्ति में, देख लेता है। इतना चालाक है कि इसे यह पूरा पता रहता है कि कब कौन कहाँ रहता है और हम सब जब घर के काम-धन्धों में उलझी रहती हैं, तब यह अपना काम बना लेता है।'

बाल-कृष्ण की ढिठाई के विषय में गोपिकायें माता यशोदा से कहती हैं कि 'यह इस प्रकार की चोरी आदि करके भी, उलटे हमें ही चोर बनाता है और स्वयं घर का मालिक बन जाता है। इतना ही नहीं, यह हमारे लिपे-पुते स्वच्छ घरों को मूत्र आदि से गन्दा भी कर देता है। जरा आप सामने खड़े इस बाल-कृष्ण की ओर तो देखें ? वहाँ तो यह चोरी के अनेक उपाय करके अपना काम बनाता है और यहाँ मालूम पड़ता है मानों पत्थर की मूर्ति खड़ी हो। वाह रे भोले भाले साधु !' गोपियाँ यह सब कहती जातीं और साथ ही, भयभीत और चकित नेत्रों से युक्त भोले-भाले कृष्ण को देखती भी जातीं। उन गोपियों की यह दशा देख कर नन्दरानी यशोदा उनके मन का भाव ताड़ लेतीं और उनके हृदय में स्नेह और आनन्द की बाढ़ आ जाती। वे उस समय हँसने लगतीं और अपने बालक को कुछ उलाहना भी न दे पातीं, डाँटने कीं बात तो दूर ही थी'।[1]

श्रीमद्‌भागवत के दशम स्कन्ध के नवें अध्याय में वालकृष्ण के बाल-चापल्य एवं औद्धत्य का बहुत ही अच्छा वर्णन है। जैसा कि सभी जानते हैं, छोटे वच्चों को अपनी माँ का दूध बहुत प्यारा लगता है। वे उसे पीने के लिये उतावले रहते हैं। माता जिस किसी परिस्थिति में हो उसकी उपेक्षा कर, वे स्तनपान की अपनी लालसा को तृप्त कर लेने का ही आग्रह करते हैं। बालकृष्ण भी ऐसे ही बालकों में अग्रणी थे।

---

१. श्रीमद्भागवत, १०/८/३१

एक बार की घटना है कि माता यशोदा दही मथ रही थीं। उसी समय कृष्ण के मन में स्तनपान की इच्छा बलवती हो उठी। वे माता के पास आ गये, उन्होंने दही की मथनी को पकड़ लिया और अपनी माता को दही मथने से रोक दिया। उस समय माता के हृदय में प्रेम एवं आनन्द और बढ़ गया। कृष्ण अपनी माता यशोदा की गोद में चढ़ गये। अपने लाडले पुत्र को गोद में पाकर वे वात्सल्य-स्नेह की अधिकता से द्रवित हो गयीं। उनके स्तनों से दूध स्वयं ही झरने लगा। वे अपने प्रिय पुत्र को दूध पिलाने लगीं और मन्द-मन्द मुस्कान से युक्त पुत्र का मुख देखने लगीं। इसी बीच अँगीठी पर उबलते हुये दूध को उतारने के लिये वे चली गयीं। अतृप्त कृष्ण का क्रुद्ध होना स्वाभाविक ही था। उनके लाल-लाल होठ फड़कने लगे। दाँतों से होठों को दबाकर श्रीकृष्ण ने समीपस्थ लोढे से मटका फोड़ डाला और आँखों में बनावटी आँसू भरकर, दूसरे घर में जाकर अकेले में बासी मक्खन खाने लगे।[१]

लौटकर जब यशोदा ने मटका के टुकड़ों को देखा तो, उन्हें पता चल गया कि किसकी करतूत है। वे हँसने लगीं। उस समय बालकृष्ण एक उलूखल पर खड़े होकर, छीकें पर से मक्खन ले-लेकर, बन्दरों को लुटा रहे थे। जब कृष्ण ने हाथ में छड़ी लिये हुये अपनी ओर आती हुई माता को देखा, तो झट से उलूखल से कूद कर भागने लगे और माता यशोदा ने किसी प्रकार उन्हें पकड़ ही लिया।[२]

पकड़ने के बाद बाल भगवान् बेहद डर गये थे, उनकी आँखों में आँसू भर गये थे और हाथों से आँखों के मलने के कारण मुख पर काजल की स्याही फैल गयी थी। वे बहुत डर गये थे। बच्चे को इस प्रकार देखकर यशोदा के हृदय में उद्भूत क्रोध पर, उनका वात्सल्य-स्नेह हावी हो गया। उन्होंने छड़ी फेंक दी और कुछ सजा देना आवश्यक समझ कर, उन्हें उलूखल में बाँध दिया।[३]

उसके बाद रानी यशोदा के कार्य-व्यस्त हो जाने पर बाल कृष्ण ने सामने खड़े दो अर्जुन-वृक्षों को देखा। नारद के शाप से यक्षराज कुबेर के पुत्र नलकूबर तथा मणिग्रीव उक्त अर्जुन वृक्ष बन गये थे।[४] उन दोनों के उद्धार के लिये कृष्ण उलूखल सहित दोनों वृक्षों के बीच में घुस गये। दोनों वृक्षों के बीच में उलूखल उलझ गया। कृष्ण ने जब जोर से खींचा तो पेड़ों की जड़ें उखड़ गयीं और वे पृथिवी पर गिर पड़े। उन दोनों वृक्षों से अग्नि के समान दो तेजस्वी पुरुष निकल पड़े। वे ही नलकूबर और मणिग्रीव थे। उनका उद्धार हो गया।[५]

---

१. श्रीमद्भागवत, १०/९/४–६ २. वही, १०/९/७–१०
३. वही, १०/९/११–१४ ४. वही, १०/९/१३
५. वही, १०/१०/२८

रस्सी से बँधें उलूखल को घसीटते हुये, बालक कृष्ण जब जा रहे थे तो, नन्द बाबा की निगाह उन पर पड़ गयी । वे हँसने लगे । उनके हृदय में वात्सल्य-स्नेह जाग गया और उन्होंने जल्दी से रस्सी खोल दी ।[1]

छोटे-छोटे बच्चों को फुसलाकर अनेक काम लिये जा सकते हैं । गोपियों ने भी बालकृष्ण का मनोविज्ञान जान लिया था, अतः उनके फुसलाने पर वे कभी नाचते और कभी गाते थे । एक तरह से वे गोपियों के वशीभूत हो गये थे । उनकी विभिन्न आज्ञाओं का पालन भी करते और कभी पहलवानों की भाँति ताल ठोककर सबको प्रसन्न करते थे ।[2]

बच्चे खेल के इतने प्रेमी होते हैं कि वे खेल के पीछे दीवाने हो जाते हैं । खेल के आगे उन्हें खाना-पीना कुछ अच्छा नहीं लगता । एक दिन श्रीकृष्ण और बलराम भी ऐसे खेल के वशीभूत हो गये—

'यमलार्जुन वृक्ष को तोड़ने वाले कृष्ण और बलराम बालकों के साथ खेलते-खेलते यमुनातट पर चले गये और खेलने में रम गये । तब रोहिणी देवी ने उन्हें पुकारा—'ओ कृष्ण, ओ बलराम, जल्दी आओ । परन्तु रोहिणी के पुकारने का उनके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि उनका मन खेल में लगा था । जब बुलाने पर भी वे दोनों बालक नहीं आये, तब रोहिणी ने वात्सल्यमयी यशोदा को भेजा ।'[3]

उस समय दोनों बालक ग्वालों के साथ खेल में रमे थे । यशोदा ने उन्हें पुकारा उस समय मारे वात्सल्य-स्नेह के उनके स्तनों से दूध चू रहा था । वे (यशोदा) जोर-जोर से पुकार रही थीं—'मेरे प्यारे कन्हैया ! ओ कृष्ण ! कमल-नयन ! श्यामसुन्दर ! बेटा ! आओ ! अपनी माँ का दूध पी लो । देखो तो सही, तुम भूख से दुबले हो रहे हो ।'[4]

'वात्सल्यमयी यशोदा का सम्पूर्ण मन-प्राण वात्सल्यप्रेम के बन्धन से बँध गया था । वे चराचर जगत् के शिरोमणि भगवान् को अपना पुत्र समझती थीं । उक्त प्रकार से कहकर वे एक हाथ से बलराम और दूसरे हाथ से कृष्ण को पकड़ कर, अपने घर ले आयीं । इसके बाद उन्होंने पुत्र के मंगल के लिये जो कुछ करना था, वह बड़े प्रेम से किया ।'[5]

श्रीकृष्ण भगवान् के अवतार ही थे, अतः वे अनेक अद्‌भुत एवं अलौकिक लीलायें करते रहते थे । जब गोपी-गोपों को श्रीकृष्ण द्वारा बकासुर के वध की

---

१. श्रीमद्भागवत, १०/११/६ २. वही, १०/११/७–८
३. वही, १०/११/१२–१३ ४. वही, १०/११/१४–१५
५. वही, १०/११/२०

घटना मालूम हुई तो, सभी आश्चर्य-चकित हो गये। उन्हें ऐसा जान पड़ा, जैसे कन्हैया साक्षात् मृत्यु के मुख से ही लौटे हों। वे बड़ी उत्सुकता, प्रेम और आदर से श्रीकृष्ण को निहारने लगे। उनके नेत्रों की प्यास बढ़ती ही जाती थी। किसी प्रकार उन्हें तृप्ति न होती थी।[१]

नन्द बाबा समेत समस्त गोपों की स्थिति यह थी कि वे बड़े आनन्द से अपने श्याम और राम की बातें किया करते थे। वे उनमें इतने तन्मय रहते कि उन्हें संसार के दुःख-संकटों का कुछ पता ही न चलता था—

इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा।
कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन् भववेदनाम्॥[२]

राम और श्याम की जोड़ी ने सम्पूर्ण व्रज में आनन्द का साम्राज्य स्थापित कर दिया था। वे खेलते-कूदते ही अपने जीवन में अग्रसर होने लगे। कभी वे ग्वाल-बालों के साथ आँख-मिचौनी खेलते, तो कभी पुल बाँधते। कभी बन्दरों की भाँति उछलते-कूदते, तो कभी कोई विचित्र खेल करते। इस प्रकार बालोचित खेलों को खेलते हुए ही उन्होंने अपनी बाल्यावस्था व्यतीत की—

एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे।
निलायनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोत्प्लवनादिभिः॥[३]

कृष्ण का एक नाम 'गोपाल' भी है। इस नामकरण का प्रमुख आधार उनका गोपालनव्रत है। उन्होंने अपनी बाल्यावस्था को प्रायः गोसेवा में ही व्यतीत किया। गायों को चराने में भी उनके जीवन का महत्त्वपूर्ण समय बीता। गोसेवा के प्रसंग में भी उनकी बालक्रीड़ायें मनोमुग्धकारी तथा अत्यन्त आकर्षक थीं। एकाध उदाहरण देना समीचीन होगा। जंगल में गायों को चराते समय ग्वाल-बालों की एक अच्छी खासी मण्डली बन गयी थी। ग्वाल-बाल ही उसके सदस्य थे और श्रीकृष्ण ही उनके मुखिया। गायों को चराते-चराते जब ग्वाल-मण्डली बुभुक्षित हुई तो उसने एक साथ बैठकर भोजन करने का निर्णय लिया।[४]

'ग्वाल-बालों ने बछड़ों को पानी पिला-पिला कर हरी-हरी घास के मैदान में छोड़ दिया और अपने-अपने छींके खोल-खोल कर कृष्ण के साथ भोजन करने लगे। सबके बीच में श्रीकृष्ण बैठ गये। उनके चारों ओर ग्वाल-बालों ने मण्डलाकार पंक्तियाँ बना लीं और परस्पर सट कर बैठ गये। सबके मुख श्रीकृष्ण की

---

१. श्रीमद्भागवत, १०/११/५४ २. वही, १०/११/१८
३. वही, १०/११/५६ ४. वही, १०/१३/६

ओर थे और सबकी आँखें आनन्द से खिल रही थीं। भोजन के समय श्रीकृष्ण के साथ बैठे ग्वाल-बाल ऐसे शोभायमान हो रहे थे, मानों कमल की कर्णिका के चारों ओर उसकी छोटी-बड़ी पँखुड़ियाँ सुशोभित हो रही हों।[1]

'भोजन के समय भोजन-पात्रों की विभिन्नता थी। सबके हाथों में जंगली पात्र ही दिखायी दे रहे थे। कोई पुष्प, कोई पत्ते और कोई पल्लव, अंकुर, छींके, छाल एवं पत्थरों के पात्र बनाकर भोजन करने लगे।'[2]

भोजन के समय भी उनका मनोविनोद जारी था। कृष्ण समेत सभी ग्वाल-बाल परस्पर अपनी-अपनी भिन्न रुचि का प्रदर्शन कर रहे थे। कोई किसी को हँसा देता, तो कोई स्वयं ही हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाता। इस प्रकार वे सब भोजन करने लगे—

> सर्वे मिथो दर्शयन्तः स्वस्वभोज्यरुचिं पृथक्।
> हसन्तो हासयन्तश्चाभ्यवजह्रुः सहेश्वराः ॥[3]

उस सहभोज में बालकृष्ण की छटा सबसे निराली थी। उन्होंने मुरली को तो कमर की फेंट में आगे की ओर खोंस लिया था। सींग और बेंत को बगल में दबा लिया था। बायें हाथ में बड़ा ही मधुर घृत-मिश्रित दही-भात का ग्रास था और अंगुलियों में अदरक, नीबू आदि के अँचार, मुरब्बे दबा रखे थे। ग्वाल-बाल उनको चारों ओर से घेरकर बैठे थे। वे स्वयं सबके बीच में बैठकर अपनी विनोद भरी बातों से अपने साथ ग्वाल-बालों को हँसाते जा रह थे। भगवान् के अवतार होकर भी उनके द्वारा की जाने वाली बाल-लीला को स्वर्ग के देवता आश्चर्यचकित होकर देख रहे थे—

> बिभ्रद् वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे
> वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु।
> तिष्ठन् मध्येस्वपरिसुहृदो हासयन् नर्मभिः स्वैः
> स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग् बालकेलिः ॥[4]

'गोपाल कृष्ण वन में गायों को चराकर प्रतिदिन संध्या के समय ग्वाल-बालों के साथ वन से लौट आते थे और अपनी बाल-सुलभ लीलाओं से माताओं को आनन्दित करते थे। वे मातायें उन्हें उबटन लगाती थीं, नहलाती थीं, चन्दन का लेप करती थीं और अच्छे-अच्छे वस्त्रों तथा आभूषणों से उन्हें सजाती थीं। दोनों भौहों के बीच में, नजर से बचने के लिये, काजल का टीका लगा देती थीं

---

१. श्रीमद्भागवत, १०/१३/७–८ २. वही, १०/१३/९
३. वही, १०/१३/१० ४. वही, १०/१३/११

तथा उन्हें भोजन कराती थीं। इस प्रकार नाना प्रकार के लाड़-प्यार से उनका पालन करती थीं।'[१]

कृष्ण लीला-पुरुषोत्तम थे। अद्भुत लीलाएँ ही उनके जीवन का अंग थीं। वे बछड़े और ग्वाल-बालों के बहाने गोपाल बनकर, अपने बाल-रूप से वत्सरूप का पालन करते हुये, एक वर्ष तक वन और गोष्ठ में क्रीड़ा करते रहे—

इत्यमात्माऽऽत्मनाऽऽत्मानं वत्सपालमिषेण सः।
पालयन् वत्सपो वर्षं चिक्रीडे वनगोष्ठयोः ॥[२]

अब थोड़ा गोपों के वात्सल्य-प्रेम की परख कर लेना अपेक्षित है। जंगल से लौटने पर, बूढ़े गोपों ने जब बछड़ों के साथ अपने बालकों को देखा तो वे वात्सल्य-आनन्द के सागर में गोते लगाने लगे। निम्नांकित श्लोक में वात्सल्य-प्रेम का कितना सजीव चित्र है—

तदीक्षणोत्प्रेमरसाप्लुताशया
जातानुरागा गतमन्यवोऽर्भकान्।
उदुह्य दोर्भिः परिरभ्य मूर्धनि
घ्राणैरवापुः परमां मुदं ते ॥[३]

'अपने बच्चों को देखते ही उनका हृदय प्रेमरस से सराबोर हो गया। बालकों के प्रति अनुराग की बाढ़ आ गयी। गायों के प्रति उनका क्रोध जाने कहाँ हवा हो गया। उन्होंने अपने-अपने बालकों को गोद में उठाकर हृदय से लगा लिया और उनका मस्तक सूँघकर अत्यन्त आनन्दित हुये।'

वात्सल्य-प्रेम को कृतार्थ करने हेतु आलिंगन एवं प्रिय के मस्तक सूँघने की परम्परा अति प्राचीन तथा सार्वभौम है। उनमें एक अपूर्व तृप्ति तथा आनन्द की प्राप्ति होती है। बूढ़े गोपों को भी अपने बालकों के आलिंगन से परम आनन्द की प्राप्ति हुई—

ततः प्रवयसो गोपास्तोकाश्लेषसुनिर्वृताः।
कृच्छाच्छनैरपगतास्तदनुस्मृत्युदश्रवः ॥[४]

'बूढ़े गोपों को अपने बालकों के आलिंगन से परम आनन्द प्राप्त हुआ। वे निहाल हो गये। फिर बड़े कष्ट से उन्हें (बालकों को) छोड़कर वे धीरे-धीरे वहाँ से गये। जाने के बाद भी बालकों के और उनके आलिंगन के स्मरण से उनके नेत्रों से प्रेम के आँसू बह रहे थे।'

---

१. श्रीमद्भागवत, १०/१३/२३   २. वही, १०/१३/२७
३. वही, १०/१३/३३   ४. वही, १०/१३/३४

प्रस्तुत प्रसंग वात्सल्य–प्रेम का उत्कृष्ट निदर्शन है। ऐसे सन्दर्भ अन्यत्र दुर्लभ ही हैं।

श्रीकृष्ण की लीलायें अपार हैं, अद्‌भुत हैं तथा विविध हैं। उन लीलाओं का सम्बन्ध मानव-जगत् से ही नहीं है, अपितु सम्पूर्ण चराचर से हैं। गोप-गोपियाँ उनकी लीलाओं के क्रीतदास हैं, माता-पिता उनके अतिशय प्रेमी हैं, पशु-पक्षी आदि अनुरागी हैं। गायों का तो पूछना ही नहीं है क्योंकि उन्हें कृष्ण से पृथक् कर देने पर तो एक ऐसी रिक्ति हो जाती है, जिसकी पूर्ति अत्यन्त कठिन है। गो-चारण उनके (श्रीकृष्ण के) बाल्य-जीवन का एक मुख्य अंग है। सम्प्रति वृन्दावन में श्रीकृष्ण की लीला के दर्शन करना अभीष्ट है।

बलराम के साथ वृन्दावन को देखकर कृष्ण आनन्दित हो गये। वे अपने सखा ग्वाल-बालों के साथ गोवर्धन की तराई में, यमुनातट पर गौओं को चराते हुये अनेक प्रकार की लीलायें करने लगे।[१]

वृन्दावन में श्रीकृष्ण की मधुर लीला का वर्णन करते हुये श्रीशुक जी कहते हैं—

क्वचिच्च कलहंसानामनुकूजति कूजितम्।
अभिनृत्यति नृत्यन्तं बर्हिणं हासयन् क्वचित्॥[२]

कभी-कभी कृष्ण कूजते हुये राजहंसो के साथ स्वयं भी कूजने लगते और कभी नाचते हुये मयूरों के साथ स्वयं भी ठुमुक-ठुमुक नाचने लगते और ऐसा नाचते कि मयूर को भी उपहासास्पद बना देते।'

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि गायें श्रीकृष्ण के जीवन का अंग बन गयी थीं। 'जब गोचारण के समय पशु (गाय आदि) दूर चले जाते तो श्रीकृष्ण उनके नाम ऊँची आवाज में ले कर, उन्हें बुलाते थे। उनके कण्ठ की मधुर ध्वनि सुनकर गायों और ग्वाल-बालों का चित्त भी अपने वश में नहीं रह पाता था।'[३]

उनकी लीला में जहाँ हंसों एवं मयूरों के साथ चकोर एवं क्रौंच आदि पक्षियों को स्थान मिला, वहीं गायों के अतिरिक्त व्याघ्रों एवं सिंह आदि भयंकर जन्तुओं को भी सम्मान मिला।

'श्रीकृष्ण कभी चकोर, क्रौंच, चकवा और मयूर आदि पक्षियों की सी बोली बोलते, तो कभी बाघ, सिंह आदि की गर्जना से भयभीत जीवों के समान स्वयं भी भीत सी लीला करते'।[४]

---

१. श्रीमद्भागवत, १०/१५/९ २. वही, १०/१५/११
३. वही, १०/१५/१२ ४. वही, १०/१५/१३

बलराम कृष्ण के बड़े भाई थे। श्रीकृष्ण बाल्यावस्था में भी उनके प्रति आदर भाव रखते थे—

'जब बलराम जी खेलते-खेलते थककर किसी ग्वाल-बाल की गोद के तकिये पर सिर रखकर लेट जाते, तब श्रीकृष्ण उनके पैर दबाने लगाते, पंखा झलते और इस प्रकार अपने बड़े भाई की थकावट को दूर करते।'[१]

अब वृन्दावन में ग्वालवालों की नर्तक-मण्डली की नृत्य-लीला का दिग्दर्शन कर लेना भी ठीक है—

'जब ग्वाल-बाल नाचने लगते अथवा ताल ठोंक-ठोंक कर एक दूसरे से कुश्ती लड़ने लगते, तब राम और श्याम दोनों भाई हाथ में हाथ डालकर खड़े हो जाते और हँस-हँस कर 'वाह-वाह' करते—

नृत्यतो गायतः क्वापि वल्गतो युध्यतो मिथः।
गृहीतहस्तो गोपालान् हसन्तो प्रशशंसतुः॥[२]

राम तथा कृष्ण जब बाल-नर्तक-मण्डली की वाह-वाही करते, तब भला उन दोनों (राम और कृष्ण) के नृत्य पर बाल-मण्डली भी क्यों चुप रहती ?

कृष्णस्य नृत्यतः केचिज्जगुः केचिदवादयन्।
वेणुपाणितलैः शृङ्गैः प्रशशंसुरथापरे॥[३]

'जिस समय श्रीकृष्ण नाचने लगते, उस समय कुछ ग्वाल-बाल गाने लगते और कुछ बाँसुरी और सींग बजाने लगते। कुछ हथेली से ताल देते, तो कुछ वाह-वाह करने लगते।'

इसी प्रकार जब दूसरे ग्वाल-बाल नाचने लगते तो प्रत्युपकारवश दोनों (राम-कृष्ण) भी गायक और वादक बन जाते तथा 'वाह-वाह' कर उनकी प्रशंसा करते थे।[४]

राम की जोड़ी तो ख्यातिप्राप्त नर्तकों को जोड़ी को भी मात दे रही थी। नर्तक-जोड़ी का नृत्य कितना आनन्दकर है—

भ्रामणैर्लङ्घनैः क्षेपैरास्फोटनविकर्षणैः।
विक्रीडतुर्नियुद्धेन काकपक्षधरौ क्वचित्॥[५]

घुँघराले अलकों वाले श्याम और बलराम कभी एक दूसरे का हाथ पकड़ कर, कुम्हार की चाक की भाँति चक्कर काटते, कभी एक दूसरे से अधिक फाँद

---

१. श्रीमद्भागवत, १०/१५/१४   २. वही १०/१५/१५
३. वही १०/१८/१०   ४. वही १०/१८/१३
५. वही १०/१८/१२

जाने की इच्छा से कूदते, कभी कहीं होड़ लगाकर ढेले फेंकते, तो कभी ताल ठोंक-ठोंक कर रस्साकसी करते, कभी कहीं एक दूसरे से कुश्ती लड़ते-लड़ाते। इस प्रकार तरह-तरह के खेल खेलते थे।'

दशम स्कन्ध के अठारहवें अध्याय में बाल-क्रीडा का भव्य निदर्शन है। श्याम बलराम की क्रीड़ाओं को देखकर, यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि उक्त अध्याय में उनकी क्रीड़ाओं का एक जीता-जागता प्रतिबिम्बन है। निम्नांकित पद्यों में दोनों की बाल-क्रीड़ा की कितनी सुन्दर वर्णना है—

क्वचिद् बिल्वैः क्वचित् कुम्भैः क्व चामलकमुष्टिभिः।
अस्पृश्यनेत्रबन्धाद्यैः क्वचिन्मृगखगेहया॥
क्वचिच्च दर्दुरप्लावैर्विविधैरुपहासकैः।
कदाचित् स्पन्दोलिकया कर्हिचिन्नृपचेष्टया॥
एवं तौ लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिश्चेरतुर्वने।
नद्यद्रिद्रोणिकुञ्जेषु काननेषु सरस्सु च॥[१]

वे कभी एक दूसरे पर बेल, जायफल अथवा आँवले के फल हाथ में लेकर फेंकते, कभी एक-दूसरे की आँख बन्द करके छिप जाते और वह पीछे से ढूँढते — इस प्रकार आँख-मिचौनी खेलते। कभी एक दूसरे को छूने के लिये बहुत दूर-दूर तक दौड़ते रहते और कभी पशु-पक्षियों की चेष्टाओं का अनुकरण करते। कहीं मेढकों की तरह फुदक-फुदक कर चलते, तो कभी मुँह बना बनाकर एक-दूसरे की हँसी उड़ाते। कहीं रस्सियों से वृक्षों पर झूला डालकर झूलते, तो कभी दो बालकों को खड़ा कराकर उनकी बाहों के बल पर ही लटकने लगते। कभी किसी राजा की नकल करने लगते। इस प्रकार राम और श्याम वृन्दावन की नदी, पर्वत, घाटी, कुंज, वन और सरोवरों में वे सभी खेल खेलते, जो साधारण बच्चे संसार में खेला करते हैं।

श्याम तथा बलराम की उपर्युक्त क्रीड़ा में एक अपूर्व सजीवता तथा सहजता है। उसे जान-सुनकर ग्रामीण बच्चों की सामान्य बालक्रीड़ा आँखों के सामने नाचने लगती है।

ऊपर श्रीमद्भागवत के उन कतिपय अंशों को उद्धृत किया गया है, जो बालरूप, बालस्वभाव, बालचेष्टा, बाललीला, बालक्रीड़ा का प्रकाशन करते हैं।

उक्त सभी वर्णनों में एक अनुपम सजीवता है। उनका अध्ययन करते ही, प्रत्येक का बिम्ब आँखों के सामने नाचने लगता है। उनकी दो विशेषतायें हैं— एक यह कि भारतीयता का पुट है और दूसरी यह कि उनमें सामान्य सार्वभौम बालक जगत् का प्रतिबिम्बन है।

---

१. श्रीमद्भागवत, १०/१८/१४–१६

उक्त के अतिरिक्त श्रीमद्भागवत में वात्सल्य-प्रेम के लिये भी विशेष एवं यथेष्ट स्थान है। देवकी, वसुदेव, नन्द तथा यशोदा के वात्सल्य-प्रेम की जैसी व्यंजना यहाँ हुयी है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। ऊपर कई स्थलों पर श्रीमद्भागवत में वर्णित संयोग-वात्सल्य का चित्रण किया जा चुका है। संयोग-वात्सल्य के अतिरिक्त करुण-वात्सल्य के भी प्रसंगों पर प्रकाश डाला गया है। यदि सही दृष्टि से, भागवत में चित्रित वात्सल्य का सही आकलन किया जाय, तो वात्सल्य को रस की कोटि में सम्मानित स्थान पर प्रतिष्ठित करने की बाध्यता हो जाती है।

श्रीमद्भागवत का शैशवचित्रण निस्सन्देह बेजोड़ है। सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य में उस प्रकार का चित्रण उपलब्ध नहीं होता। बाललीला के लिये तो वह अपने आप में अकेला है। यही कारण है कि श्रीमद्भागवत द्वारा संस्थापित शैशवचित्रण की परम्परा संस्कृत-साहित्य के अतिरिक्त हिन्दी, ब्रज-भाषा आदि आधुनिक भाषाओं के साहित्य में भी प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर सकी। बाल्यजीवन के सफल चित्रकार सन्त कवि सूरदास के साहित्य का जिन्होंने सम्यक् मनन किया होगा, वे उक्त तथ्य के सच्चे गवाह हो सकते हैं।

●

तृतीय अध्याय

भास, कालिदास तथा अश्वघोष के काव्यों में शैशव-चित्रण

- भास के नाटकों में शैशव-चित्रण
- कालिदास के महाकाव्यों में शैशव-चित्रण
- कालिदास के नाटकों में शैशव-चित्रण
- अश्वघोष के महाकाव्यों में शैशव-चित्रण

भास, कालिदास तथा अश्वघोष के काव्यों में शैशव-चित्रण

भास का जीवनवृत्त

संस्कृत नाटककारों में महाकवि भास अनुपम स्थान के भागी हैं। उनके नाटकों की विशेषता यह है कि वे अत्यन्त सुबोध तथा सरल हैं और रंगमंच पर अभिनय के योग्य हैं। जहाँ तक उनके समय का प्रश्न है, वह आज भी निर्णीत नहीं हो सका है। क्योंकि सभी विद्वान् किसी एक समय के लिए सहमत नहीं हैं। उनके काल के विषय में मुख्य रूप से तीन मत हैं। म० म० टी० गणपति शास्त्री ने भास को पाणिनि से भी प्राचीन सिद्ध करने का प्रयास किया है, परन्तु अधिकांश विद्वान् इस से सहमत नहीं हैं। डॉ० वार्ने महाकवि भास का समय सातवीं शताब्दी मानते हैं। अनेक पश्चिमी तथा पूर्वी विद्वानों ने भास के नाटकों की भाषा का परीक्षण कर उनके समय-निर्धारण का प्रयत्न किया है। अतः उसके आधार पर अनेक विद्वान् अश्वघोष तथा कालिदास के बीच में (अर्थात् तीसरी शताब्दी में) उनका स्थिति-काल मानते हैं। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने भास का समय वि० पू० चतुर्थ या पंचम शती माना है।[1]

रचनायें

महामहोपाध्याय टी० गणपति शास्त्री ने भास के तेरह नाटकों का सम्पादन किया है। वे हैं—

१. प्रतिमानाटकम्	२. अभिषेकनाटकम्
३. पञ्चरात्रम्	४. मध्यमव्यायोगः
५. दूतघटोत्कचम्	६. कर्णभारम्
७. दूतवाक्यम्	८. उरुभङ्गम्
९. बालचरितम्	१०. दरिद्रचारुदत्तम्
११. अविमारकम्	१२. प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्
१३. स्वप्नवासवदत्तम्।	

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५२०

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने प्रथम तथा द्वितीय को रामकथाश्रित, तृतीय से लेकर अष्टम तक को महाभारतकथाश्रित, नवम को भागवताश्रित, दशम तथा एकादश को लोककथाश्रित और द्वादश एवं त्रयोदश को उदयन-कथाश्रित माना है।[१]

भास के नाटकों में शैशव-चित्रण को कोई महत्त्व नहीं दिया गया। जिन नाटकों में संक्षिप्त या आंशिक रूप से कोई भी शिशुसम्बन्धी प्रकरण आया है, उन्हें दृष्टिगत कर विचार अपेक्षित है। सर्वप्रथम बालचरित में शैशव-चित्रण का विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि उसमें बालकृष्ण की लीलाओं का वर्णन है।

बालचरित में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

यह पाँच अंकों का एक नाटक है। उसकी कथावस्तु का आधार श्रीमद्भागवत है। कुछ लोग हरिवंशपुराण को इसकी कथा का स्रोत मानते हैं। इस नाटक में बालकृष्ण की लीलाओं का वर्णन है। इसमें कृष्ण के जन्म, बालक कृष्ण को नन्द के संरक्षण में देना, नन्द की लड़की को वसुदेव द्वारा लाना, कृष्ण द्वारा राक्षसों (कालिय नाग सहित) का दमन, कंस-वध, उग्रसेन की कारागार से मुक्ति, नारद द्वारा कृष्ण का पूजन आदि आकर्षक ढंग से वर्णित है।

नाटक के प्रथम अंक की स्थापना में सूत्रधार द्वारा यह सूचना प्राप्त होती है कि 'पुष्प-वृष्टि हो रही है, देवताओं की भेरी बज रही है। वृष्णिकुल में उत्पन्न श्रीकृष्ण को देखने के लिए नारद आ रहे हैं।'[२] वहीं पर नारद के द्वारा यह भी सूचना मिलती है कि लोकहितार्थ कंस को मारने के लिए वृष्णिकुल में भगवान् का अवतार हुआ है। वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि नारायण माया से शिशु रूप को धारण किये हैं।[३]

देवकी के साथ वसुदेव द्वारा ले जाये जाते हुए बालक कृष्ण का वर्णन करते हुए नारद कहते हैं—

अनन्तवीर्यः कमलायताक्षः सुरेन्द्रनाथोऽसुरवीर्यहन्ता।
त्रिलोककेतुर्जगतश्च कर्ता भर्ता जनानां पुरुषः पुराणः ॥[४]

इनकी शक्ति का अन्त नहीं, कमलदल के समान इनका नेत्र विशाल है। ये देवताओं के भी अधिदेव हैं और राक्षसों की शक्ति के नाशक हैं। तीनों लोकों की पताका हैं, संसार के कर्ता हैं, प्राणिमात्र के पोषक और पुराण पुरुष हैं।

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५२०
२. बालचरितम्, १/२
३. बालचरितम्, १/५
४. वही, १/७

शिशु कृष्ण को गोद में लिए हुए माता देवकी की मनोव्यथा अनिर्वचनीय है। कंस की निर्दयता ने उन्हें (देवकी को) इतना विचलित किया है कि वे शकुन-सूचित अपने पुत्र की महत्ता पर विश्वास नहीं कर पातीं—

'हा धिक् ! पुत्रकस्य मे महानुभावत्वं सूचयिष्यन्ति जन्मसमयसमुद्भूतानि महानिमित्तानि प्रत्यक्षीकुर्वत्यपि कंसहतकनृशंसत्वं चिन्तयन्ती सुष्ठु न प्रत्येमि मन्दभागिनी।'[1]

'हाय धिक्कार है। यद्यपि जन्म के समय के शकुन मेरे पुत्र की महत्ता को सूचित करते हैं, तथापि मुझ अभागिन को, क्रूर कंस की निर्दयता के कारण पूर्ण विश्वास नहीं होता'।

पुत्र वात्सल्य-प्रेम से ओतप्रोत हृदयवाली देवकी के उक्त कथन में उनकी मार्मिक पीड़ा व्यंजित है। कृष्ण जैसे अवतारी बालक की माता होकर भी, वे अपने पुत्र के बहु आयामी व्यक्तित्व पर इस लिए विश्वास नहीं कर पा रही हैं कि पुत्र के विनाश के लिए कंस जैसा क्रूर शत्रु चेष्टाशील हैं। निस्सन्देह देवकी का करुण-कथन एक अभागिन माता के कारुण्यमय वात्सल्य को व्यंजित करता है।

बसुदेव के इस कथन में भी देवकी की पुत्र-विषयिणी करुणव्यथा व्यंजित हो रही है—

अगणितपरिखेदा याति षण्णां सुताना—
मपचयगमनार्थं सप्तमं रक्षमाणा।[2]

'छः पुत्रों के विनाश से अत्यन्त शोक से सन्तप्त सातवें पुत्र (कृष्ण) की रक्षा करती हुई'।

जब देवकी अपने पति वसुदेव से पूछती हैं कि 'आर्यपुत्र। इस पुत्र को कहाँ ले जायेंगे ?' तो वसुदेव उत्तर देते हैं कि 'जहाँ भाग्य हमें ले जाय, वहीं इस बालक को ले जायेंगे'—

'अथवा यत्र दैवं विधास्यति, तत्र बालं गृहीत्वाऽपक्रमामि'।[3]

शिशु को अन्यत्र ले जाने के भय से देवकी का मातृहृदय अत्यन्त अधीर हो जाता है और वे वसुदेव से कहती हैं—

'आर्यपुत्र ! इच्छामि तावदेनं सुदृष्टं कर्तुम्।'[4]
'आर्य पुत्र ! तो इसे मैं नजर भर देखना चाहती हूँ।'

---

१. बालचरितम्, प्रथम अंक, पृ० ७
२. बालचरितम्, प्रथम अंक, १/१० पूर्वार्द्ध ३. वही, प्रथम अङ्क पृ० ९
४. वही, प्रथम अङ्क पृ० ९

देवकी के इस उत्तर में उनकी पुत्र सम्बन्धी दर्शनेच्छा तो है ही, साथ में कंस के द्वारा उनका आहत वात्सल्य भी व्यंजित है।

पिता वसुदेव का अधोलिखित कथन भी कितना मर्मस्पर्शी है—

"किं द्रष्टव्यः शशाङ्कोऽयं राहोर्वदनमण्डले।"
त्वयाऽप्यस्य सुदृष्टस्य कंसो मृत्युर्भविष्यति ॥[1]

"राहु के मुख में स्थित चन्द्र को क्या देखना! (यद्यपि) तुम्हारे लिए यह बालक सुदर्शन है, पर कंस इसका मृत्यु (विनाशक) बनेगा।'

वसुदेव के उपर्युक्त कथन में उनका पुत्र-वात्सल्य नैराश्य रूपी वाताघात से सर्वथा विकम्पित प्रतीत हो रहा है।

शिशु कृष्ण को लेकर घर से बाहर जाने के पूर्व जब वसुदेव देवकी को भीतर जाने के लिए कहते हैं तो 'अभागिन जाती हूँ' कहकर वह चली जाती है। देवकी हृदय और शरीर से मानों दो भागों में विभाजित होकर ही, वहाँ से जाती हैं—

'हृदयेनेह तत्राङ्गैर्द्विधाभूतेव गच्छति।'[2]

अर्थात् 'देवकी का शरीर तो विवशतावश भीतर जाता है, पर उनका हृदय अपने नवजात शिशु के साथ ही बाहर जा रहा है।' देवकी का शरीर तो उनके पति के आदेश का पालन कर रहा है, क्योंकि वह उनके अधीन है, पर उनका मन (हृदय) भला कैसे उक्त आदेश का पालन कर सकता है? जो अपने ही स्वरूपभूत ऐसे पुत्र के साथ जुड़ा है, जो छह पुत्रों को कंस के माध्यम से विधाता के द्वारा छीन लिये जाने पर प्राप्त हुआ है और जिस पर उसकी माता (देवकी) का सब कुछ न्योछावर है।

पुत्र के प्रति माता-पिता की इतनी ममता होती है कि उसकी कुशलता के लिए वे अपने हृदय पर पत्थर रखकर उसके वियोग को भी सह लेते हैं। पिता वसुदेव की भी ऐसे ही स्थिति है। अपने छह पुत्रों के कंस द्वारा मार दिये जाने पर वे अपने सप्तम पुत्र की रक्षा के लिए नन्द को सौंपते हुये कहते हैं—

"तत् सप्तमोऽयं दीर्घायुः। नास्ति मम पुत्रेषु भाग्यम्। तव भाग्याज्जीवितुं गृह्यताम्।"[3]

'तो यह आयुष्मान् सातवाँ (पुत्र) है। मेरे भाग्य में पुत्र नहीं है। यह तुम्हारे भाग्य से जीवित रहे, अतः ले लो।'

---

१. बालचरितम् १/११ २. वही १/१३ पूर्वार्द्ध।
३. बालचरितम्, १/१९।

नन्द के हाथों सुरक्षार्थ, अपने नवजात पुत्र को सौंपकर भी वसुदेव का पितृहृदय सन्तुष्ट नहीं होता। वे नन्द गोप से अपने उस बालक के लालन-पालन के लिये निवेदन करते हैं, जो यादववंश का बचा हुआ बीज रूप है।[1]

'कुमार के लिए आप क्या करेंगे ?' इस प्रकार वसुदेव के पूछने पर नन्द गोप जो उत्तर देते हैं, उसमें बालक कृष्ण की भावी सारी बाल क्रीडायें गुम्फित हैं। वे कहते हैं कि 'स्वामी सुनिये ! यह बच्चा एक घर में जाकर दूध पीयेगा, दूसरे घर में जाकर दही खायेगा और अन्य घर में जाकर मक्खन खायेगा। किसी के घर में खीर खायेगा तथा कहीं मिट्टी टटोलेगा। अधिक क्या कहूँ ! हमारे आभीर ग्राम का यह स्वामी बनेगा।'[2]

बालचरित के तृतीय अंक में वृद्ध गोपालक के द्वारा यह सूचना प्राप्त होती है कि बालक कृष्ण ने अपनी शैशवावस्था में ही अनेक आश्चर्य की लीलायें की हैं। दस दिन की अवस्था में ही उन्होंने 'पूतना' राक्षसी को मार डाला। एक मास की आयु में 'शकट' नामक दानव को यमराज के घर भेज दिया। इसी प्रकार उछलने-कूदने में चतुर होने पर उन्होंने प्रलम्ब, धेनुक एवं केशी आदि अनेक दानवों को मार डाला। यही नहीं एक महीने के बाद तो वे ग्राम के घरों में दूध, दही, मक्खन खाने लगे तथा कुछ उत्पात भी करने लगे। क्रुद्ध होकर जब गोप युवतियों ने उनकी कमर में रस्सी (दाम) बाँधकर फिर ओखली में बाँध दिया तो ओखली को घसीट कर उन्होंने 'यमल' और 'अर्जुन' नामक दो दानवों पर फेंक दिया, जिससे वे एक दूसरे से सट गये, फिर उन्हें वृक्ष उखाड़कर मार डाला।'[3] तभी से उनका नाम दामोदर पड़ गया। अन्त में वृद्ध गोपालक कहता है कि भर्ता दामोदर ने इन अनेक कर्मों को किया—

'एतान्यन्यानि च कर्माणि कृतानि भर्तृदामोदरेण'[4]

बाल्यावस्था में ही कृष्ण का अरिष्ट नामक दैत्य से भी वाग्युद्ध तथा शरीर-युद्ध दोनों हुआ। कृष्ण कितने नटखट तथा वाणी के धनी थे, इसके लिए कुछ संकेत कर देना आवश्यक है। खूंखार रूप धारण कर 'अरिष्टर्षमा' के आने पर सभी भयभीत-हो जाते हैं। पर वीर बालक कृष्ण स्वल्प भी भयभीत नहीं होते। ज्यों ही वह दानव नन्दगोप के पुत्र (अर्थात् कृष्ण) के विषय में पूछता है, तो बालकृष्ण तुरन्त आकर निर्भीकता के साथ उत्तर देते हैं कि 'अरे ! नीच गोवृषभ। इधर आओ, मैं यहाँ हूँ।'[5]

---

१. बालचरितम्, १/२९।
२. वही, पृष्ठ–२९
३. वही, तृतीय अंक, पृ० ५५
४. वही, पृ० ५३
५. वही, पृ० ६२

बाल कृष्ण (दामोदर) को देखकर वह कहता है कि 'यह बालक बड़ा पराक्रमी है जो, मेरे भयंकर स्वरूप, गर्जन एवं महापराक्रम को देखकर रंचमात्र नहीं डरा और न आश्चर्यचकित ही हुआ।'[१] जब वह दानव 'बालक' (अज्ञानी) होने के नाते ही उनके निर्भय होने की बात कहता है तब (कृष्ण) धिक्कारते हुए उससे कहते हैं कि 'तुम मुझे बालक कहकर मेरी निन्दा (अपमान) करते हो।[२] कृष्ण बालक के शौर्य को स्वीकार करता हुआ वह राक्षस उन्हीं के हाथों मारा जाता है।

बालक कृष्ण की आश्चर्यमयी बाल-लीलायें उनकी आयु के साथ ही बढ़ती गयीं। वे कालिय नामक पाँच फणों वाले भयंकर नाग के फणों पर 'हल्ली' नामक नृत्य करते हैं। उसके बाद दामोदर नामधारी कृष्ण यमुना नदी में महासर्प को पैरों से कुचलते हुए पुष्पों का चयन करते हैं। सभी भयभीत हो जाते हैं। कालिय नाग उनकी शरण में आता है उसे गौ. ब्राह्मण तथा प्रजाओं के प्रति प्रमाद न करने का आदेश देते हैं। कालिय यमुना नदी छोड़कर वहाँ से चला जाता है।[३]

पाँचवें अंक में कंस भी दामोदर के द्वारा मारा जाता है। वहीं वसुदेव की भेंट अपने दोनों पुत्रों संकर्षण तथा दामोदर से होती है। दोनों अभिवादन करते हैं। दोनों को आशीर्वाद देकर वे (वसुदेव) इसलिए प्रफुल्लित हो जाते हैं कि उन्हें पुत्र पैदा करने का फल मिल जाता है—

'सत्पुत्रजन्मफलमद्य प्राप्तवानस्मि'[४]

इस प्रकार वात्सल्य-भाव के चित्रण से ही प्रारम्भ होने वाला यह नाटक उसी के (वात्सल्य भाव के) उद्रेक से समाप्त हो जाता है। इस नाटक में करुण वात्सल्य तथा अद्भुत बाल-लीला का अच्छा चित्रण है जो सहृदय के हृदय को आवर्जित कर देता है।

भास के अन्य नाटकों में वात्सल्य एवं शैशव चित्रण

बालचरित के अतिरिक्त भास के अन्य नाटकों में यत्र तत्र ही बालचित्र अंकित हैं। उसका विवेचन प्रासंगिक है।

प्रतिमानाटक

प्रतिमानाटक में रामराज्याभिषेक की तैयारी से लेकर राम के वनवास से लौटने के बाद पुनः राज्याभिषेक तक की कथा सात अंकों में वर्णित है।

---

१. बालचरितम्, ३/७१
२. वही, पृ० ६३
३. वही, चतुर्थ अंक पृ० ८१
४. वही, पंचम अंक पृ० ९८

प्रतिमानाटक में पुत्र-वात्सल्य के कुछ प्रसंग अवश्य हैं, पर बाल-क्रीड़ा आदि चित्रित नहीं है। प्रथम अंक में कैकेयी द्वारा राम के वनवास सम्बन्धी वर माँग लिये जाने पर, दशरथ अपने पुत्र-वात्सल्य के आहत होने से मूर्छित हो जाते हैं।[1] सम्पूर्ण द्वितीय अंक, पुत्र राम-लक्ष्मण तथा वधू सीता के वियोग में होने वाली असह्य पीडा से आहत, दशरथ-विलाप से भरा है। उनके विलाप में पुत्र-वियोग से आहत पिता का वात्सल्य प्रतिध्वनित है। दशरथ के इस कथन में किस प्रकार उनका हृद्गत शोक प्रकाशित है—

सूर्य इव गतो रामः सूर्यं दिवस इव लक्ष्मणोऽनुगतः।
सूर्यदिवसावसाने छायेव न दृश्यते सीता ।।[2]

'सूर्य की भाँति राम चले गये, सूर्य के पीछे दिन की तरह लक्ष्मण भी चले गये। सूर्य (राम) तथा दिन (लक्ष्मण) के चले जाने पर छाया की तरह सीता भी चली गयी।'

सन्तति-वियोग माँ-बाप के लिए असह्य होता है। दशरथ की दृष्टि में निःसन्तानता अच्छी है उनके लिये यह भी अच्छा है कि राम किसी दूसरे राजा के पुत्र होते—

अनपत्या वयं रामः पुत्रोऽन्यस्य महीपतेः।[3]

कौसल्या के प्रति दशरथ की यह उक्ति कितनी मर्मस्पर्शी है?

कौसल्ये ! सारवती खल्वसि। त्वया हि खलु रामो गर्भे धृतः।
अहं हि दुःखमत्यन्तमसह्यं ज्वलनोपमम्।
नैव सोढुं न संहर्तुं शक्नोमि मुषितेन्द्रियः ।।[4]

'कौसल्या ! तुम धन्य हो क्योंकि तुमने राम को गर्भ में धारण किया है। अभागा तो मैं हूँ, जो अग्नि के समान असह्य इस दुःख को न सह सकता हूँ और न दूर कर सकता हूँ। मेरी इन्द्रियाँ शून्य हो गयी हैं।'

राम के पास से अकेले लौटे हुए सुमन्त्र को देखकर तो दशरथ का वियोग-वात्सल्य जैसे फूट पड़ता है। वे सुमन्त्र से पूछते हैं कि 'भाई सुमन्त्र ! कहाँ है मेरा बेटा राम ? नहीं-नहीं, मैंने ठीक नहीं कहा। कहाँ है तुम्हारा बेटा राम ! क्या राम-सीता-लक्ष्मण ने सबको कष्ट देने वाले मरणासन्न मुझ अभागे पिता के लिए भी कुछ कहा है ?'

---

१. प्रतिमानाटकम्, १/१६ २. वही, २/७

३. वही, २/८

४. वही, २/९ तथा श्लोक के पहले का गद्यभाग।

अपनी आँखों से ओझल अपनी सन्तानों के सन्देश को पाने के लिए प्रत्येक माता-पिता का हृदय नितान्त उत्कण्ठित एवं लालायित रहता है। दशरथ ने तो स्वयं ही अपनी सन्तानों को अपनी दृष्टि से ओझल कर दिया। इसलिए उनकी उत्कण्ठा तथा लालसा में उनका उपर्युक्त कष्ट भी मिला है, जिससे उनकी वेदना तीव्रातितीव्र हो गयी है।

सुमन्त्र के यह कहने पर कि 'रथ से उतर कर अयोध्या की ओर मुख करके सबने आपको (दशरथ को) सन्देश कहने का उपक्रम किया, कुछ कहने के लिए उनके ओठ भी फड़के, परन्तु अश्रुवेग से कण्ठावरोध हो जाने के कारण बिना कुछ कहे ही वन चले गये'—

शृङ्गवेरपुरे रथादवतीर्यायोध्याभिमुखाः स्थित्वा सर्व एव महाराजं शिरसा प्रणम्य विज्ञापयितुमारब्धाः।

कमप्यर्थं चिरं ध्यात्वा वक्तुं स्फुरिताधराः।
बाष्पस्तम्भितकण्ठत्वादनुक्त्वैव वनं गताः॥

इस प्रकार सुमन्त्र से मार्मिक सन्देश पाकर राजा दशरथ की मूर्च्छा दोगुनी हो गयी।[1]

यद्यपि उक्त दोनों नाटकों में शिशु सम्बन्धी क्रीडाओं, चेष्टाओं आदि के लिये कोई विशेष अवसर नहीं है। पर यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि 'बालचरित' का करुण वात्सल्य अत्यन्त भव्य तथा मर्मस्पर्शी है। वसुदेव और देवकी का आहत पुत्रवात्सल्य किसको अधीर नहीं बना देता ? इसी प्रकार प्रतिमानाटक में दशरथ का व्यथित वात्सल्य भी अत्यन्त हृदयद्रावक है। स्वल्प होते हुये भी उसका प्रभाव अमित तथा सघन है।

बालचरित एवं प्रतिमा नाटक को छोड़कर भास के अन्य किसी नाटक में शैशव चित्रण के लिये कोई विशेष स्थान नहीं है।

कालिदास के महाकाव्यों में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

कालिदास का जीवनवृत्त एवं कृतियाँ

महाकवि कालिदास संस्कृत के ही महाकवियों में मूर्धन्य नहीं हैं, अपितु वे विश्व के महान् कवियों में अग्रगण्य हैं। वे रससिद्ध कवि हैं। उनके काव्यों में भाव तथा काव्य-कला-जगत् का सर्वाङ्गपूर्ण स्वरूप प्रतिष्ठित है। उनके काव्यों में भारतीय संस्कृति, आचार-विचार तथा जीवनादर्श भी बिम्बित है। उनके स्थितिकाल के विषय में बहुत मतभेद है। अधिकांश विद्वान् उनका स्थितिकाल ई० पू०

---

१. प्रतिमानाटकम् २/१७ तथा ऊपर नीचे का गद्यभाग।

प्रथम शताब्दी में मानते हैं। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने कालिदास का स्थिति-काल वि० सं० के प्रथम शतक में माना है।[1] कालिदास के द्वारा विरचित निर्विवाद ग्रन्थ निम्नाङ्कित हैं—

१ ऋतुसंहारम्	खण्डकाव्य
२. कुमारसम्भवम्	महाकाव्य
३. मेघदूतम्	खण्डकाव्य (दूतकाव्य)
४ रघुवंशम्	महाकाव्य
५. मालविकाग्निमित्रम्	नाटक
६. विक्रमोर्वशीयम्	त्रोटक (रूपक भेद)
७. अभिज्ञानशाकुन्तलम्	नाटक

ऋतुसंहार तथा मेघदूत में शैशव चित्रण नहीं है। शेष कृतियों में उसकी मीमांसा की जा रही है।

कुमारसम्भव में वात्सल्य एवं शैशव चित्रण

यह एक महाकाव्य है। इसमें कुल १७ सर्ग हैं। अधिकांश विद्वान् ८ वें सर्ग तक को ही कालिदास की रचना मानते हैं, क्योंकि उसी सर्ग तक मल्लिनाथ की टीका प्राप्त होती है तथा अलङ्कारशास्त्र के आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में आठ सर्ग तक के ही उदाहरण उद्धृत किये हैं। उनके मत में शेष सर्ग किसी अन्य की रचना है। कुमार (कार्तिकेय) की उत्पत्ति को लक्षित कर ही इस महाकाव्य का नामकरण किया गया है। इसमें, पार्वती की उत्पत्ति, तारकासुर के उपद्रव के विषय में देवताओं की प्रार्थना, मदन-दहन, रति-विलाप, पार्वती-तपस्या शिव के साथ उनके विवाह एवं प्रणय प्रसङ्ग, कुमार की उत्पत्ति आदि के वर्णन के साथ तारकासुर के वध की कथा वर्णित है।

इस महाकाव्य के ग्यारहवें सर्ग में वात्सल्य एवं शैशव चित्रण अपने सुन्दर-तम रूप में प्राप्त होता है। अन्य स्थलों (प्रथम, पंचम तथा दशम सर्ग) में भी शैशव चित्रण के अति संक्षिप्त दर्शन होते हैं।

'कुमारसम्भव' के प्रथम सर्ग में पार्वती के जन्म का अति संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। अपने पिता दक्ष से अपमानित होकर सती ने, योग-मार्ग से अपने शरीर को छोड़कर पुनर्जन्म के लिए हिमालय की पत्नी मेना के गर्भ में प्रवेश किया और समय आने पर वे पुत्री (पार्वती) के रूप में उत्पन्न हुई।[2]

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय—संस्कृत साहित्य का इतिहास,

२. कुमारसम्भव, १/२१–२२

पार्वती का जन्म स्थावर-जङ्गम दोनों के आनन्द का कारण बना। उनके जन्म के समय दिशायें निर्मल हो गयीं, बहने वाली वायु में धूलि नाम की कोई चीज नहीं रही तथा शंख-ध्वनि के पश्चात् पुष्प-वृष्टि होने लगी। इस प्रकार उनके जन्म से एक ओर पर्वत-वृक्ष आदि स्थावर तथा दूसरी ओर मनुष्य, देवता तथा पक्षी आदि जंगम प्राणी भी प्रमुदित हो उठे—

'प्रसन्नदिवपांसुविविक्तवातं शङ्खस्वनानन्तरपुष्पवृष्टिः।
शरीरिणां स्थावरजङ्गमानां सुखाय तज्जन्मदिनं बभूव ॥'[१]

पुत्री-जन्म से माता मैना आह्लादित होकर संशोभित हो गयीं। जन्म के अनन्तर पार्वती के सौन्दर्यमय अंग दिनानुदिन उसी प्रकार पुष्ट होने लगे, जिस प्रकार चन्द्रकला से चन्द्रिकामय अन्य कलायें पुष्ट होती हैं—

'दिने दिने सा परिवर्धमाना लब्धोदया चान्द्रमसीव लेखा।
पुपोष लावण्यमयान्विशेषाञ्ज्योत्स्नान्तराणीव कलान्तराणि ॥'[२]

बन्धु जनों ने पर्वतराज (हिमालय) की पुत्री होने के कारण उनका नाम 'पार्वती' रखा तथा उनकी माता मैना ने उनको 'उमा' इस अभिधान से अभिहित किया—

'तां पार्वतीत्याभिजनेन नाम्ना बन्धुप्रियां बन्धुजनो जुहाव।
उमेति मात्रा तपसो निषिद्धा पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम ॥'[३]

वात्सल्य-प्रेम सन्तान मात्र के प्रति होता है। उसमें पुत्र-पुत्री में कोई भेद-भाव नहीं होता। मैनाक नामक पुत्र के होते हुए भी, पिता हिमालय का अपनी प्रिय पुत्री में वात्सल्य-स्नेह असीमित था। अपनी पुत्री पार्वती को बार-बार देखने पर भी उनकी दृष्टि तृषित (प्यासी) ही रह जाती थी, वह तृप्त नहीं हो पाती थी—

'महीभूतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम्'।[४]

पार्वती कन्या थीं। उनसे उनके वंश का गौरव बढ़ा। उन्होंने अपने पिता पर्वतराज को उसी प्रकार पवित्र तथा विभूषित किया, जिस प्रकार महती प्रभा दीपक को, आकाश गंगा आकाश को तथा प्रकृति और प्रत्यय का योग संस्कृत भाषा को सुशोभित करता है—

'प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तथा स पूतश्च विभूषितश्च ॥'[५]

---

१. कुमारसम्भव, १/२३ २. वही, १/२५
३. वही, १/२६ ४. वही, १/२७ पूर्वार्द्ध।
५. वही, १/२८

खेलकूद में शिशु पार्वती की सहज अभिरुचि थी। वे अपने बचपन में अपनी समवयस्क सखियों के साथ मन्दाकिनी के तट पर बालू-वेदिकाओं, गेदों और गुड़ियों से प्रायः खेलती थी—

'मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः सा कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकैश्च।
रेमे मुहुर्मध्यगता सखीनां क्रीडारसं निर्विशतीव बाल्ये ॥[1]

शैशवावस्था से ही पार्वती का विद्या के प्रति अनुराग था। पूर्वजन्म की प्रतिभा तथा संस्कार के कारण उन्होंने शैशवकाल में ही विद्याओं को अर्जित कर लिया।

'कुमारसम्भव' में पार्वती की शैशवावस्था का बस इतना ही वर्णन है। उसके अनन्तर उनकी यौवनावस्था का चित्रण है, जो उनके पत्नीत्व तथा मातृत्व का कारण बनता है। पार्वती का जो शैशव अपने माता-पिता के आनन्द का कारण बना था, वह संक्षिप्त रूप से चित्रित होते हुए भी सहृदय पाठकों के हृदय का भी आह्लाद करता है। उक्त वर्णन में वात्सल्यरस का सुन्दर उद्रेक है। उमा (पार्वती) की उत्पत्ति को महत्ता देते हुए, इस सर्ग का नाम 'उमोत्पत्ति वर्णन' रखा गया है।[2]

कुमारसम्भव में शैशव-चित्रण का दूसरा स्थल एकादश सर्ग है, जहाँ कुमार कार्तिकेय का विशद तथा आकर्षक शैशवचित्रण (बालचित्रण) है। कालिदास ने, कुमारसम्भव के दशम सर्ग में ही कृत्तिकाओं से कुमार (कार्तिकेय) की असाधारण उत्पत्ति के आधार पर, दशम सर्ग को 'कुमारोत्पत्ति' नाम से अभिहित किया है, और उसी को आधार बनाकर इस महाकाव्य का नाम भी 'कुमारसम्भव' रखा है।[3]

जैसा कि ऊपर कहा गया है, कुमारसम्भव का एकादश सर्ग कुमार कार्तिकेय की बाल-लीलाओं से परिपूर्ण है। समस्त सर्ग वात्सल्य रस का अत्यन्त सुन्दर एवं मनोहारी चित्र प्रस्तुत करता है। कुमार की बाल-सुलभ चेष्टा, कलकण्ठ से निकले मधुर शब्द तथा उनकी बालसुलभ क्रीड़ायें, किसके मन को हर नहीं लेती ? यहाँ पर ध्यातव्य है कि कुमार कार्तिकेय की उत्पत्ति-कथा अत्यन्त अलौकिक है। शंकर के वीर्य को कृत्तिकाओं द्वारा गर्भ के रूप में धारण करना, फिर उसे शरवण (सरपत के वन) में छोड़ना और उससे छह मुख वाले कुमार की उत्पत्ति—सब कुछ अलौकिक और आश्चर्यंकर ही है। यही नहीं, एकादश सर्ग

१. कुमारसम्भव, १/२९
२. कुमारसम्भवे महाकाव्य उमोत्पत्तिर्नाम प्रथमः सर्गः।
३. कुमारसम्भव, सर्ग १०, श्लोक ५६, ५७, ५८ तथा ६०।

का आरम्भ भी अलौकिकता से मण्डित है। उसके प्रथम श्लोक में देवों के द्वारा प्रार्थना करने पर मन्दाकिनी नवजात शिशु (कुमार) को अमृत से परिपूर्ण अपना स्तनपान कराती है।[1] मन्दाकिनी के दुग्ध का पान कर, छह कृत्तिकाओं से सेवित होकर, वह नवजात शिशु अनिर्वचनीय आकार को प्राप्त करने लगता है।[2]

उस अलौकिक पुत्र को पाकर अपने वात्सल्य भाव को कृतार्थ करने के लिए गङ्गा, अग्नि और छह कृत्तिकाओं में विवाद होने लगता है।[3] सभी उसको प्राप्त करने के लिए अपना पक्ष प्रस्तुत करते हैं। उसी समय पार्वती के साथ वहाँ शिव उपस्थित होते हैं। दोनों की दृष्टि मात्र छः दिन के उस नवजात शिशु पर पड़ती है। उनके नेत्रों से सहसा आनन्द के आँसू छलक जाते हैं। आनन्दाश्रुओं के माध्यम से उनका वात्सल्य भी मानो बाहर छलक जाता है—

'निसर्गवात्सल्यवशाद्विवृद्धचेतःप्रमोदौ गलदश्रुनेत्रौ।
अपश्यतां तं गिरिजागिरीशौ षडाननं षड्दिनजातमात्रम्॥[4]

पार्वती का मातृ-हृदय असीम आनन्द से आप्लावित हो ही जाता है, उसमें पितृ-हृदय-वात्सल्य भी मिल जाता है। वे शंकर से पूछ बैठती हैं—'दिव्य शरीर वाले इस पुत्र का अतिशय भाग्य वाला पिता तथा भाग्यवती स्त्रियों में अग्रणी माता कौन है?[5] पार्वती के इस प्रकार पूछने पर जब शंकर ने समस्त लोगों को प्रिय लगने वाले उस बालक को उन्हीं का (पार्वती का) पुत्र बतलाया और उनसे अपने पुत्र को गोद में उठा लेने को कहा—

'स्वपुत्रमुत्सङ्गतले निधेहि'[6]

तब पार्वती का मन आनन्द से उत्कण्ठित हो गया। पार्वती, गंगा, अग्निदेव तथा कृत्तिकाओं की परवाह किये बिना, उस पुत्र के पास पहुँच जाती हैं। भला पुत्रोत्सव में कौन स्त्री हर्ष से मत्त नहीं हो जाती—

'पुत्रोत्सवे माद्यति का न हर्षात्'[7]

अपने समक्ष उपस्थित होने पर भी उस पुत्र को पार्वती कुछ क्षण के लिए नहीं देख पातीं, क्योंकि उनकी आँखें हर्ष के आँसुओं से भरी थीं। अपने पुत्र को केवल अपने कोमल हाथों से स्पर्श करती हुई वे एक अवर्णनीय सुख का अनुभव कर रही थीं—

---

१. कुमारसम्भव, ११/१
२. वही, ११/२
३. वही, ११/३
४. वही, ११/५
५. वही, ११/६
६. वही, ११/१४
७. वही, ११/१७ उत्तरार्द्ध

प्रमोदबाष्पाकुललोचना सा न तं ददर्श क्षणमग्रतोऽपि ।
परिस्पृशन्ती करकुड्मलेन सुखान्तरं प्राप किमप्यपूर्वम् ॥[1]

कुछ क्षणों के बाद ज्यों ही पार्वती की वात्सल्यमयी दृष्टि उस शिशु पर पड़ी, वे अपलक उसे निहारती ही रह गयीं। उस समय उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि पुत्र-दर्शन-जनित आनन्द को पाने के लिए उनके दो नेत्र अपर्याप्त हैं, फलतः उस समय अपलक हजारों नेत्रों की कामना करने लगीं, ताकि उनका चरमोत्सुक वात्सल्य कृतार्थ तो हो सके। पुत्र-दर्शन-रूप मङ्गल की प्राप्ति में किस माता-पिता का चित्त तृप्त हो सकता है—

तमीक्षमाणा क्षणमीक्षणानां सहस्रमाप्तुं विनिमेषमैच्छत् ।
सा नन्दनालोकनमङ्गलेषु क्षणं क्षणं तृप्यति कस्य चेतः ॥[2]

पार्वती अपने ही आत्मा के प्रतिबिम्ब-स्वरूप उस पुत्र को अपनी गोद में उठा लेतीं हैं और इस प्रकार वे पुत्रवती स्त्रियों में अग्रणी हो जाती हैं।[3] वे वात्सल्य रस से सिक्त तथा प्रगाढ़ हर्ष से पूर्ण हो जाती हैं और उनके स्तन में उनके वात्सल्य का व्यंजक दूध भर जाता है।[4] पार्वती की बिडम्बना यह थी कि छह मुख वाले उस पुत्र के सभी मुखों को चूमने के लिए उनके पास छह मुख नहीं थे। इसलिए उन्होंने अपने एक ही मुख से एक साथ ही छहों मुखों को चूम लिया।[5]

अपने पुत्र के प्रति पिता का वात्सल्य भी माता के वात्सल्य से कम नहीं होता। हर्ष से रोमांचित शिव ने भी उस पुत्र को अपनी गोद में ले लिया—

महेश्वरोऽपि प्रमदप्ररूढरोमोद्गमो भूधरनन्दनायाः ।
अङ्कादुपादत्त तदङ्कतः सा तस्यास्तु सोऽप्यात्मजवत्सलत्वात् ॥[6]

उन दिनों भी पुत्रोत्सव बड़ी धूम-धाम से होता था। दोनों पति-पत्नी अपने पुत्र के साथ घर पहुँचकर पुत्रोत्सव का आयोजन करते हैं। भवन सज जाते हैं। महोत्सव के सूचक नगाड़े आदि वाद्य बजने लगते हैं। अप्सरायें गाती और नृत्य करती हैं। पार्वती के सत्कार से सत्कृत गन्धर्वों और विद्याधरों की स्त्रियाँ मङ्गलगान करती हैं, माङ्गलिक उपहारों को लेकर उपस्थित ब्राह्मी, माहेश्वरी आदि सात मातायें पुत्र को आशीर्वाद देती हैं। प्रकृति भी आनन्दोत्सव में तटस्थ न रहकर सहभागिनी बन जाती है। आनन्ददायक वायु बहता है, दिशायें निर्मल हो जाती हैं, धूमरहित अग्नि प्रज्ज्वलित हो जाती है, आकाश और जल निर्मल

---

१. कुमारसम्भव, ११/१८ २. वही, ११/२०
३. वही, ११/२२ ४. वही, ११/२३
५. वही, ११/२५ ६. वही, ११/२८

हो जाते हैं। इस प्रकार प्राणि-लोक की भाँति पांचों महाभूत भी आनन्द मनाने लगते हैं। मर्त्यलोक के प्राणी ही नहीं दिव्यलोक के देवता भी विमानों से पुष्प-वृष्टि करते हैं।[१]

पार्वती-परमेश्वर के द्वारा आयोजित पुत्रोत्सव के रूप में समस्त चर-अचर जगत् तो आनन्द-विभोर हो जाता है, परन्तु अकेले तारकासुर की लक्ष्मी काँप सी जाती है।[२]

माता-पिता ही नहीं समस्त लोक के आनन्द के केन्द्रीभूत कुमार कुछ बड़े होते हैं और अपनी बाल-क्रीडा प्रारम्भ कर देते हैं। इनकी बाल-क्रीडा शिव-पार्वती के हृदय को हर लेती है। मनोहर बाल-केलि भला किसको आनन्दित नहीं करती—

'ततः कुमारः समुदां निदानैः स बाललीलाचरितैर्विचित्रैः।
गिरीशगौर्योर्हृदयं जहार मुदे न हृद्या किमु बालकेलिः॥[३]

दन्त-विहीन शिशु के मुख को चूमने के लिये सभी लालायित रहते हैं, इस प्रकार का चुम्बन भी वात्सल्य-प्रेम के प्रकाशन का एक प्रकार ही है। भला शिव-पार्वती उसके अपवाद कैसे हो सकते थे? दोनों (शिव-पार्वती) बारी-बारी से अपने प्राणभूत शिशु का मुख चूम लेते हैं—

महेश्वरः शैलसुता च हर्षात्सतर्षमेकेन मुखेन गाढम्।
अजातदन्तानि मुखानि सूनोर्मनोहराणि क्रमतश्चुचुम्ब॥[४]

प्रारम्भ में धरती पर चलने का प्रयास करने वाले शिशु का लड़खड़ाना, गिरना तथा काँपना आदि स्वाभाविक है। उसकी इस प्रकार की बालसुलभ चेष्टा बड़ी आनन्ददायिनी होती है। क्रमशः विकास की ओर बढ़ने वाला वह कुमार भी धरती पर पैर रखने का सहज अभ्यास करता है। उसका पैर कहीं ठीक पड़ता है, कहीं फिसल जाता है, कहीं काँपता है और कहीं नहीं काँपता। इस प्रकार की बाल-चेष्टा देखकर माता-पिता (पार्वती-परमेश्वर) आनन्द-विभोर हो जाते हैं—

क्वचित्स्खलद्भिः क्वचिदस्खलद्भिः क्वचित्प्रकम्पैः क्वचिदप्रकम्पैः।
बालः स लीलाचलनप्रयोगैस्तयोर्मुदं वर्धयति स्म पित्रोः॥[५]

छोटे बच्चों की बालसुलभ क्रीड़ायें भी बहुत मनोहर तथा आनन्ददायिनी होती हैं। उनका अकारण हँसना, धूलि से लथ-पथ हो जाना और कभी तोतली

---

१. कुमारसम्भव, ११/३१-३८　　२. वही, ११/३९
३. वही, ११/४०　　४. वही, ११/४१
५. वही, ११/४२

बोली बोलना सबको रिझा देता है। 'वह बालक (कुमार) कभी अपने माता-पिता की गोद में बैठकर अकारण हँसता है, कभी लोट-पोटकर धूलि-धूसरित हो जाता है और कभी तोतली बोली बोलकर उनके हर्ष का विस्तार करता है'—

अहेतुहासच्छुरिताननेन्दुर्गृहाङ्गणक्रीडनधूलिधूम्रः ।
मुहुर्वदन्किचिदलक्षितार्थं मुदं तयोरङ्कगतस्ततान ।।[1]

छोटे बच्चे इतने अबोध होते हैं कि वे बाल-सुलभ आदतों के कारण, अनिष्टकारक वस्तु तथा प्राणी का भी स्पर्श करते हैं और खाने आदि की चेष्टा करते हैं। उन्हें अपनी शैशवावस्था में अपने हित-अहित का भी ज्ञान नहीं रहता। वे कुछ ऐसा भी कार्य करते हैं, जिन्हें देखकर उनके माता-पिता के हृदय में एक अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। शिशु कार्तिकेय भी उन्हीं शिशु-सुलभ आदतों के वशीभूत होकर कभी अपने पिता के वाहनभूत-बैल की सींग पकड़ते हैं, कभी अपने माता के सिंह को सहज भाव से स्पर्श करते हैं, कभी भृङ्गी नामक गण की चोटी के अग्रभाग को खींचते हैं और इस प्रकार वे अपने माता-पिता (पार्वती-शिव) के हर्ष का कारण बनते हैं—

गृह्णन्विषाणे हरवाहनस्य स्पृशन्नुमाकेसरिणं सलीलम् ।
स भृङ्गिणः सूक्ष्मतरं शिखाग्रं कर्षन्बभूव प्रमदाय पित्रोः ।।[2]

शिशु मात्र खिलौना का प्रेमी होता है। उसके लिए संसार की सभी वस्तुयें खिलौना बन जाती हैं। विषधर साँप भी उसके लिए एक खिलौना ही है। अपने पिता की गोद में स्थित कुमार की निगाह उनके गले में लिपटे साँपों पर पड़ती है, तब वे साँपों के मुँह को फैलाकर उनके मुख के दाँतों की पंक्ति को एक, नौ, दो, दश, पाँच और सात आदि कहकर गिनने लगते हैं—

एको नव द्वौ दश पञ्च सप्तेत्यजीगणन्नागमुखं प्रसार्य ।
महेशकण्ठोरगदन्तपङ्क्तिं तदङ्कगः शैशवमौग्ध्यमैशिः ।।[3]

यही नहीं, कुमार का शिवजी के गले में लटकी हुई कपाल-माला के मुखों के भीतर दाँतों को मोती समझकर उन्हें खींचने के लिए आतुर होना, शिव जी के शिरस्थ गंगा के प्रवाह में डालने से ठण्ड लगे अपने हाथों को ललाट स्थित नेत्राग्नि में तपाना, मुकुरस्थित अर्द्धचन्द्र को चूमना—ये सब क्रियायें उनके सहज शैशव-क्रीड़ा को प्रतिबिम्बित करती हैं।[4]

---

१. कुमारसम्भव, ११/४३ २. वही, ११/४४
३. वही, ११/४५ ४. वही, ११/४६–४८

शिव और पार्वती दोनों का चित्त अपने पुत्र की शिशुक्रीड़ाओं में इतना आनन्दसिक्त था कि उन्हें यह भी नहीं पता चल पाता था कि रात और दिन कब बीत जाते—

इत्थं शिशोः शैशवकेलिवृत्तैर्मनोभिरामैर्गिरिजागिरीशौ ।
मनोविनोदैकरसप्रसक्तौ दिवानिशं नाविदतां कदाचित् ।।[1]

इस सन्दर्भ में यह विचारणीय है कि कुमार कार्तिकेय की उक्त सारी बालसुलभ क्रीड़ायें उनकी पाँच दिन की अवस्था तक की हैं, अर्थात् उनकी शैशवावस्था मात्र पाँच दिनों की है। छठवें दिन तो वे बुद्धि की पराकाष्ठा, शस्त्र-शास्त्र-ज्ञान और नवयौवन को प्राप्त कर लेते हैं।[2]

वात्सल्य-प्रेम की स्थिति यह है कि वह अपनी सन्तान की मात्र शैशवावस्था की ही अपेक्षा नहीं करता। सन्तान चाहे जिस अवस्था को प्राप्त कर ले, माता-पिता का उसके प्रति वात्सल्य भाव अक्षुण्ण बना रहता है। कुमारसम्भव के त्रयोदश सर्ग में युवावस्था को प्राप्त कुमार कार्तिकेय, तारकासुर का वध करने के लिए प्रस्थान करने के पूर्व, जब अपने पिता के चरणों में नत होते हैं, तब शिव वात्सल्यप्रेम से अभिभूत हो जाते हैं और वे उनका मस्तक सूँघकर, उन्हें शत्रुविजय का आशीर्वाद देते हैं।[3] अपने चरणों में झुके हुए अपने प्रिय पुत्र को देखकर माता पार्वती का पुत्र-वात्सल्य तो आनन्दाश्रु बनकर तथा उनकी आँखों से प्रवाहित होकर कुमार के श्रेष्ठ वीरत्व का मानो अभिषेक सा करने लगता है—

प्रह्वीभवन्नम्रतरेण मूर्ध्ना नमश्चकाराङ्घ्रियुगं स्वमातुः ।
तस्याः प्रमोदाश्रुपयःप्रवृष्टिस्तस्याभवद्वीरवराभिषेकः ।।[4]

पुत्र-वात्सल्य से अभिभूत माता पार्वती अपने वीर पुत्र को गोद में बैठाकर तथा उसका सिर सूँघकर यह आशीर्वाद देती हैं कि 'हे वत्स ! तुम शत्रु तारकासुर को जीतकर, वीरमाता मुझको कृतार्थ करो।'[5]

निस्सन्देह कुमारसम्भव का ११वाँ सर्ग शैशव-चित्रण का एक भव्य आकर्षक स्वरूप प्रस्तुत करता है। उसमें सहजता, सरसता तथा आकर्षण है। शैशवावस्था में स्थित कुमार की बालोचित चेष्टायें तथा क्रीड़ायें आदि उनके माता-पिता के हृदय को अपूर्व वात्सल्यप्रेम से ओत-प्रोत बना देती हैं। काव्यात्मक ढंग से प्रकाशित होकर वात्सल्यप्रेम सहृदय के हृदय में अपूर्व सरसता का संचार करता है।

---

१. कुमारसम्भव, ११/४९ २. वही, ११/५०
३. वही, १३/२ ४. वही, १३/३
५. वही, १३/४

कुमारसम्भव में पार्वती का वात्सल्य भाव, मानवीय घेरे को तोड़कर, अमानवीय बालवृक्षों को भी समेट लेता है, जिन्हें उन्होंने घटरूपी स्तनों के जल-रूपी दूध से पुत्रवत् पाला-पोषा था। बालवृक्षों के प्रति उनका वात्सल्य इतना प्रगाढ़ था कि 'उसका अपसारण, भावी कुमार कार्तिकेय का वात्सल्य भी नहीं कर सकेगा, ऐसा प्रतीत होता था'—

अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान्घटस्तनप्रस्रवणैर्व्यवर्धयत् ।
गुहोऽपि येषां प्रथमाप्तजन्मनां न पुत्रवात्सल्यमपाकरिष्यति ॥[1]

मानवेतर शिशुप्राणियों के प्रति पार्वती का वात्सल्य भाव इतना विश्वसनीय बन गया था कि, उनके द्वारा जंगली धान के बीजों की अंजलि दे-देकर पालित-पोषित मृगों के बच्चों का उन पर अटूट विश्वास हो गया था। उक्त विश्वास पार्वती तथा मृगशावकों के नेत्र-मिलन के समय व्यंजित हो जाता है, जिसे पार्वती की सखियाँ अनायास ही जान जाती हैं—

अरण्यबीजाञ्जलिदानलालितास्तथा च तस्यां हरिणा विशश्वसुः ।
यथा तदीयैर्नयनैः कुतूहलात्पुरः सखीनाममिमीत लोचने ॥[2]

रघुवंश में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

रघुवंश कालिदास का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य हैं। इसमें कुल १९ सर्ग हैं। इसमें राजा दिलीप से प्रारम्भ कर अग्निवर्ण तक के रघुवंशी राजाओं का वर्णन है। रघुजन्म की पृष्ठभूमि से ही इस महाकाव्य का आरम्भ होता है। दिलीप द्वारा नन्दिनी गौ की सेवा के कारण रघु का जन्म होता है। रघु दिग्विजय, इन्दुमती स्वयंवर, अज-इन्दुमती-विवाह, इन्दुमती-मृत्यु तथा दसवें से लेकर पन्द्रहवें सर्ग तक रामचरित्र विस्तार के साथ वर्णित है, जिसमें सीता-चरित्र भी अपनी उत्कृष्टता के साथ चित्रित है। शेष सर्गों में परवर्ती रघुवंशी नरेशों के वर्णन के अनन्तर अन्त में कामुक अग्निवर्ण का विस्तारपूर्वक चित्रण है। रघुवंश की लोकप्रियता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उस पर लगभग ५० टीकायें लिखी गयी हैं। रघुवंश की उत्कृष्टता के कारण ही कालिदास को 'रघुकार' इस पदवी से विभूषित किया गया है। यद्यपि रघुवंश में दिलीप, अज, दशरथ तथा राम के अतिरिक्त कुश, निषध, नल, पुण्डरीक, सुदर्शन आदि (कुल २९) रघुवंशी राजाओं का संक्षिप्त वर्णन किया गया है, पर शैशव-चित्रण की दृष्टि से रघु तथा राम ही उल्लेख के योग्य हैं। सम्प्रति रघुवंश में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण पर प्रकाश डालना अभीष्ट है।

---

१. कुमारसम्भव, ५/१४ २. कुमारसम्भव, ५/१५

रघुवंश के प्रारम्भ में ही सन्तानाभाव (पुत्राभाव) से दुःखी राजा दिलीप की मार्मिक वेदना का चारु चित्रण है, जो मानवजीवन में सन्तान की महती अपेक्षा पर प्रकाश डालता है। अपनी पत्नी सुदक्षिणा के साथ उपस्थित होकर राजा दिलीप का गुरु वसिष्ठ से यह कथन कितना मार्मिक है कि सन्तान (पुत्र) के अभाव में उन्हें रत्न उत्पन्न करने वाली पृथिवी भी नहीं भाती—

> किन्तु वध्वां तवैतस्यामदृष्टसदृशप्रजम् ।
> न मामवति सद्वीपा रत्नसूरपि मेदिनी ॥[1]

उनकी दृष्टि में तपोदानजनित पुण्य तो मात्र स्वर्ग में सुख देने वाला होता है, परन्तु पवित्र वंश में उत्पन्न सन्तति इहलोक तथा परलोक दोनों में सुखदायी होती है—

> लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम् ।
> सन्ततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे ॥[2]

सन्तान के प्रति मानव क्या, प्राणिमात्र का एक सहज आकर्षण होता है, उसके प्रति प्राणिमात्र के हृदय में एक अपूर्व वात्सल्य होता है, जिसके कारण प्राणी सन्तान की उत्कट इच्छा करता है। यही सन्तति के प्रेम, उसकी प्राप्ति की आकांक्षा तथा सान्निध्य की अपेक्षा में मूल कारण है और प्राणिमात्र के हृदय में उसकी सत्ता है। उक्त वात्सल्य भाव की स्थिति राजा दिलीप तथा उनकी पत्नी सुदक्षिणा में भी थी। पर सन्तानाभाव में राजा के दुःखी होने का कारण विशेष भी था।

प्रस्तुत सन्दर्भ में इस तथ्य को विचारपथ पर लाना नितान्त आवश्यक है कि, भारतीय वर्णाश्रमव्यवस्था में चार वर्णों तथा चार आश्रमों का निर्धारण किया गया है। उसमें प्रत्येक वर्ण के द्वारा करणीय कार्यों का विधान भी निरूपित है। उसमें यह माना गया है कि मनुष्य के ऊपर तीन ऋण होते हैं, जिन्हें उसे चुकाना अनिवार्य होता है। वे हैं—देव-ऋण, पितृ-ऋण तथा ऋषि-ऋण। देव-ऋण यज्ञादि के आयोजनों द्वारा तथा ऋषि-ऋण (विद्या) दानादि द्वारा चुकता किया जा सकता है। जहाँ तक पितृ-ऋण का प्रश्न है, उससे, अपने आगे की पीढ़ी तैयार करके, अर्थात् सन्तान (पुत्र) उत्पन्न करके, अपने को मुक्त किया जा सकता है—

> ऋणं देवस्य यागेन ऋषीणां दानकर्मणा ।
> सन्तत्या पितृलोकानां शोधयित्वा परिव्रजेत् ॥

---

१. रघुवंश, १/६५ ।   २. रघुवंश १/६९ ।

पुनर्जन्म (जन्म-जन्मान्तर) में विश्वास करने वाली भारतीय-संस्कृति में अपने पितरों के प्रति श्राद्ध कर्म (पिण्डदान, तिलांजलि आदि) के विधान अवश्य करणीय होते हैं। पितर उक्त पिण्डदान, तिलांजलि आदि को सततरूप से तभी प्राप्त कर सकते हैं, जब वंशपरम्परा अक्षुण्ण बनी रहे, क्योंकि उसके अभाव में (अर्थात् सन्तान के अभाव में) पितर उक्त अपेक्षित तर्पण आदि पदार्थों की प्राप्ति कैसे कर सकते हैं ! राजा दिलीप की चिन्ता (वेदना) का एक बहुत बड़ा कारण यह भी था कि वे सन्तान के अभाव में अपने पितृ-ऋण से उन्मुक्त कैसे होंगे ? वही पितृ-ऋण राजा के मर्म को आहत कर रहा है—

असह्यपीडं भगवन्नृणमन्त्यमवेहि मे।
अरुन्तुदमिवालानमनिर्वाणस्य दन्तिनः ॥[१]

राजा दिलीप की यह आस्था (विश्वास) भी उन्हें सता रही है कि उनके निःसन्तान होने से उनके बाद पिण्ड का लोप देखकर श्राद्ध में उनके पितर इच्छा-पूर्वक उत्साही नहीं हो रहे हैं

नूनं मत्तः परं वंश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः।
न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधासंग्रहतत्पराः ॥[२]

आज दिलीप उसी पितृऋण से मुक्त होने के लिए अपने कुलगुरु वशिष्ठ से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि 'हे तात ! उस पैतृक-ऋण से जिस प्रकार मैं छुटकारा पा सकूँ, उसके (उस प्रकार उपाय के) विधान में आप समर्थ हैं, क्योंकि इक्ष्वाकु के राजाओं के कठिन कार्य के विषय में सभी सिद्धियाँ आपके अधीन हैं।[३]

गुरु के आदेश से सपत्नीक राजा दिलीप कामधेनु-सुता नन्दिनी के सेवा-व्रत में संलग्न हुए। उस समय नन्दिनी की सेवा और उसकी रक्षा ही उनका एक मात्र लक्ष्य था।

'सेवाधर्मः परमगहनः योगिनामप्यगम्यः' इत्यादि वचनों से प्रतिपादित कठोर सेवाव्रत का पालन करने वाले राजा से सर्वथा सन्तुष्ट होकर नन्दिनी ने जब उनसे यह कहा कि 'पुत्र ! मैं तुमसे अत्यन्त प्रसन्न हूँ, तुम वर माँगो—

प्रीताऽस्मि ते पुत्र ! वरं वृणीष्व।'[४]

तब राजा दिलीप ने 'दोनों हाथों को जोड़कर, सुदक्षिणा की कोख से, अपने वंश को चलाने वाले अनन्त कीर्तिशाली पुत्र की प्राप्ति की कामना की'—

---

१. रघुवंश, १/७१ २. वही, १/६६
३. वही, १/७२ ४. वही, २/६३ पूर्वार्द्धं

'वंशस्य कर्त्तारमनन्तकीर्ति सुदक्षिणायां तनयं ययाचे ॥'[१]

नन्दिनी ने सन्तान के इच्छुक राजा दिलीप को उनके वर के अनुरूप सहर्ष आशीर्वाद दिया। फलस्वरूप राज्ञी सुदक्षिणा ने राजा दिलीप के कुल की 'सन्तान रूप' सम्पत्ति के लिए श्रेष्ठ-लोक फलों के तेज से गर्भ को धारण किया—

नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी'[२]

तथा दसवें महीने में पुत्र उत्पन्न हुआ। समस्त वातावरण हर्ष और उल्लास से भर गया। पुत्र जन्म के समय दिशायें निर्मल हो गयीं, सुखस्पर्शी वायु बहने लगा, अग्नि दक्षिण की ओर घूम कर हविष् आदि ग्रहण करने लगा। उस समय सभी शुभ लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे।[३]

पुत्रप्राप्ति का आनन्द अन्य सभी आनन्दों को अतिक्रान्त कर देता है। उस आनन्द से आन्दोलित होकर मनुष्य सब कुछ न्योछावर कर एक और आनन्द-विशेष को प्राप्त करने हेतु लालायित हो जाता है। राजा दिलीप भी पुत्रप्राप्ति की खुशहाली में सर्वस्व न्योछावर करने को उतावले हो गये। उनके लिए पुत्रजन्म की प्रसन्नता में तीन वस्तुओं (छत्र, तथा दो चँवर) को छोड़कर, शेष सभी वस्तुएँ न्योछावर में मानो देय हो गयीं।[४]

प्रथम बार जब उन्होंने अपने अपलक नयनों से अपने चिरवाञ्छित पुत्र के मुखारविन्द को देखा, तो उनके आनन्द की कोई सीमा न रही। वह (आनन्द) उसी प्रकार उनके शरीर में समा न सका (अर्थात् शरीर के बाहर प्रकट हो गया) जिस प्रकार चन्द्र को देखने पर महान् समुद्र की जलवृष्टि समुद्र में नहीं समा पाती—

निवातपद्मस्तिमितेन चक्षुषा नृपस्य कान्तं पिबतः सुताननम्।
महोदधेः पूर इवेन्दुदर्शनाद् गुरुः प्रहर्षः प्रबभूव नात्मनि ॥[५]

यहाँ पर चन्द्र-दर्शन से असीमित समुद्र जलवृष्टि के दृष्टान्त से, राजा के अपने पुत्र-मुखदर्शन-जनित असीम आनन्द का वर्णन इस तथ्य का प्रकाशक है कि उनके हृदय में पुत्र के प्रति कितना अपार प्रेम भरा था।

पिता के द्वारा कराये गये संस्कारों से संस्कृत वह (शिशु), शान पर चढ़ाकर खान से निकले हुए मणि की भाँति, सुशोभित होने लगा। नृत्य, वाद्य-वादनादि का आयोजन राजभवन में ही नहीं, आकाश में भी हुआ, प्रसन्नता में

---

१. रघुवंश, २/६४ उत्तरार्द्ध
२. वही, २/७५ उत्तरार्द्ध
३ वही, ३/१३–१४।
४. वही, ३/१६
५. वही, ३/१७

सारे कैदी छोड़ दिये गये।[1] राजा ने यह जानकर कि यह बालक शास्त्रों तथा शत्रुओं के पार जायेगा (अर्थात् क्रमशः शास्त्र-पारङ्गत विद्वान् तथा शत्रु-विनाशक होगा) उसका (पुत्र का) गत्यर्थक 'लघि' धातु से निष्पन्न 'रघु' यह सार्थक नाम रखा।[2]

दिलीप और सुदक्षिणा दोनों पति-पत्नी पुत्र रघु को पाकर, उसी प्रकार आनन्दित हो गये जिस प्रकार पार्वती तथा शंकर कार्त्तिकेय को तथा इन्द्राणी तथा इन्द्र जयन्त को पाकर प्रसन्न हुए थे।[3]

बच्चे अपने समीपवर्ती बड़ों के शब्दोच्चारण आदि का सहजतः अनुकरण करने लगते हैं तथा उनके हाथ का सहारा लेकर चलने का अभ्यास करने लगते हैं। रघु भी धाई के द्वारा उच्चारण किये गये 'तात' शब्द का उच्चारण करने लगे। उसकी अंगुली का सहारा लेकर चलने लगे तथा प्रणाम करने की शिक्षा देने पर बड़ों के समक्ष विनत होने लगे। उनके इस प्रकार के क्रिया-कलाप को देखकर उनके पिता (दिलीप) का हर्ष चरम सीमा को पहुँच गया—

उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम्।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥[4]

अपने प्रिय प्राणी के अङ्गों के स्पर्श का सुख अनिर्वचनीय होता है, विशेषतः पुत्र के। अब तक राजा दिलीप पुत्रस्पर्शजन्य सुख से वंचित थे। जब उन्होंने अपने पुत्र को गोद में लिया तो, उसके स्पर्श से उनकी त्वचा पर मानो अमृत सा बरसने लगा। वे (राजा दिलीप) आँखें मूँदकर स्पर्श-सुख की सरिता में अवगाहन करने लगे—

तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि।
उपान्तसंमीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ ॥[5]

चूडाकर्म संस्कार के सम्पन्न होने पर रघु ने अपने समवयस्क मंत्रिपुत्रों के साथ वर्णमाला का ज्ञान करके वाङ्मय का अध्ययन प्रारम्भ किया।[6]

जन्मान्तरीय प्रतिभा एवं संस्कार से सम्पन्न रघु ने उपनयन संस्कार के पश्चात् गुरुओं से सम्यक् शिक्षा प्राप्त कर ली। इस प्रकार शास्त्रों तथा शस्त्रास्त्रों में निष्णात होकर उन्होंने यौवन में प्रवेश किया।[7]

रघु के बाद, पाँचवें सर्ग में 'अज' की उत्पत्ति का संक्षिप्त वर्णन है। महर्षि कौत्स के आशीर्वाद से रघु पत्नी ने गर्भ धारण किया[8] और समय पूरा

---

१. रघुवंश, ३/१८–२० २. वही, ३/२१
३. वही, ३/२३ ४. वही, ३/२५ ५. वही, ३/२६
६. वही, ३/२८ ७ वही, ३/२९ ८. वही, ५/३५

होने पर, ब्रह्ममुहूर्त में उत्पन्न होने के कारण, पिता रघु ने अजन्मा ब्रह्मा के नाम पर, उसका नाम 'अज' रखा ।[1] उस बालक अज का शरीर, पराक्रम तथा स्वाभाविक उन्नतत्व, सब कुछ, अपने पिता के समान था। एक दीपक से जलाये गये दूसरे दीपक में जिस प्रकार कोई अन्तर नहीं होता, उसी प्रकार रघु तथा उनसे उत्पन्न अज में कोई अन्तर नहीं था—

रूपं तदोजस्वि तदैव वीर्यं तदैव नैसर्गिकमुन्नतत्त्वम् ।
न कारणास्वाद् विभिदे कुमारः प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात् ॥[2]

अज की पत्नी इन्दुमती ने एक वीर पुत्र को उत्पन्न किया, जिसका नाम 'दशरथ' इसलिए रखा गया, क्योंकि वह दस सौ किरणों वाले सूर्य के समान कान्तिमान, अपने यश से दसों दिशाओं में प्रसिद्ध और दसमुख वाले रावण के शत्रु राम के पिता थे ।[3] पुत्र की उत्पत्ति से पितृ-ऋण से मुक्त राजा अज अत्यन्त सुशोभित हुए ।[4]

सन्तान की प्राप्ति के लिए 'पुत्रेष्टि' नामक यज्ञ शास्त्र-विहित है । अतः सन्तान न होने के कारण राजा दशरथ ने भी सन्तान-प्राप्ति की कामना से, 'पुत्रेष्टि' नामक यज्ञ का विधान किया ।[5] फलस्वरूप उनकी तीनों पत्नियों (कौसल्या, सुमित्रा तथा कैकेयी) में, महिषी (पटरानी) कौसल्या ने पापनाशक पुत्र को उसी प्रकार उत्पन्न किया, जिस प्रकार औषधि अन्धकार नाशक ज्योति को उत्पन्न करती है । नवजात शिशु का शरीर चूँकि सर्वांशतः मनोहर था, अतः उसके आधार पर, पिता ने उसका नाम 'राम' रखा जो संसार का प्रथम मङ्गल (सुलक्षण) था । रघुवंश के दीपक के समान उस बालक का तेज इतना उन्नत तथा अनुपम था कि उससे प्रसूतिगृह के समस्त दीपक फीके पड़ गये ।[6]

उस समय (बालकोत्पत्ति से) कृशोदरी शय्यास्थिता कौशल्या उसी प्रकार शोभित हुई, जिस प्रकार शरत्काल में, तट पर दी गयी कमल-पुष्प की बलि से, क्षीणकाया गङ्गा सुशोभित होती है ।[7]

राम की उत्पत्ति के समय ही कैकेयी ने शीलयुक्त भरत नामक पुत्र को तथा सुमित्रा ने लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न नाम जुड़वे पुत्रों को जन्म दिया ।[8]

उक्त चारों पुत्रों, विशेषकर राम के जन्म से, पूरा ब्रह्माण्ड आह्लादित हो गया । आनन्द की प्राप्ति में चर-अचर का कोई नियमन नहीं रहा । उनके

---

१. रघुवंश, ५/३६
२. वही, ५/३७
३. वही, ८/२८-२९
४. वही, ८/३०
५. वही, १०/४
६. वही, १०/६७-६८
७. वही, १०/६९
८. वही, १०/७०-७१

जन्म के समय सारे संसार से दुर्भिक्षादि दोष विदा हो गये, आरोग्य तथा अन्नादि की वृष्टि हो गयी, मानो पृथ्वी पर, भगवान् विष्णु के अवतीर्ण होने से, उस पर स्वर्ग लोक ही उतर गया। दसों दिशाओं में सुखद वायु बहने लगा।[1] रामादि के जन्म से होने वाले आनन्द-प्रकाशक उत्सव, न केवल दशरथ की राजधानी और मर्त्यलोक में हुये, बल्कि उससे अधिक स्वर्ग लोक में हुये, जहाँ देवताओं ने ही सर्वप्रथम जन्मोत्सव विषयक दुन्दुभियाँ बजाई।[2] साथ ही दशरथ के राजभवन में कल्पवृक्षों की पुष्पवृष्टि भी हुयी।[3]

(जातकर्मादि) संस्कारों से संस्कृत तथा धाई के दूध से पालित-पोषित उन बालकों के साथ दशरथ का आनन्द भी बढ़ते लगा। वे बालक सहजतः विनीत थे। शिक्षा के द्वारा उनकी सहज विनम्रता, उसी प्रकार बढ़ गयी, जिस प्रकार हविष् से अग्नि का सहज तेज और बढ़ जाता है।[4]

प्रायः समवयस्क बच्चों से आपस में कलह हो जाता है, जिसे उनके माता-पिता या अभिभावक समझाबुझा कर शान्त करते हैं। उसके विपरीत, रामादि चारों भाइयों में परस्पर कोई विरोध नहीं था। जिस प्रकार नन्दनवन में सभी ऋतुयें विरोध-रहित होकर उसे (नन्दन वन को) संशोभित करती हैं, उसी प्रकार उन चारों पुत्रों ने विरोध-रहित होकर (अर्थात् परस्पर प्रीतियुक्त होकर) (रघु के निर्दोष वंश) रघुवंश (को सुशोभित किया)। यूँ तो उन सभी में पारस्परिक प्रीति थी, पर राम की लक्ष्मण के साथ तथा भरत की शत्रुघ्न के साथ घनिष्ठता अधिक थी। उन सबकी एकता उसी प्रकार दृढ़ थी, जिस प्रकार वायु तथा अग्नि की एवं चन्द्र और सूर्य को होती है। उन्होंने (चारों भाइयों ने) अपने प्रभाव तथा विनय से, अपने परिवार-जनों की भाँति, प्रजाजनों के मनों को भी हर लिया।[5]

राजा दशरथ के वे चार पुत्र क्या थे, मानों पृथ्वी पर धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष नामक चार पुरुषार्थ ही अवतीर्ण हो गये हैं—

> स चतुर्धा बभौ व्यस्तः प्रशवः पृथिवीपतेः।
> धर्मार्थकाममोक्षाणामवतार इवाङ्गवान्॥[6]

वीरतादि गुणों से मण्डित राम और लक्ष्मण की, शैशवावस्था में ही, समाज के रक्षण के लिए, आवश्यकता पड़ गयी। विश्वामित्र ने अपने यज्ञ की

---

१. रघुवंश, १०/७२–७३ २. वही, १०/७६
३, वही, १०/७७ ४. वही, १०/७८–७९
५. वही, १०/८०–८३ ६. वही, १०/८४

रक्षा के लिए दशरथ से काकपक्षधर बालक राम को माँगा। उन्होंने राम की बाल्यावस्था का ध्यान नहीं रखा, क्योंकि (वे) विश्वामित्र जानते थे कि तेजस्वियों की अवस्था नहीं देखी जाती—

तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते [१]

जिस प्रकार तेज अवस्था नहीं देखता, उसी प्रकार पिता का पुत्रवात्सल्य भी अपनी सन्तान की अवस्था नहीं देखता। चाहे सन्तान की अवस्था अधिक ही क्यों न हो। विश्वामित्र के साथ प्रस्थान के समय, पिता के चरणों में प्रणत राम-लक्ष्मण के ऊपर, पिता (दशरथ) क वात्सल्य-प्रेम के आँसू गिर पड़ते हैं।[२] पिता दशरथ का वात्सल्यप्रेम, उस विषम घड़ी में भी छलक पड़ा जब स्वयंवर भूमि में काल-स्वरूप परशुराम से राम को मुक्ति मिली और भयजनित शोक से आक्रान्त उनका हृदय आनन्दित हो गया, फलस्वरूप उन्होंने अपने पुत्र राम का आलिङ्गन करते हुए यह अनुभव किया जैसे राम का पुनर्जन्म हुआ हो।[३]

रघुवंश के सत्रहवें सर्ग में राम-पुत्र कुश के 'अतिथि' नामक पुत्र के जन्म का उल्लेख-मात्र है, जिसने अपने जन्म से अपने माता-पिता के वंश को पवित्र किया।[४] अतिथि के बाद रघुवंश के निषण, नल, नभ आदि से लेकर, सुदर्शन पर्यन्त बाईस राजाओं की उत्पत्ति का रघुवंश के अष्टादश सर्ग में उल्लेख मात्र है। किसी के शैशव का कोई चित्र उपस्थित नहीं है। उन्नीसवें सर्ग के प्रारम्भ में, सुदर्शन के पुत्र 'अग्निवर्ण' के अभिषिक्त होने की चर्चा मात्र है।[५] उनकी उत्पत्ति की चर्चा नहीं है।

रघुवंश में दिलीप पुत्र रघु का कुछ विशेष रूप से शैशव-चित्र चित्रित है। दशरथ पुत्र राम (लक्ष्मणादि सहित) के जन्म के समय चर-अचर के हर्षोल्लास का विशेष रूप से वर्णन है। अन्य के जन्म का उल्लेख मात्र है। अतः यह कहना समीचीन है कि शैशवचित्रण की दृष्टि से रघुवंश का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। उसमें वात्सल्यप्रेम का भव्य चित्र अवश्य चित्रित है।

कालिदास के नाटकों में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

मालविकाग्निमित्र में वात्सल्य एवं शैशव चित्रण—

मालविकाग्निमित्र कालिदास की प्रथम नाट्यकृति है। उस नाटक की प्रस्तावना से उसके प्रथम कर्तृत्व का बोध होता है। प्रस्तावना में कालिदास ने कहा है कि 'कोई वस्तु (रचना) मात्र पुरानी होने से ही उत्कृष्ट नहीं हो जाती। उसी प्रकार कोई काव्य मात्र नवीन होने से अग्राह्य भी नहीं हो सकता—

१. रघुवंश, ११/१ २. वही, ११/४ ३. वही, ११/९२
४. वही, १ /१–२ ५. वही, १९/१

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।[१]

इस नाटक की अपरिपक्व शैली से भी यही बात सिद्ध होती है ।

इस नाटक में कुल पाँच अंक हैं । इसका नायक शुंगवंशीय राजा अग्निमित्र तथा नायिका मालविका है । इसमें विलासी राजाओं के अन्तःपुर में होने वाली कामक्रीड़ाओं तथा रानियों के पारस्परिक ईर्ष्या आदि का यथार्थ तथा आकर्षक चित्रण है । इस नाटक के समस्त पात्र युवा एवं प्रौढ़ हैं । अतः इस (नाटक) में शैशव-चित्रण के लिए कोई स्थान नहीं हैं । एक स्थल ऐसा अवश्य प्राप्त होता है, जहाँ पुत्र की चर्चा से माता के हृदय में वियोग-वात्सल्य का प्रादुर्भाव होता है । नाटक के पाँचवे अंक में, अश्वमेध घोड़े की रक्षा में, अपने पुत्र वसुमित्र के भी नियोजित होने के समाचार से उसकी माता धारिणी यह कहती हुई विचलित सी हो जाती है—

'अतिघोरे खलु पुत्रकः सेनापतिना नियुक्तः ।'[२]

'अर्थात् सेनापति ने मेरे पुत्र को अति घोर कार्य में लगा दिया है ।' वसुमित्र की वीरता के लिए जब परिव्राजिका बधाई देती हुई, धारिणी को वीर माता कहकर, उनकी श्लाघा करती है,[३] तब धारिणी यह कहकर अपने आनन्द (वात्सल्यभावमिश्रित) का प्रकाशन करती है कि मेरा बच्चा अपने पिता के समान ही पराक्रमी निकला—

'भगवति ! परितुष्टास्मि यत्पितरमनुजातो मे वत्सकः ।'[४]

विक्रमोर्वशीय में वात्सल्य एवं शैशव चित्रण—

विक्रमोर्वशीय कालिदास की दूसरी नाट्य रचना है । इसमें कुल पाँच अंक हैं । नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से यह उपरूपक भेद 'त्रोटक' के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है । इसमें ऋग्वेद आदि में वर्णित चन्द्रवंशी राजा 'पुरुरवा' तथा अप्सरा 'उर्वशी' का प्रेमाख्यान वर्णित है । परोपकाररत पुरुरवा के द्वारा, राक्षसों के चंगुल से अप्सरा उर्वशी के उद्धार से ही, इस नाटक की कथा का प्रारम्भ होता है । इसमें उर्वशी के प्रति पुरुरवा का आकर्षण, भरत मुनि का शाप, कार्तिकेय का नियम, उर्वशी का रूप परिवर्तन, राजा का प्रलाप आदि काव्यात्मक चारुत्व के साथ निरूपित है । इसमें श्रृंगाररस के दोनों पक्षों, सम्भोग तथा विप्रलम्भ, का अच्छा परिपाक है । इस नाटक में पात्रों की संख्या कम है । पुरुरवा इस त्रोटक का नायक तथा उर्वशी इसकी नायिका है । इन दोनों के अतिरिक्त राजा

---

१ मालविकाग्निमित्रम् १/२

२. वही, पंचम अंक, श्लोक १४ के पश्चात् ।

३. वही, ५/१६ । ४. वही, ५/१६ के पश्चात् ।

की पटरानी औशीनरी, उर्वशी की प्रिय सखी चित्रलेखा, राजा का मित्र विदूषक, पुरुरवा का पुत्र कुमार आयु, औशीनरी की दासी निपुणिका एवं कंचुकी आदि का चरित्र भी इसमें वर्णित है।

जहाँ तक शैशव-चित्रण का प्रश्न है, इस त्रोटक में भी उसके लिए कोई विशेष स्थान नहीं है, पर उसके पाँचवें अंक में कुमार आयु के वर्णन से वह (शैशव-चित्रण) भी कुछ स्थान पा गया है। राजा की लापता संगमनीय मणि को बाण के साथ लेकर कंचुकी प्रवेश करता हैं। उस बाण पर अंकित अक्षरों को राजा पढ़ता है—

उर्वशीसम्भवस्यायमैलसूनोर्धनुष्मतः।
कुमारस्यायुषो बाणः संहर्ता द्विषदायुषाम्॥[1]

अर्थात् 'उर्वशी' से उत्पन्न पुरुरवा के पुत्र धनुर्धारी आयु नामक कुमार का यह बाण शत्रुओं के प्राणों का संहार करने वाला है।' अपने पुत्र के रूप में आयु का नाम सुनकर राजा थोड़ा ऊहापोह एवं आश्चर्य का भाजन हो ही रहा था कि, इसी बीच कंचुकी आकर सूचना देता है कि 'च्यवन ऋषि के आश्रम से कोई तपस्विनी एक कुमार को लेकर आयी है।'[2] उन दोनों के प्रवेश करने पर, उन्हें देखकर ज्यों ही विदूषक यह कहता हैं कि 'यह वही क्षत्रिय-कुमार है, जिसके नाम से अंकित तथा गिद्ध रूप लक्ष्य का वेध करने वाला बाण मिला है और जो आपसे बहुत मिलता-जुलता है।[3] राजा उससे 'एवमेतत्' (यह तो ऐसा ही है) कहकर गद्गद हो जाता है। उसके हृदय में वात्सल्य-प्रेम का जैसे स्रोत सा फूट पड़ता है। आंखों में आनन्दाश्रु उमड़ पड़ते हैं, मन प्रसन्न हो जाता है, उनका धैर्य नष्ट हो जाता है अर्थात् वह अधीर हो जाते हैं, उनके अंग काँपने लगते हैं और वे अपने पुत्र का आलिंगन करने के लिए अत्यन्त अभिलाषी हो जाते हैं—

बाष्पायते निपतिता मम दृष्टिरस्मिन्
वात्सल्यबन्धिहृदयं मनसः प्रसादः।
संजातवेपथुभिरुज्झितधैर्यवृत्ति-
रिच्छामि चैनमदयं परिरब्धुमङ्गैः॥[4]

सदा अपने सान्निध्य में उपस्थित रहने वाली अपनी सन्तान को बार-बार देखने पर भी जब माता-पिता की उसे देखने एवं आलिंगन करने की उत्कट इच्छा बलवती ही बनी रहती है, तब भला वियुक्त होने के बाद नयनगोचर होने वाली

---

१. विक्रमोर्वंवशीयम्, ५/७ २. वही, पंचम अंक
३. वही, पंचम अंक ४. वही, ५/९

सन्तान के प्रति माता-पिता के हृदय की इच्छा का क्या पूछना ? उक्त कथन एक ऐसे ही वात्सल्याभिभूत पिता (पुरुरवा) का है, जिसमें किंचिन्मात्र भी अतिशयोक्ति नहीं है।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि अपने बच्चों को पाकर (देखकर) माता-पिता जिस प्रकार आनन्द-विभोर होते हैं, उसी प्रकार बच्चे भी अपने माँ-बाप का सब कुछ पाकर आनन्दित होते हैं और उनके गोद में बैठकर स्पर्श-सुख प्राप्त करने के लिए सदा लालायित रहते हैं। कुमार आयु, अपने पिता को प्रणाम कर उनसे 'आयुष्मान्' होने का '(वत्स ! आयुष्मान् भव)' आशीर्वाद प्राप्त करने के बाद, पितृ-प्रेम से विह्वल होकर कुछ कहने के लिए बाध्य हो जाता है—

यदि हार्दमिदं श्रुत्वा पिता ममायं सुतोऽहमत्येति।
उत्सङ्गवर्धितानां गुरुषु भवेत्कीदृशः स्नेहः ॥[1]

अर्थात् 'यदि ये मेरे पिता है और मैं इनका पुत्र हूँ, यही सुनकर इतना प्रेम हो रहा है तो (पिता की) गोद में पलकर बढ़े हुए बालकों को पिता से कितना प्रेम होता होगा ?'

त्वगिन्द्रिय का विषय स्पर्श है। अतः जिस प्रकार अन्य ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषय की उपलब्धि या सान्निध्य के लिए लालायित रहती हैं, उसी प्रकार त्वगिन्द्रिय भी स्वर्श के लिए उत्सुक रहती है। यूँ तो उसके लिए अभिप्रेत वस्तुमात्र आनन्दकर होती है, परन्तु पुत्र-स्पर्श-जनित आनन्द अन्य सभी आनन्दों को गौण बना देता है। वस्तुतः पुत्र-स्पर्श से बढ़कर संसार में अन्य कोई स्पर्श नहीं होता है।[2] पितृभूत राजा (पुरुरवा) अपने पुत्र को देख कर सहसा कह उठते हैं—

'एह्येति वत्स !
सर्वाङ्गीणः स्पर्शः सुतस्य किल तेन मामुपनतेन।
आह्लादयस्व तावच्चन्द्रकरश्चन्द्रकान्तमिव ॥[3]

अर्थात् 'आओ पुत्र आओ। पुत्र का स्पर्श सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है। अतः प्राप्त हुए उस स्पर्श से मुझे उसी तरह आह्लादित करो, जिस तरह चन्द्र की किरणें चन्द्रकान्त मणि को आह्लादित करती हैं।'

इसी बीच राजा के बुलाने पर वहाँ उर्वशी पहुँच जाती है। उस समय सोने के पीढ़े पर बैठाकर राजा उसके बालों को संभाल रहे हैं। उसे देखकर पहले

---

१. विक्रमोर्वशीयम्, ५/१०
२. महाभारत, सभापर्व, ७४/५८ का उत्तरार्द्ध ३. विक्रमोर्वशीयम्, ५/११

तो उर्वशी (उसको) नहीं पहचान पाती, पर उसके साथ तपस्विनी को देखते ही पहचान जाती है और कहती है कि 'अरे ! यह सत्यवती सहित मेरा पुत्र है। बहुत बड़ा हो गया है।'

सत्यवतीसहितः पुत्रको मे आयुर्महान् खलु संवृत्तः।[१]

अपनी सन्तान को देखकर जननी उर्वशी का हृदय वात्सल्य से अत्यन्त आर्द्र होता है। इतने अन्तराल के बाद अपने पुत्र को देखकर वे अत्यन्त विह्वल हो जाती हैं। उनके वस्त्र स्नेह संचित दूध से भींग जाते हैं और अपने पुत्र को देखने के लिये उनके नेत्र उत्कण्ठित हो जाते हैं। उर्वशी को देखकर, राजा, कुमार से उनकी भावविह्वलता की स्थिति को स्पष्ट करते हुए उनका परिचय कराता है—

इयं ते जननी प्राप्ता त्वदालोकनतत्परा।
स्नेहप्रस्रवनिर्भिन्नमुद्वहन्तीस्तनांशुकम् ॥[२]

पिता पुरुरवा के उक्त कथन में माता उर्वशी के उस हार्दिक भाव का प्रकाशन हुआ है, जिसमें स्पृहणीय वात्सल्य प्रेम कूट-कूट कर भरा है। आज के पहले तक, अपने को पुत्रहींन मानने वाले राजा पुरुरवा, आज अपने सत्पुत्र को पाकर अपने को कितना सौभाग्यशाली समझते हैं। यह उन्हीं के कथन से स्पष्ट हो जाता है—

अद्याहं पुत्रिणामग्र्यः सुपुत्रेण तवामुना।
पौलोमीसम्भवेनेव जयन्तेन पुरन्दरः ॥[३]

'अर्थात्, सुन्दरी ! आज मैं तुम्हारे इस सुपुत्र से पुत्रवानों में उसी प्रकार अग्रणी हो गया हूँ, जिस प्रकार इन्द्राणी से उत्पन्न हुए जयन्त से इन्द्र (पुत्रवानों में अग्रणी हैं।')

यद्यपि इस त्रोटक में कुमार आयु शैशवावस्था को पार करने के पश्चात् उपस्थित होता है। उसके विषय में तापसी उर्वशी से कहती है कि 'बेटी। आयु सब विद्यायें पढ़कर अब कवच धारण करने योग्य हो गये है, इसलिए मैंने तुम्हारे स्वामी के सामने तुम्हारी यह धरोहर (तुम्हें) सौंप दी।'[४]

राजा के इस कथन से भी यह सिद्ध होता है कि 'कुमार आयु की ब्रह्मचर्यावस्था बीत चुकी है और अब वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने योग्य हो गये हैं।[५]

---

१. विक्रमोर्वशीयम्, पंचम अंक पृष्ठ ३५०

२. वही, ५/१२ ३. वही, ५/१४

४. 'वत्से। गृहीतविद्य आयुः साम्प्रतं कवचार्हः संवृत्तः।
एष भर्तुः समक्षं निर्यातितः सखीहस्तनिक्षेपः।' वही, अंक ५

५. राजा—आर्ये वत्स ! उषितं त्वया पूर्वस्मिन्नाश्रमे। द्वितीयमध्याषितुं तव समयः। वही, अंक ५

फिर भी उसके प्रति माता-पिता का वात्सल्य भाव अक्षुण्ण है। अभी उसमें बाल-सुलभ भावनायें भी विद्यमान हैं, वह आश्रम को लौटने वाली तपस्वी से, बचपन के प्रियभाजन शितिकण्ठ नामक उस मयूर को भेजने के लिये कहता है, जो प्रेम पाकर उसकी गोद में सो जाता था—

> यः सुप्तवान् मदङ्के शिखण्डकण्डूयनोपलब्धसुखः।
> तं मे जातकलापं प्रेषय शितिकण्ठकं शिखिनम् ॥[1]

इस प्रकार आयु में कुछ बड़ा हो जाने पर भी कुमार आयु के प्रति माँ-बाप के वात्सल्य-स्नेह में कोई कमी नहीं है। उक्त मयूर के प्रति उसका बाल-सुलभ आकर्षण और प्रेम भी उसके बालकत्व को जीवित बनाये हुए है। इतना अवश्य है कि विक्रमोर्वशीय में शिशु सम्बन्धी क्रीडाओं और चेष्टाओं का कोई चित्रण नहीं हुआ है, पर उसमें वात्सल्य-भाव तथा रस का अच्छा परिपाक है, जो सहृदय पाठकों को आह्लादित करता है।

अभिज्ञानशाकुन्तल में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

अभिज्ञानशाकुन्तल कालिदास की सर्वश्रेष्ठ रचना है। वह भारतीय काव्यजगत् का तो शिरमौर है ही, साथ ही वह विश्ववाङ्मय में भी महनीय स्थान का भागी है। 'काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला' 'कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशाकुन्तलम्' इत्यादि प्रशस्तियाँ उसकी महत्ता को प्रकाशित करती हैं। शाकुन्तल एक नाटक है। उसमें कुल सात अंक हैं। महाभारत अथवा पद्मपुराण से कथावस्तु लेकर, कालिदास ने उसमें अपेक्षित परिवर्तन करके उसे अत्यन्त भव्य बना दिया है। उसी कथावस्तु के आधार पर उन्होंने अपने नाटक की रचना की है। शाकुन्तल का नायक चन्द्रवंशी राजा दुष्यन्त और नायिका शकुन्तला है। शिकार के लिए वन में गये हुए दुष्यन्त की भेंट कण्वाश्रम में रहने वाली मेनका-पुत्री शकुन्तला से होती है। दोनों के पारस्परिक प्रेम की परिणति गान्धर्व-विवाह में हो जाती है। पिता कण्व सब कुछ जानने के पश्चात् उसे हस्तिनापुर में राजा दुष्यन्त के पास भेजते हैं। पर शाप के वशीभूत होकर राजा (दुष्यन्त) उसे स्वीकार नहीं करते। फलस्वरूप वह अनाथ तथा पति-वियोग-विधुरा के रूप में अप्सरातीर्थ चली जाती है। वहीं उसे सर्वदमन नामक पुत्र उत्पन्न होता है। दानव-विजय में, इन्द्र की सहायता करके विमान से उतरते समय, राजा को हेम-कूट पर्वत पर मारीच का आश्रम दिखायी देता है। राजा विमान से उतर कर कश्यप और उनकी पत्नी के दर्शन के इच्छुक होते हैं। जाते समय सिंह के बच्चे

---

१ विक्रमोर्वशीयम्, ५/१३

को खींचते हुए एक बालक दिखाई देता है।[1] उसके मन में उस बालक के प्रति एक अजीब ममता और वात्सल्य-भाव जागृत हो जाता है। बाद में सारा रहस्य खुल जाता है। वह बालक उन्हीं का पुत्र सर्वदमन है। वहीं शकुन्तला भी मिल जाती है। इस प्रकार दोनों का सुखद-मिलन होता है।

अब वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण की दृष्टि से शाकुन्तल पर विचार कर लेना आवश्यक है।

अभिज्ञानशाकुन्तल के सप्तम अंक में शैशव-चित्रण का सुन्दर स्वरूप मिलता है। उसमें शिशु सर्वदमन की चेष्टाओं तथा क्रीड़ाओं, खेलने के प्रति उसके बालाग्रह तथा पिता दुष्यन्त के हृदय में उद्भूत वात्सल्य का अति चारु निर्देशन है, जो सहृदय पाठकों के सरस हृदय को रससिक्त बना देता है। उसमें बालक के उस सहज अबोध की भी अच्छी अभिव्यक्ति हुई है, जिसके कारण वह सिंह जैसे हिंसक पशु के बच्चे से भी नहीं डरता।

निस्सन्देह शाकुन्तल का सप्तम अंक शैशव-चित्रण के लिए नितान्त महनीय है। पर हम उसके पूर्ववर्ती अंकों में यत्र कुत्रचित् अंकित कतिपय प्रसंगों की अनदेखी नहीं कर सकते। भारतीय संस्कृति में किसी राजा या पुरुष को आयुष्मान् होने के साथ ही उसके पुत्रवान् होने का भी आशीर्वाद दिया जाता है। प्रथम अंक में सर्वप्रथम आशीर्वाद के माध्यम से ही शैशव-चित्रण का बीजारोपण हो जाता है, जब कण्वाश्रम में प्रविष्ट होने के पूर्व, राजा दुष्यन्त की विनम्रता से प्रभावित होकर वैखानस और तपस्वी उन्हें चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त करने का आशीर्वाद देते हैं—

'इतरौ (बाहू उद्यम्य) 'सर्वथा चक्रवर्तिनं पुत्रमाप्नुहि।' और राजा प्रणाम पूर्वक उस पुत्रप्राप्तिरूप आशीर्वाद को सहर्ष स्वीकार करता है—

'राजा—(सप्रणामम्) प्रतिगृहीतम्।[2]

राजा द्वारा आशीर्वाद को विनत होकर स्वीकार करना इस बात का द्योतक है कि उनके हृदय में पुत्र-प्राप्ति की लालसा से युक्त वात्सल्य विराजमान है और सन्तृप्ति हेतु वह आशीर्वाद उनके लिए अभीष्ट है।

इसी प्रकार चतुर्थ अंक में शकुन्तला के लिए कण्व के उस आशीर्वाद में भी उक्त लालसा की झलक मिलती है, जिसमें उन्होंने शकुन्तला को शर्मिष्ठा की भाँति सम्राट् पुत्र प्राप्त करने का आशीर्वाद दिया है।[3]

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम् ७/१४

१. वही, १/१३ के पूर्व २. वही, १/७

षष्ठ अंक में समुद्रव्यापारी धनमित्र के मरने के बाद, अपने अमात्य के पत्र द्वारा जब राजा को उसकी निःसन्तानता का पता चलता है तो राजा के मुख से सहसा निकल पड़ता है कि 'सन्तानहीनता निश्चय ही कष्टदायक है।[1]

'राजा········कष्टं खल्वनपत्यता।'

सन्तानहीन उस व्यापारी के प्रति राजा की हार्दिक सहानुभूति हो जाती है। ऐसे सन्दर्भ में उन्हें अपनी निःसन्तानता नितान्त दुःखदायी हो जाती है।[2] उन्हें आपन्नसत्त्वा शकुन्तला का परित्याग अत्यन्त मर्मभेदक बन जाता है।[3] उन्हें सबसे बड़ी चिन्ता पितृ-ऋण से मुक्त होने की हो जाती है। उनके पश्चात् उनके कुल में, श्राद्धतर्पण करने वाला कोई नहीं रहेगा, यह सोचकर सम्प्रति उनके पितर निश्चय ही उनके द्वारा दी गयी तिलांजलि को अति दुःख के साथ पी रहे हैं—

नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं
धौताश्रुशेषमुदकं पितरः पिबन्ति।[4]

'अर्थात् निश्चय ही मेरे पितर सन्तानहीन मेरे द्वारा दिये गये जल (तिलांजलि) के उस भाग को पीते हैं, जो उनके आँसुओं के धोने से बच जाता है।'

दुष्यन्त के कथन का अभिप्राय यह है कि पुत्र अपने पितरों को श्राद्ध तर्पण आदि करता है। अभी तक तो वह (दुष्यन्त) अपने पितरों का श्राद्ध तर्पण आदि करते हैं, किन्तु उनके पुत्र नहीं है। अतः उनके पितरों को संशय होने लगा है कि दुष्यन्त के बाद उन्हें श्राद्ध तर्पण आदि मिलेगा या नहीं। पितरों के रोने तथा दुष्यन्त के दुःखी होने के मूल में दुष्यन्त का सन्तानाभाव ही कारण है। सन्तान के प्रति विशेष कर, पुत्र के प्रति, मोह का एक यह भी (सामाजिक-सांस्कृतिक) कारण है।

सप्तक अंक में दुष्यन्त इन्द्र की सहायता करके, मातलि के साथ विमान से मारीच के आश्रम के पास उतरते हैं। एक बालक (शिशु) एक ऐसे सिंह-शावक को खींच रहा है, जो अपनी माँ का आधा दूध ही पी पाया है तथा खींचने से जिसके बाल बिखर गये हैं। दो तपस्विनियाँ उस बालक को वैसा करने से मना कर रही है, पर वह मान नहीं रहा है। राजा के मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है कि वह वीर बालक कौन है?

'अये! को नु खल्वयमनुबध्यमानतपस्विनीभ्यामबालसत्त्वो बालः?—अर्धपीतस्तनं मातुरामर्दक्लिष्टकेसरं प्रक्रीडितुं सिंहशिशुं बलात्कारेण कर्षति॥[5]

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक ६। २. वही, ६/२४।
३. वही, ६/२४। ४. वही, ६/२५ उत्तरार्द्ध। ५. वही, ७/१४

अर्थात् 'अरे ! दो तपस्विनियां जिसके पीछे दौड़ रही हैं, यह असाधारण शक्तिवाला बालक कौन है ? जो माता के स्तनों के दूध को आधा पिये हुए, खींचने के कारण बिखरे हुए बालों को धारण करने वाले, सिंह के बच्चे को बलपूर्वक खींच रहा है।'

वीर बालक सिंह के बच्चे को पकड़ कर कहता है कि 'हे सिंह ! तुम मुख खोलो, मैं तुम्हारे दाँतों को गिनूंगा'—

'जृम्भस्व सिंह, दन्तांस्ते गणयिष्ये।'[1]

यहाँ शिशु सर्वदमन के द्वारा सिंह के बच्चे को हठात् पकड़ना और उसके दाँतों को गिनने की चेष्टा करना बाल-चेष्टा का एक अत्युत्कृष्ट उदाहरण है। शिशु खिलौने के अत्यन्त प्रेमी होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि वह (बच्चा) कृत्रिम खिलौने से ही अपनी खेलने की स्पृहा को सन्तुष्ट करे। वह अबोधता के कारण जीवित पशु-पक्षी, अग्नि, दीपक की लौ आदि को भी पकड़ने की चेष्टा करता है अथवा पकड़ लेता है, ताकि उससे खेल सके। ऐसे अवसरों पर माता-पिता अथवा अभिभावक उसे पकड़ने अथवा रोकने का प्रयत्न करते हैं। उक्त चित्र शिशु-क्रीड़ा के सम्पूर्ण बिम्ब को बिम्बित करता है।

सर्वदमन के बढ़ते उत्पात (उपद्रव) को दृष्टिगत कर एक तपस्विनी कहती है कि तुम सबका दमन कर देते हो इसलिए तुम्हारा 'सर्वदमन' यह नाम सार्थक ही है।[2]

इस प्रकार के सन्दर्भों में यदि नटखट बालकों को भयभीत करने के लिए किसी भय का उल्लेख किया जाता है, तो वे डरने के बजाय मुख बनाकर भयभीत होने के अपने कृत्रिम स्वरूप को प्रकट करते हैं। जब दूसरी तपस्विनी यह कह कर उसे डराने का प्रयास करती है कि, 'यदि तुम इस सिंह के बच्चे को नहीं छोड़ोगे तो यह सिंहिनी तुम्हारे ऊपर अवश्य आक्रमण कर देगी'—

'एषा खलु केसरिणी त्वां लङ्घयति यद्यस्याः पुत्रकं न मुञ्चसि।'[3]

तब तपस्विनी के भयोत्पादक कथन को सुनकर सर्वदमन मुस्करा कर कहता है कि 'ओह, मैं सचमुच डर गया।' और यह कहते हुए वह निचले ओठ को दिखाने लगता है, अर्थात् मुँह बनाकर तपस्विनी के कथन का उपहास करता है—

'बालः—(सस्मितम्) अहो बलीयः खलु भीतोऽस्मि।'[4]

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, सप्तम अंक।
२. वही, सप्तम अंक।
३. वही, सप्तम अंक।
४. वही, सप्तम अंक।

कुछ बच्चे ऐसे होते हैं, जो अपने-माता-पिता या अभिभावक के झूठे फुसलावे को समझ नहीं पाते, परन्तु जो चपल और बुद्धिमान् (बालक) होते हैं, वे ऐसे बहकावे में नहीं आते। प्रस्तुत सन्दर्भ में जब एक तपस्विनी उससे कहती है कि 'बेटा ! इस सिंह के बच्चे को छोड़ दो, मैं तुम्हें दूसरा खिलौना दूँगी' तब वह यह कहकर हाथ फैला देता है कि 'कहाँ है, वह (खिलौना) मुझे दो'—

'प्रथमा—वत्स ! एनं बालमृगेन्द्रं मुञ्च। अपरं से क्रीडनीयकं दास्यामि।

बालः—कुत्र ! देह्येतत् ! (इति हस्तं प्रसारयति)।'[1]

दूसरी तपस्विनी बालमनोविज्ञान से परिचित होने के कारण यह समझ जाती है कि यह बालक केवल कहने से नहीं मानेगा। वह सुव्रता नामक उक्त तपस्विनी को, कुटिया से रंगीन मिट्टी के मोर को लाने के लिए कहती है।[2] सिंह के बच्चे के साथ खेलने में तल्लीन सर्वदमन उसे तत्काल नहीं छोड़ता। वह यह कहकर हँसने लगता है कि 'मैं तब तक इससे ही खेलता हूँ'—

'अनेनैव तावत्क्रीडिष्यामि (इति तापसीं विलोक्य हसति)।'[3]

तदनन्तर नटखट सर्वदमन, सिंह-शावक को तभी मुक्त करता है, जब उसे अभीष्ट सुन्दर मिट्टी का मोर मिल जाता है—

'बालः—मातः रोचते म एष भद्रमयूरः।[4]

अब तक शिशु के सहज क्रीडा विषयक स्वभाव तथा उसकी चेष्टा के दर्शन किये गये। अब थोड़ा शिशुविषयक वात्सल्य रस का भी आकलन कर लेना समीचीन तथा प्रासंगिक है, जो उक्त घटना के समय संयोग से उपस्थित राजा दुष्यन्त के हृदय में, दूसरे शब्दों में सर्वदमन के अभागे (बने) पिता के हृदय में, अब तक सुप्त था, पर अब प्रादुर्भूत हो रहा है। यहाँ यह स्मरणीय है कि प्रारम्भ में सर्वदमन के प्रति राजा का जो प्रसुप्त वात्सल्य प्रादुर्भूत होता है, वह अपने पुत्र से सम्बन्धित वात्सल्य नहीं है, बल्कि सगे पुत्र जैसा वात्सल्य है। क्योंकि तब तक यह ज्ञात नहीं है कि यह उनका ही पुत्र है। अपने चित्त में उद्भूत वात्सल्यप्रेम को राजा दुष्यन्त इन शब्दों में प्रकाशित करने के लिए बाध्य हो जाते हैं कि 'न जाने क्यों मेरे मन में इस बालक पर सगे पुत्र जैसा स्नेह हो रहा है'।

'राजा—किं नु खलु बालेऽस्मिन्नौरस इव पुत्रे स्निह्यति मे मनः'।[5]

इस प्रकार की परिस्थितियों में किसी शिशु अथवा बालक को देखकर, वात्सल्यप्रेम की अनुभूति में, सन्तान-हीनता भी कारण होती है। राजा दुष्यन्त स्वयं अपने वात्सल्यस्नेह के लिए सन्तान-हीनता की ओर इंगित कर रहे हैं—

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, सप्तम अंक। २. वही, सप्तम अंक।
३. वही, सप्तम अंक। ४. वही, सप्तम अंक। ५. वही, सप्तम अंक।

'नूनमनपत्यता मां वत्सलयति'[१]

राजा का वात्सल्य इतना विह्वल हो जाता है कि वे उस शिशु (सर्वदमन) को गोद में उठाने के लिए अधीर होकर कहते हैं—

'राजा—स्पृहयामि खलु दुर्ललितायास्मै'[२]

अर्थात् 'प्यार के कारण हठीले (नटखट) इस शिशु को (गोद में लेने के लिये) में अत्यधिक इच्छुक हूँ'।

विक्रमोर्वशीय के पंचम अंक में भी इसी प्रकार पुरुरवा अपने पुत्र कुमार आयु को गोद में लेने के लिए आतुर हो जाते हैं।[३] दोनों सन्दर्भों में मात्र यह अन्तर है कि राजा पुरुरवा को बाण पर उल्लिखित अक्षरों ('उर्वशीसम्भवस्यास्य···।' तथा विदूषक के कथन[४] से यह ज्ञात हो गया है कि कुमार आयु उन्हीं का पुत्र है। इसके विपरीत राजा दुष्यन्त को अभी तक यह ज्ञात नहीं है कि सर्वदमन उनका सगा पुत्र है।

राजा दुष्यन्त अपने को रोक नहीं पाते। वे उन भाग्यशाली जनों (पिता) के भाग्य की सराहना करने लगते हैं, जिनके अंक शिशुओं के अंगों की धूल से मलिन हो जाते हैं—

आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासै-
र्व्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन् ।
अंकाश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहन्तो
धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति ॥[५]

'अकारण हँसी से जिनकी दँतकली कुछ-कुछ दिखायी पड़ती है, अस्पष्ट वर्णों के उच्चारण के कारण (तोतली बोली के कारण) जिनका बोलना अत्यन्त प्रिय लगता है, जो (माँ-बाप आदि की) गोद में बैठने के लिए लालायित रहते हैं, ऐसे पुत्रों को अपनी गोद में लेकर भाग्यशाली लोग ही उनके अंगों की धूल में अपने को धूसरित करते हैं।'

दुष्यन्त के उपर्युक्त कथन में एक ओर उक्त चेष्टाओं-क्रियाओं से युक्त बच्चों के प्रति उनके माँ-बाप आदि के लालसा-विशेष का प्रकाशन है, वहीं शिशु-स्वरूप और उनकी चेष्टाओं का सच्चा बिम्ब भी बिम्बित है। यह एक यथार्थ एवं सत्य है कि, छोटे बच्चे, बिना कारण के हँसकर अपनी दन्त-कलियों से एक

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, सप्तम अंक
२. वही, सप्तम अंक
३. विक्रमोर्वशीयम् ५/९
४. वही, ५/७ 'ननु खल्वेषु···तत्र भवतः बह्वनुकरोति। अभि० शा० अंक ७
५. वही, ७/१७

आनन्द की प्रभा विकीर्ण करते हैं, अपनी तोतली बोली से सबको अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं तथा गोद में बैठने के लिए आतुर हो जाते हैं। सर्वांशतः आनन्ददायी ऐसे बच्चे जिनकी गोद में बैठकर, उनके अंगों को धूल से मलिन बना देते हैं, वे निस्सन्देह भाग्यशाली हैं। बालसुलभ चेष्टाओं. क्रियाओं से मण्डित बच्चों एवं उनके सुखद स्पर्श हेतु लालायित माता-पिता की लालसा को बिम्बित करने के लिए कालिदास का बाल मनोविज्ञान तथा तद्विषयक मातृ-पितृ-मनोविज्ञान निश्चय ही प्रशस्य है।

'थोड़ा चलने-फिरने वाले नटखट बच्चे, जब किसी अन्य प्राणी के बच्चे को खिलौने के रूप में पा जाते हैं, तब बड़ी कठिनता से ही उनकी पकड़ से (पकड़े गये) बच्चों की मुक्ति हो पाती है।' यह वास्तविक तथ्य सर्वविदित है। नटखट सर्वदमन सिंहशावक को, तपस्विनी द्वारा लाख प्रयास करने पर भी, छोड़ने को उद्यत नहीं है। यह (तपस्विनी) सिंहशावक की मुक्ति हेतु किसी ऋषि कुमार को पुकारती है—'कोऽत्र ऋषिकुमाराणाम्।' किसी ऋषिकुमार को न पाकर वह संयोगवश उपस्थित राजा (दुष्यन्त) से ही मुक्ति के लिये अनुरोध करती है—

'भद्रमुख ! एहि तावत् ! मोचयानेन दुर्मोचहस्तग्रहेण डिम्भलीलया बाध्यमानं बालमृगेन्द्रम्'।[1]

'हे महाशय ! यहाँ आइये ! इस सिंह-शावक को, सर्वदमन की मजबूत पकड़ से छुड़ाना बहुत कठिन है। आप बालक्रीड़ा के कारण परेशान किये जाने वाले इस सिंह-शावक को छुड़ा दीजिए।'

तपस्विनी के अनुरोध पर राजा दुष्यन्त अभीष्ट कार्य में प्रवृत्त होते हैं। सर्वदमन के अंगों के स्पर्श से उनके अंगों को इतना आनन्द प्राप्त होता है कि वे मन ही मन सोचने लगते हैं—'किसी अज्ञात कुल के अंकुर स्वरूप इस बालक के द्वारा स्पर्श किये जाने पर मुझ जैसे पराये व्यक्ति के अंगों को इतना सुख मिल रहा है, तो जिस भाग्यशाली (माता-पिता) की गोद से यह उत्पन्न हुआ होगा, उसके चित्त में कितने आनन्द को उत्पन्न करता होगा'—

अनेन कस्यापि कुलाङ्कुरेण स्पृष्टस्य गात्रेषु सुखं ममैवम्।
कां निर्वृतिं चेतसि तस्य कुर्याद् यस्यायमङ्कात् कृतिनः प्ररूढः ॥[2]

इस श्लोक के माध्यम से पुत्र के अंग के स्पर्शजनित उस सुख की ओर इंगित किया गया है जो स्पर्श वाले सभी प्राणियों में श्रेष्ठ है—'पुत्रः स्पर्शवतां वरः'। वस्तुतः माता-पिता अपने पुत्र के अंगों के स्पर्श में एक अपूर्व सुख का अनुभव करते हैं।

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ७/१८ श्लोक के पूर्व। २. वही ७/१९

संसार में माता का अति महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। वह अपनी सन्तानों के प्रति इतनी वात्सल्यमयी होती हैं कि अपने पुत्र के कुपुत्र हो जाने पर भी उसके प्रति कुमाता नहीं बन पातीं—

'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति'।

इसीलिए जननी और जन्मभूमि को स्वर्ग से भी बढ़कर बताया गया है—

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'।[1]

मनुस्मृति में माता को हजारों पिताओं से श्रेष्ठ कहा गया है—

'सहस्रं तु पितृन् माता गौरवेणातिरिच्यते'।[2]

जहाँ तक शिशुओं का प्रश्न है, वे उपर्युक्त महत्त्वों को न जानते हुए भी अपनी माता के प्रति अत्यधिक संवेदनशील होते हैं। माता के गर्भ में ही दश माह तक उनका विकास होता है, उत्पन्न होने पर सर्वप्रथम वे माता की गोद पर आरूढ़ होते हैं, माता का दूध पाकर शारीरिक दृष्टि से तथा प्यार पाकर मानसिक दृष्टि से विकसित होते हैं। अपनी माता के ही सान्निध्य में उनकी बाल्यावस्था बीतती है। वस्तुतः बच्चों की सर्वप्रथम शिक्षक उनकी मातायें होती हैं। ऐसी स्थितियों में बच्चों का अपनी माताओं के प्रति सहज और निष्काम भाव से अतिशय लगाव हो जाता है। वे अपनी माता के गुण-अवगुण नहीं देखते। उनमें अन्ध मातृ-भक्ति कूट-कूट कर भरी होती है। शिशु सर्वदमन भी ऐसे ही बालकों में है, जिसका अपनी माता के प्रति असीम झुकाव तथा ममता है।

सप्तम अंक में मिट्टी का मयूर लेकर उपस्थित तापसी जब सर्वदमन से कहती है कि 'सर्वदमन ! शकुन्तलावण्यं पश्य (शकुन्त = पक्षी + लावण्य = सौंदर्य = पक्षी के सौंदर्य) को देखो तो वह शकुन्तलावण्य पद में शकुन्तला (शकुन्तला + वण्य) शब्द को सुनते ही झट से अपनी माता के विषय में पूछता है कि मेरी माता कहाँ हैं—

'बालः—कुत्र वा मम माता'।[3]

दोनों तापसियाँ मातृभक्त सर्वदमन की अटूट एवं सहज मातृ-भक्ति पर तरस खाती हैं—

'उभे—नामसादृश्येन वञ्चितो मातृवत्सलः'।[4]

(नाम की समानता के कारण मातृ-भक्त यह बालक धोखे में आ गया)।

इस सन्दर्भ में एक बात अवश्य विचारणीय है, वह यह कि शाकुन्तल में मानवेतर जगत् के प्रति वात्सल्यभाव के चित्रण की। कालिदास के काव्यों में

---

१. वाल्मीकिरामायणम्। २. मनुस्मृति, २/१४५

३. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, सप्तम अंक ४. वही, सप्तम अंक।

मानव-जगत् के साथ पशु-पक्षी एवं स्थावर-जगत् भी प्रतिष्ठित हैं। प्रकृति का मानवीकरण उनकी महती विशेषता है। उनके काव्यों में मानवीय वात्सल्य प्रेम के भाजन मानव-शिशु ही नहीं हैं, प्रत्युत नन्हें-मुन्ने पशु-पक्षी तथा वृक्षलता भी हैं।

शाकुन्तल के चतुर्थ अंक में, पतिगृह को प्रस्थान करने वाली शकुन्तला के वस्त्रों में, एक मृगशावक लिपट जाता है। शकुन्तला के पूछने पर कण्व कहते हैं कि 'यह वही सृगशावक है, जिसके मुख के घाव पर तुमने इंगुदी का तेल लगाया था तथा साँवाँ (श्यामाक) के मुट्ठी भर दाने दे-देकर जिसका तुमने पुत्रवत् पालन-पोषण किया था, वही मृग का बच्चा तुम्हारे मार्ग को रोक रहा है।'[1] यह सुनकर शकुन्तला अपने पुत्र के समान उस बच्चे को सान्त्वना देती हुई कहती है—

'वत्स ! किं सहवासपरित्यागिनीं मामनुसरसि ? अचिरप्रसूतया जनन्या विना वर्धित एव। इदानीमपि मया विरहितं त्वां तातश्चिन्तयिष्यसि। निवर्तस्व तावत्'।[2]

'बेटा ! (तुम लोगों का) साथ छोडकर जाने वाली मेरे पीछे क्यों आ रहे हो। जन्म देकर तत्काल मर जाने वाली तुम्हारी माता के बिना भी (मेरे द्वारा) तुम्हारा पालन-पोषण किया ही गया। अब मेरी अनुपस्थिति में पिता तुम्हारी देखभाल करेंगे, तुम अब लौट जाओ।'

शकुन्तला के इस कथन में कितना वात्सल्य भरा हैं, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। विप्रयोग-वात्सल्य का इससे बढ़कर उदाहरण और क्या हो सकता है ?

शकुन्तला प्रस्थान के समय अपनी छोटी बहन जैसी वनज्योत्स्ना को भी नहीं भूलती और उससे भेंट करके ही आगे बढ़ती है।[3] कण्व के आश्रम की मृगियाँ, मयूर तथा लतायें उसके वियोग में इसलिये व्यथित हो जाते हैं[4] क्योंकि उसने (शकुन्तला ने) उनका पालन-पोषण किया था और वे सभी उसके वात्सल्य-स्नेह के भाजन रहे।

वात्सल्यप्रेम की यह विचित्र महिमा है। वह बच्चों के बढ़ जाने पर भी, उनके (माता-पिता के) हृदय में अपना स्थान बनाये रहता है। युवावस्था को प्राप्त होने वाली अपनी पुत्री शकुन्तला के वियोग में कण्व-सदृश वीतरागी की विह्वलता विप्रयोगवात्सल्य का ही तो उत्कृष्ट नमूना है—

> यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
> कण्ठस्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ४/१४ २. वही, चतुर्थ अंक।
३. वहीं, चतुर्थ अंक। ४. वही, ४/१२

वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुखैर्नवैः ॥[१]

अर्थात् 'आज शकुन्तला पति के गृह चली जायेगी' इसलिए मेरा हृदय उत्कण्ठा (तीव्र-वेदना) से भर गया है। गला रोके गये अश्रुप्रवाह से अवरुद्ध हो गया है। मेरी दृष्टि चिन्ता के कारण जड़ (निश्चेष्ट) हो गयी है। जब वन में रहने वाले लोग अपनी पुत्री शकुन्तला के स्नेहवश इतने व्याकुल हैं तो गृहस्थ लोग नये पुत्री-वियोग के दुःख से कितना अधिक दुःखी होते होंगे।

इस प्रकार स्पष्ट हैं कि शाकुन्तल में, विशेषकर उसके सप्तम अंक में, वात्सल्य-चित्रण सहित शैशव चित्रण तथा चतुर्थ में वियोग वात्सल्य का भव्य स्वरूप प्राप्त होता है। षष्ठ अंक में राजा दुष्यन्त की सन्तानाभाव के कारण उत्पन्न व्यथा भी अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। संक्षिप्त होते हुये भी शाकुन्तल का वात्सल्य चित्रण निस्संदेह सहृदय के हृदय में एक अपूर्व रससंचार करता है। उसमें वात्सल्य के संयोग एवं वियोग दोनों पक्षों का अच्छा प्रस्फुटन है। सप्तम अंक में सर्वदमन का चित्रण शिशुक्रीडा, शिशुस्वभाव एवं शिशुचेष्टा का सहज एवं हृदयस्पर्शी बिम्ब प्रस्तुत करता है।

अश्वघोष के महाकाव्यों में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

अश्वघोष का जीवनवृत्त

सौन्दरनन्द तथा बुद्धचरित के उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि अश्वघोष की माता का नाम सुवर्णाक्षी था और वे साकेत के निवासी थे। साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि वे भिक्षु, आचार्य, भदन्त, महाकवि तथा महावादी (शास्त्रज्ञ) थे। उन्होंने उन दोनों ग्रन्थों में अपने पिता के नाम का उल्लेख नहीं किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी माता को आदर देने के लिये ही उनका उल्लेख किया है।[२]

प्रचलित किंवदन्तियों और चीनी परम्परा के अनुसार यह सिद्ध होता है कि अश्वघोष ब्राह्मण थे और उन्होंने बौद्धधर्म की दीक्षा ले ली थी। उन्होंने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए काव्य और संगीत का सहारा लिया था। कालिदास ने जहाँ सहृदयों के आनन्द के लिए अपनी रचनायें की थीं, वहीं अश्वघोष ने विषय में लीन मोक्ष विमुख लोगों को सत्मार्ग पर लाकर, उनको शक्ति प्रदान करने के लिए अपने ग्रन्थों (महाकाव्यों) की रचना की थी। उन्होंने एक प्रकार से मोक्ष धर्मरूपी कटु औषधि को काव्य रूपी मधु के प्रयोग से स्वादिष्ट बनाया था।[३]

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ४/६
२. सौन्दरनन्द, प्रथम सर्ग, श्लोक ६४ के आगे। ३. वही, १/६३

समय

अश्वघोष के काल के विषय में भी विद्वानों में परस्पर मतभेद है। कुछ विद्वान् अश्वघोष को कालिदास का परवर्ती मानते हैं और कुछ उन्हें ईशापूर्व प्रथम शताब्दी का सिद्ध करते हैं। यहाँ अश्वघोष को कालिदास का परवर्ती मानकर विचार किया गया है।

रचनाएँ

अश्वघोष की रचनाओं के बारे में भी विद्वानों में मतभेद है। परन्तु अश्वघोष की मुख्य रूप से तीन रचनायें अत्यन्त प्रसिद्ध तथा निर्विवाद हैं—

१. बुद्धचरितम्

२. सौन्दरनन्दम्

३. शारिपुत्रप्रकरणम्

बुद्धचरित में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

बुद्धचरित के सम्प्रति अठारह सर्ग उपलब्ध होते हैं। चीनी और तिब्बती संस्करणों में अट्ठाईस सर्ग प्राप्त हैं। इस महाकाव्य में भगवान् बुद्ध के जीवन, उपदेश तथा सिद्धान्तों का काव्यात्मक वर्णन है। प्रारम्भ के पाँच सर्गो में बुद्ध के जन्म से लेकर उनके अभिनिष्क्रमण तक की कथा वर्णित है। बुद्ध का जन्म अलौकिकता से मण्डित है, अतः उनके जन्म से चराचर जगत् प्रभावित होता है। सम्प्रति बुद्धचरित में अंकित शैशव-चित्रण को दृष्टिगत कर विचार आवश्यक है।

इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय राजा शुद्धोदन की पत्नी माया ने गर्भ धारण किया।[1] समय आने पर लुम्बिनी नामक वन में, रानी माया के पार्श्वभाग से लोककल्याण हेतु एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उत्पत्ति के समय रानी को न पीड़ा हुई और न ही कोई रोग हुआ।[2] शिशु का पार्श्व भाग से उत्पन्न होना, पीड़ा और रोग का न होना, आदि उसकी (शिशु की अलौकिकता को द्योतित कर रहे थे। उस नवजात शिशु में सूर्य के समान तेज तथा चन्द्र के समान आह्लादकता थी। उसकी प्रभा से सूर्यप्रभा भी आक्रान्त हो गयी। उसने सम्पूर्ण दिशाओं को प्रकाशित कर दिया।[3] सबसे आश्चर्यकर बात तो यह थी कि वह जन्म लेते ही सात पग चला तथा चारों ओर देखकर उसने एक भव्य तथा सार्थक वाणी की—

बोधाय जातोऽस्मिजगद्धितार्थमन्त्याभवोत्पत्तिरियं ममेति।
चतुर्दिशं सिंहमतिर्विलोक्य वाणीं च भव्यार्थकरीमुवाच॥[4]

---

१. बुद्धचरितम्, १/३ २. वही, १/९
३. वही, १/१२, १३ ४. वही, १/१५

प्रत्येक माता-पिता पुत्र-जन्म पर आह्लादित हो जाता है, यह निर्विवाद सत्य है। परन्तु पुत्र-जन्म के अवसर पर पिता शुद्धोदन का हृदय आनन्द के साथ भय से भी पूर्ण हो गया, क्योंकि उनके पुत्र का जन्म दिव्य तथा अद्‌भुत था। अपने पुत्र के जन्म की अलौकिकता को देखकर राजा का धैर्य जाता रहा—

दिव्याद्‌भुतं जन्म निरीक्ष्य तस्य धीरोऽपि राजा बहुक्षोभमेतः।
स्नेहादसौ भीतिप्रमोदजन्ये द्वे वारिधारे मुमुचे नरेन्द्रः॥
अमानुषीं तस्य निशम्य शक्ति माता प्रकृत्या करुणार्द्रचित्ता।
प्रीता च भीता च बभूव देवी, शीतोष्णमिश्रेव जलस्य धारा॥[1]

शास्त्र और शील में ख्याति प्राप्त करने वाले ब्राह्मणों ने नवजात पुत्र को कुल का दीपक मानकर राजा से उत्सव करने के लिए कहा। ब्राह्मणों ने शिशु के विभिन्न उदात्त गुणों का वर्णन करते हुए कहा—'यदि वह (पुत्र) राज्य करेगा तो वह सभी राजाओं का शिरोमणि बन जायेगा और यदि मोक्ष के लिए वन को जायेगा तो वह तत्त्वज्ञान के द्वारा सबको (सब मतों को) जीतकर पृथिवी पर सम्मानित होगा।'[2] राजा ने जब उन ब्राह्मणों से अपने पुत्र के अलौकिक तथा महान् गुणों से विभूषित होने का कारण पूछा, तब उन लोगों ने अनेक दृष्टान्तों के द्वारा शिशु में स्थित दिव्य गुणों का समर्थन किया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि श्रेष्ठता की प्राप्ति में (अर्थात् श्रेष्ठ होने में) न तो अवस्था प्रमाण है और न ही वंश—

'तस्मात्प्रमाणं न वयो न वंशः'।[3]

ब्राह्मणों द्वारा कहे गये सान्त्वना वचनों से राजा शुद्धोदन की अनिष्ट आशंकायें दूर हुईं और वे प्रसन्न हुए।

तदनन्तर असित मुनि ने राजा के घर आकर उनसे कहा कि 'उनका पुत्र बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए अवतीर्ण हुआ है।'[4] नवजात शिशु के अलौकिक शारीरिक चिह्नों को देखकर असित मुनि की आँखों में आसूँ आ गये। उनकी यह दशा देखकर घबड़ाये हुए राजा ने उनसे कष्ट का कारण पूछा। राजा के अधोलिखित प्रश्नों में एक ऐसे पिता की भाव-विह्वलता भरी है, जिसका हृदय पुत्र-प्राप्तिजनित आनन्द के स्थान पर नाना आशंकाओं, भय तथा चिन्ताओं से परिपूर्ण हो गया है—

अपि स्थिरायुर्भगवन् कुमारः कच्चिन्न शोकाय मम प्रसूतः।
लब्धःकथञ्चित्सलिलाञ्जलिर्मे न खल्विमं पातुमुपैतिकालः॥
अप्यक्षयं मे यशसो निधानं कच्चिद् ध्रुवो मे कुलहस्तसारः।
अपि प्रयास्यामि सुखं परत्र सुप्तोऽपि पुत्रेनिमिषैकचक्षुः॥[5]

---

१. बुद्धचरितम्, १/२८–२९ २. वही, १/३५–३६।
३. वही, १/४६ ४. वही, १.५७ ५. वही, १.६४–६५

अर्थात् 'हे भगवन् ! कुमार दीर्घायु है न ? यह हमारे शोक के लिए तो नहीं जन्मा है ? जो जलांजलि मुझे कठिनाई से मिली है, उसे पीने के लिए काल तो नहीं आया है ? मुझे जलांजलि देने के लिए कुमार जीवित तो रहेगा न ? मेरे यश का कोष अक्षय है न ? मेरे पूर्वजों की कमाई (राज्य) निश्चल तो है ? पुत्र के प्रति एक आँख खुली रखने वाला मैं सुखपूर्वक परलोक जाऊँगा ?

राजा के एक और प्रश्न का उल्लेख कर देना नितान्त आवश्यक है। वे (राजा) असित मुनि से पूछते हैं—

कच्चिन्न मे जातमफुल्लमेव कुलप्रवालं परिशोषभागि।
क्षिप्रं विभो ! ब्रूहि न मेऽस्ति शान्तिः स्नेहं सुते वेत्सि हि बान्धवानाम् ॥[१]

'क्या मेरा यह नवजात कुल का अंकुर बिना फूले सूख तो नहीं जायेगा ? विभो ! शीघ्र बतावें, मुझे शान्ति नहीं है, क्योंकि पुत्र के प्रति पिता आदि का प्रेम आप जानते ही हैं।'

अपने ही पुत्र के जन्म से नानाविध आशंकाओं आदि से ग्रस्त पिता के उक्त प्रश्नों से तीन बातें स्पष्ट हैं। एक है पितृ-ऋण से मुक्ति की बात। जैसा कि सर्वविदित है पितृ-ऋण से मुक्ति तभी मिल सकती है, जब वंशपरम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रहे। यदि नवजात शिशु सकुशल जीवित रहता है, तो राजा की पितृ-ऋण से मुक्ति सुगमतापूर्वक हो सकेगी, क्योंकि उसके (पुत्र के) द्वारा पितृ-तर्पण आदि किया जायेगा।

दूसरी है वंशपरम्परा से चले आ रहे राज्य की रक्षा की। वंशपरम्परा-प्राप्त राज्य तभी रक्षित रह सकता है, जब उसका पुत्र जीवित रहकर उसका पालन करे। जीवित रहने पर भी, यदि वह वीतरागी हो जाता है, तब भी राज्य की रक्षा न हो पायेगी।

तीसरी है पुत्रवात्सल्य की रक्षा की। पिता का अपने पुत्र के प्रति एक सहज वात्सल्य भाव होता है। इस भाव की रक्षा के लिए सब कुछ छोड़कर अपने पुत्र को जीवित एवं फला-फूला देखना चाहता है क्योंकि विपरीत स्थिति में पिता को न शान्ति मिल सकती है और न उसका प्रेम ही रक्षित हो सकता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि पुत्र के जीवित रहते मनुष्य सुखपूर्वक परलोक जाता है, अन्यथा दुःख के साथ ही यहाँ से विदा होता है।

असित मुनि से यह जानकर कि नवजात पुत्र 'धर्मराज' होकर मोहपाश से पीड़ित मानवमात्र का कल्याण करेगा[२], राजा शुद्धोदन अपनी पत्नी तथा मित्रों समेत अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने ऐसे पुत्र को पाकर स्वयं अपने को भाग्य-

---

१. बुद्धचरितम्, १/६६ २. वही, १/७५

शाली समझा।[१] पर यह सोचकर कि 'उनका पुत्र ऋषियों के मार्ग पर चलेगा। 'आर्षेण मार्गेण तु यास्यतीति'[२] उन्हें अत्यधिक चिन्ता हुई, क्योंकि ऐसी स्थिति में उन्हें सन्ततिविच्छेद (वंशपरम्परा के उच्छेद) का भय था।

असित मुनि के वचनों को ध्यान में रखकर राजा ने पुत्रजन्म की खुशी में समस्त कैदियों को छोड़ने का आदेश दिया तथा अपने पुत्र के संस्कार कराये। धार्मिक अनुष्ठानों का सम्पादन कराया। ब्राह्मणों को गायों का दान किया।

बुद्धचरित के पाँचवें सर्ग में पुत्रजन्म के समय उत्पन्न राजा की आशंका और भय ने अपने को सार्थक बना ही दिया, जब उनका पुत्र गृहत्याग का संकल्प लेकर उनसे आज्ञा (आशीर्वाद) प्राप्त करने उपस्थित हो गया।[३]

अपने पुत्र के बचनों को सुनकर राजा हाथी की ठोकर से आहत वृक्ष की भाँति काँप गये।[४] राजा ने अपने पुत्र को समझाने का बहुत प्रयत्न किया और उसे गृहस्थाश्रम में रखने का विधान बनाया, परन्तु सब कुछ व्यर्थ गया। उनके पुत्र ने गृहत्याग कर ही दिया।

बुद्धचरित के आठवें सर्ग में कारुणिक वात्सल्य के एक चित्र की अनदेखी करना समीचीन न होगा। तथागत (बुद्ध) ने गृहत्याग करते समय अपनी पत्नी यशोधरा तथा पुत्र राहुल की भी परवाह नहीं की। उनकी वियोगविधुरा पत्नी यशोधरा विलखती हुई कहती है कि 'यदि स्वामी के विशाल नयन और मन्द मुस्कान युक्त मुख को देखने का मेरा भाग्य नहीं था, तो क्या अभागा यह राहुल भी पिता की गोद में कभी बैठने के योग्य नहीं था ? तुतलाने वाले आनन्ददायी अपने प्रिय-पुत्र का त्याग करने वाले स्वामी का स्वरूप भले ही सुन्दर हो, पर उनका मन निश्चय ही कठोर है।'[५]

यहाँ यशोधरा के विलाप में पुत्र राहुल की चर्चा निस्सन्देह मर्मस्पर्शी है।

इस प्रकार का वात्सल्यानुप्राणित कारुणिक दृश्य उसी सर्ग में अन्यत्र चित्रित है। तथागत (सिद्धार्थ) को छोड़कर लौटने वाले छन्दक (घोड़े) तथा कन्थक को देखकर राजा का वह शोक, जो यशोधरा के विलाप से उत्पन्न था, और बढ़ गया। उनका वह विलाप चराचर मात्र को उद्वेलित कर देने वाला था।[६] शुद्धोदन की वह दशा हो जाती है, जो राम-लक्षण तथा सीता को छोड़कर लौटे सुमन्त्र को देखकर दशरथ की हुई थी—

दशरथ इव रामशोकवश्यो बहु विललाप नृपो विसंज्ञकल्पः।[७]

---

१. बुद्धचरितम्, १/७८
२. वही, १/७९
३. वही, ५/२८
४. वही, ५/२९।
५. वही, ८/६७–६८
६. वही, ८/७३–८०
७. वही, ८/८१

प्रस्तुत सन्दर्भ में बुद्धचरित के उन्नीसवें सर्ग को, जो नाम्ना 'पितृपुत्र-समागम' कहलाता है, विचार पथ पर लाना आवश्यक है, क्योंकि उसमें भिक्षु के वेश में उपस्थित अपने राजकुमार पुत्र को देखकर राजा शुद्धोदन का हृदयस्थित वात्सल्य बेहद मर्माहत हो जाता है। अपने पुत्र को मुनि-वेष में देखकर राजा का मन विह्वल हो गया और वाणी अवरुद्ध हो गयी। आश्चर्यचकित राजा उन्हें (पुत्र के) न मुनि कह सके और न 'पुत्र'।'[१] यहाँ एक ओर सिद्धार्थ का मुनि-व्यक्तित्व खड़ा था और दूसरी ओर राजा का पुत्रवात्सल्य। उनके लिए दोनों का अपलाप करना अत्यन्त कठिन था।

राजा के शोक का एक और बड़ा कारण था, वह यह कि वे स्वयं तो वस्त्रालंकार से विभूषित थे और उनका युवा पुत्र मुनिवेश धारण किये था। पुत्र के मुनिवेश को देखकर राजा का हृदय क्षुब्ध एवं इन्द्रियाँ व्याकुल हो गयीं। फलतः वे विलाप करने लगे।[२]

उन्हें (राजा को) यह बात भी कष्टप्रद थी कि जिस पुत्र में वे ममता तथा स्नेह की आशा करते थे, वह (पुत्र) ममता तथा स्नेह से रहित हो गया था। ऐसी स्थिति में राजा की स्थिति उस सूखे तालाब जैसी हो गयी, जो सूख गया हो तथा उसकी शुष्कता देखकर तृषित भी पथिक निराश होकर लौट जाते हों। फलतः राजा भी अपने पुत्र से एक दम निराश हो गये।[3]

प्रिय पुत्र के दर्शन से सभी माता-पिता आनन्दित होते हैं, परन्तु शुद्धोदन की बिडम्बना यह है कि वे चित्रलिखित जैसे एवं उदासीन अपने पुत्र को सम्मुख देख कर पुत्रदर्शनजनित आनन्द न पा सके—

'अपि पश्यन् पुरो भूपो न लेभे पुत्रजं सुखम्'[४]

राजा पुत्रानन्द पाते भी कैसे ! जब उनका बेटा उनसे स्वयं ही कह रहा है कि हे राजन् ! आपका भाव जानता हूँ। हे पुत्रवत्सल ! आप शोक न करें। पुत्रानन्द का परित्याग कर धर्मानन्द का अनुभव करें—

पुत्रानन्दं परित्यज्य धर्मानन्दं प्रगृह्यताम् ॥[५]

बुद्ध के उपदेशों को सुनकर राजा अत्यन्त प्रसन्न होते हैं और प्रेम से विनत होकर कहते हैं कि 'हे आर्य ! आपने कृपा करके मुझे महामोह रूप

---

१. बुद्धचरितम्, १९/६
२. वही, १९/७
३. वही, १९/८
४. वही, १९/९
५. वही, १९/१७।

घोर दुःख से छुड़ा लिया। तात आपका जन्म सफल है। अब मैं (सचमुच) पुत्रवान् हूँ।'[१]

उक्त विवेचनों को दृष्टि का विषय बनाकर कहा जा सकता है कि यद्यपि बुद्धचरित में बाल-क्रीड़ाओं तथा बाल-चेष्टाओं के लिये कोई विशेष स्थान नहीं है और उसका कारण भी शिशु (सिद्धार्थ) की अलौकिक जन्मता है तथापि उसमें पुत्रवात्सल्य का उत्कृष्ट परिपाक हुआ है, जो सहृदयों के हृदय को आनन्दित करता है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है, उसमें पिता पुत्रानन्द के स्थान पर, धर्मानन्द प्राप्त करता है, जो उसको (पिता को) आनन्दित ही नहीं करता, बल्कि उसकी पुत्रवत्ता को भी सार्थक बना देता है —

'पुत्रवानस्मि चाधुना'।

सौन्दरनन्द में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

अश्वघोषविरचित 'सौन्दरनन्द' भी एक महाकाव्य है। उसमें कुल अठारह सर्ग हैं। इस महाकाव्य में नन्द और उसकी प्रिय पत्नी सुन्दरी की प्रेम-कथा वर्णित है, पर उद्देश्य के रूप में नन्द की दीक्षा का चित्रण किया गया है। नन्द की कथा बुद्धचरित का एक अंग है। बुद्धचरित में बुद्ध के जन्म से लेकर उनके परिनिर्वाण तक की समस्त घटनायें वर्णित हैं, इसके विपरीत नन्द की एक छोटी कथा को लेकर सौन्दरनन्द जैसे बड़े महाकाव्य की रचना की गयी है। 'सौन्दरनन्द' में काव्य-सौन्दर्य कूट-कूट कर भरा है।

यद्यपि सिद्धार्थ और नन्द दोनों सौतेले भाई थे, पर उन दोनों की प्रकृति परस्पर एकदम भिन्न थी। सिद्धार्थ अपनी बाल्यावस्था से ही विनश्वर संसार से विरक्त एवं सत्यमार्ग पर चलकर जगत् का कल्याण करने के इच्छुक थे, इसके विपरीत नन्द बचपन से ही सांसारिक माया में लीन और कामासक्त थे। बुद्ध की प्रेरणा से नन्द अपनी प्रिय पत्नी सुन्दरी एवं सांसारिक सुखों का त्याग कर बौद्ध-धर्म की दीक्षा लेते हैं। बुद्धचरित की भाँति इस महाकाव्य का लक्ष्य भी मनोरम काव्यशैली में जनता को बौद्धधर्म के सिद्धान्तों को समझाना है।

सौन्दरनन्द के द्वितीय सर्ग में नन्द की उत्पत्ति का वर्णन है। राजा शुद्धोदन की छोटी रानी से नन्द नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जो अपने कुल के लिए सदा आनन्ददायक था —

देव्यामपि यवीयस्यामरण्यामिव पावकः।
नन्दो नाम सुतो जज्ञे नित्यानन्दकरः कुले ॥[२]

---

१. बुद्धचरितम्, १९/३२ २. सौन्दरनन्द, २/१७

नवजात शिशु की भुजायें लम्बी थीं, छाती विशाल थी, कंधे सिंह के समान और आँखें वृषभ की भाँति थी।[२]

बड़ी रानी से जन्मे सिद्धार्थ तथा छोटी रानी से जन्मे नन्द—दोनों के उपनयन आदि संस्कार कराये गये और उन दोनों ने विद्यायें प्राप्त कीं। पर दोनों में महान् अन्तर था। नन्द सदा सांसारिक विषयों में आसक्त रहता था, पर सिद्धार्थ उनमें आसक्त नहीं रहता था।[२]

वस्तुतः सौन्दरनन्द में शैशव-चित्रण के लिए कोई स्थान नहीं है।

---

१. सौन्दरनन्द, २/५८ २. वही, २/६३

चतुर्थ अध्याय

कालिदास के परवर्ती प्रमुख महाकाव्यों में शैशव-चित्रण

- भट्टि के 'भट्टिकाव्य' में शैशव-चित्रण
- कुमारदास के 'जानकीहरण' में शैशव-चित्रण
- माघ के 'शिशुपालवध' में शैशव-चित्रण
- श्रीहर्ष के 'नैषधीयचरित' में शैशव-चित्रण
- बिल्हण के 'विक्रमाङ्कदेवचरित' में शैशव-चित्रण

कालिदास के परवर्ती प्रमुख महाकाव्यों में शैशव-चित्रण

भट्टिमहाकाव्य में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

भट्टि का जीवनवृत्त तथा रचना

महाकवि भट्टि का जीवनवृत्त प्रायः अज्ञात ही है। भट्टि-काव्य के अन्तिम पद्य से कवि के जीवनवृत्त पर कुछ प्रकाश पड़ता है। तदनुसार भट्टिस्वामी का वलभी में, राजा श्रीधरसेन की सभा में सत्कार होता था। इससे उनके सभापण्डित होने का अनुमान लगाया जा सकता है। अनेक विद्वानों के मत में महाकवि भट्टि श्रीधरसेन प्रथम के ही राज्यकाल में विद्यमान थे। उनका समय ४७० ई० से ५०० ई० के बीच माना जाता है।[1]

भट्टि के नाम पर ही उनके महाकाव्य का नाम 'भट्टिकाव्य' पड़ा है। उसको 'रावणवध' भी कहते हैं। इसमें कुल २० सर्ग हैं। उक्त महाकाव्य में मर्यादा पुरुषोत्तम राम का जीवनवृत्त काव्यात्मक शैली में वर्णित है। पाठकों को मनोरंजन के साथ सम्पूर्ण व्याकरण का ज्ञान कराना ही इस महाकाव्य का उद्देश्य है।

इस महाकाव्य में राम की कथा वर्णित है। उसके प्रथम सर्ग का नाम 'रामसम्भव' है। जिसमें रामादि की उत्पत्ति का वर्णन भी है, तथापि इस महाकाव्य में शैशव-चित्रण के स्थल कम ही हैं।

भट्टिकाव्य के प्रथम सर्ग में राजा दशरथ की तीनों रानियों (कौसल्या, सुमित्रा तथा कैकेयी) से चार पुत्रों की उत्पत्ति का महाकवि ने उल्लेख किया है—

> कौसल्याऽऽसावि सुखेन रामः प्राक् कैकेयीतो भरतस्ततोऽभूत्।
> प्रासोष्ट शत्रुघ्नमुदारचेष्टमेका सुमित्रा सह लक्ष्मणेन ॥[2]

'सर्वप्रथम कौसल्या ने सुखपूर्वक राम को जन्म दिया। तदनन्तर कैकेयी से भरत (उत्पन्न) हुये तथा सुमित्रा से लक्ष्मण के साथ उदार, कर्मठ शत्रुघ्न पैदा हुये।'

चारों पुत्रों की उत्पत्ति के पश्चात् उनकी बालक्रीड़ा अथवा बालचेष्टा आदि के विषय में महाकवि ने कुछ नहीं कहा। इससे यह प्रतीत होता है कि बाल-क्रीड़ा आदि के प्रति महाकवि की कोई रुचिविशेष नहीं है।

महाकवि ने निम्नांकित एक श्लोक में ही रघुकुल के पुरोहित वसिष्ठ

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २४०

२. भट्टिमहाकाव्यम्, १/१४

द्वारा ब्राह्मणों की पूजा, दुःख देने वाले बालग्रहों की शान्ति तथा यथासमय उन चारों बालकों के उपनयन संस्कार करवाये जाने का वर्णन किया है—

आर्चीद् द्विजातीन् परमार्थविन्दानुदेजयान् भूतगणान् न्यषेधीत् ।
विद्वानुपानेष्ट च तान् स्वकाले, यतिर्वसिष्ठो यमिनां वरिष्ठः ॥[1]

'ज्ञानी यमियों में श्रेष्ठ विद्वान् वसिष्ठ ने, परमार्थज्ञानी विद्वानों की पूजा की, दुःखदायी बालग्रहों को हटाया (अर्थात् उन्हें शान्त कराया) और यथासमय उन चारों बालकों का संस्कार किया ।'

उपनयन संस्कार के अनन्तर उन चारों बालकों ने सांग चारों वेदों का अध्ययन किया, जयनशील शस्त्रों को प्राप्त किया तथा भिन्न-भिन्न विचारों वाले लोगों को आह्लादित कर उनके चित्त को आकृष्ट किया ।[2]

इस प्रकार महाकवि ने अति संक्षेप में चारों पुत्रों की उत्पत्ति तथा उनके उपनयनादि संस्कार एवं विद्याप्राप्ति का उल्लेख कर दिया ।

यहाँ यह स्मरण करने योग्य है कि महाकवि ने उक्त चारों बालकों की बालसुलभ क्रीड़ाओं, लीलाओं तथा चेष्टाओं का कोई वर्णन नहीं किया, न ही उनके संयोग-जनित वात्सल्यानन्द की ही विवेचना की, जिसकी प्राप्ति के लिए हर माँ-बाप लालायित रहता है और जिसे (जिस आनन्द को) पाकर सब लोग अपने को कृतार्थ करते हैं ।

हाँ, इतना अवश्य है कि महाकवि की दृष्टि रामकथा के दो मार्मिक प्रसंगों पर गयी है, वे हैं—विश्वामित्र द्वारा दशरथ से यज्ञ-रक्षार्थ राम की याचना तथा दूसरा है वनवास के सन्दर्भ में राम-लक्ष्मण आदि को छोड़कर सुमन्त्र का आगमन । रामवनगमन भी राम-कथा का अति मार्मिक प्रसंग था, जहाँ भावी-वियोगजन्य वात्सल्य की वर्णना के लिए अवसर था, पर कवि ने, एक मात्र श्लोक में, दशरथ द्वारा रथ से राम के वनगमन की दी गयी आज्ञा का वर्णन किया है ।[3] इतना अवश्य है कि रामवनगमन के समाचार से अयोध्यावासियों के दुःख, वनवास में राम के साथ उनके रहने आदि की चेष्टा तथा राम द्वारा उन्हें समझाये जाने का वर्णन कवि ने अवश्य किया है ।[4]

विश्वामित्र ने अपने यज्ञ की रक्षा के लिए, दशरथ के पास पहुँचकर, प्रकारान्तर से राम की याचना की ।[5] दशरथ का राम के प्रति इतना स्नेह था कि वे विश्वामित्र के वचनों को सुनते ही राम के भावी वियोग से होने वाले दुःख से आहत होकर मूर्छित हो गये—

---

१. भट्टिमहाकाव्यम्, १/१५   २. वही, १/१६
३. वही, ३/९   ४. वही, ३/१०   ५. वही, १/१९

स शुश्रुवांस्तद्वचनं मुमोह राजाऽसहिष्णुः सुतविप्रयोगम् ।
अहंयुनाऽथ क्षितिपः शुभंयुरूचे वचस्तापसकुञ्जरेण ॥[१]

विश्वामित्र के समझाने पर राजा ने यह सोचकर कि, यदि मैं यज्ञरक्षा के लिए राम को नहीं भेजता हूँ तो विश्वामित्र की क्रोधाग्नि मेरे वंश का भी विनाश कर देगी। राम के भेजने पर तो वियोगाग्नि से अकेले मैं ही सन्तप्त होऊँगा। उन्होंने राम को भेज दिया।[२]

यहाँ विश्वामित्र के क्रोधाग्नि से समस्त कुल के विदग्ध होने की अपेक्षा स्वयं अपने को विप्रयोग वात्सल्य जनित अग्नि में जला देने का राजा का निर्णय उनकी तीव्र मनोव्यथा का द्योतक है। ऐसे प्रसंगों में अन्तर्द्वन्द्व की बड़ी विषम स्थिति होती है। राजा दशरथ भी उसी प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व के शिकार हैं।

दूसरा मार्मिक प्रसंग है, रामादि को छोड़कर अकेले सारथि के लौटने का। 'आशा बलवती' आशा बलवती होती है, उस आशा से दशरथ भी ग्रस्त थे। उन्हें आशा थी कि शायद राम सारथि के साथ लौट आयें। अतः राम के बिना लौटे हुए सारथि को देखकर उनके विप्रयोग वात्सल्य-जनित दुःख की ज्वाला इतनी तीव्र हो गयी कि वे एकदम निराश तथा शक्तिविहीन हो गये, उनकी प्रिय वस्तुओं की इच्छा जाती रही, उन्होंने न गन्धों का लेप किया और न ही अच्छे वस्त्रों को ग्रहण किया।

विलोक्य रामेण विना सुमन्त्रमच्योष्ट सत्त्वान्नृपतिश्च्युताऽऽशः ।
मधूनि नैषीद् व्यलिपन् न गन्धैर्मनोरमे न व्यवसिष्ट वस्त्रे ॥[३]

प्रिय पुत्र राम का वियोग दशरथ के लिए इतना असह्य था कि वे सब कुछ छोड़कर इस संसार से सदा के लिए चल बसे—

असिष्ट नैकत्र शुचा व्यंरसीत् कृताकृतेभ्यः क्षितिपालभाग्भ्यः ।
स चन्दनोशीरमृणालदिग्धः शोकाऽग्निनाऽगाद् निवासभूयम् ॥[१]

'शोक की अधिकता से वे (दशरथ) एक स्थान पर टिक नहीं पाये, विहित तथा अविहित सभी राजकृत्यों से विरत हो गये, चन्दन, खश तथा मृणाल आदि के लेप से भी उन्हें शान्ति नहीं मिली। अन्ततः वियोगजनित शोक की अग्नि से जलकर वे स्वर्गलोक चले गये।'

मनुष्य क्या, प्राणिमात्र को, प्राण के प्रति अपूर्व मोह एवं ममता होती है। वह इसलिए कि प्राणी उसी के रहने पर जीवित रह सकता है। जीवन तो प्राणिमात्र का अभीष्ट है। उसे पाने अथवा उसकी रक्षा के लिए सब कुछ छोड़ने अथवा

१. भट्टिमहाकाव्यम्, १/२०
२. वही, १/२३
३. वही, ३/२०।
१. वही, ३/२१

गवाँ देने के लिए उद्यत हो जाता है। पर असमय में उस प्रिय प्राण को छोड़ने की स्थिति का बहुत बड़ा कारण होता है। निस्सन्देह दशरथ की अकाल मृत्यु के मूल में उनका आहत पुत्रवात्सल्य ही है।

यह सही है कि भट्टिकाव्य में बालजनसुलभ क्रीड़ाओं आदि को विशेष स्थान नहीं मिल सका है, पर उक्त दो प्रसंग (वियोग वात्सल्य सम्बन्धी) अवश्य विचारणीय हैं। वात्सल्यभाव, शिशु बालक-बालिकाओं पर निस्सन्देह अत्यधिक प्रगाढ़ होता है, पर उनके युवा या प्रौढ़ होने पर भी माँ-बाप के हृदय में वह बना ही रहता है। उक्त दोनों प्रसंगों में उसी वात्सल्य भाव की स्थिति है, जिसके आहत होने पर दशरथ को अन्त में अपने प्राणों का मूल्य चुकाना पड़ा।

जानकीहरण में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

कुमारदास का जीवनवृत्त

महाकवि कुमारदास के जीवनवृत्त के विषय में निर्णीत रूप से कुछ कहना कठिन है। परन्तु किन्हीं प्रमाणों तथा साक्ष्यों के आधार पर कुछ कहा जा सकता है। 'जानकीहरण' के अन्तिम पद्यों की समीक्षा से यह स्पष्ट होता है कि उनके पिता का नाम 'कुमारमणि' था। उनकी जन्मतिथि के ही दिन उनके पिता दिवंगत हो गये। फलतः उनका लालन-पालन उनके दो मातुलों ने किया। एक अन्य प्रमाण के अनुसार 'कुमारदास' मुद्गलायन के पुत्र, छठीं शताब्दी में सिंघल पर शासन करने वाले कुमारदास से अभिन्न एवं कालिदास की चिता पर प्राण देने वाले बताये गये हैं।[१]

जहाँ तक कुमारदास के समय का प्रश्न है, वह भी सम्यक् निर्णीत नहीं है। आचार्य उपाध्याय उन्हें छठीं शताब्दी में मानते हैं।[२]

कृति

कुमारदास-रचित 'जानकीहरण' ख्यातिप्राप्त महाकाव्य है। उसमें कुल २० सर्ग हैं। उसकी कथावस्तु रामायण से ली गयी है। यद्यपि इस ग्रन्थ का नाम 'जानकीहरण' रखा गया है, परन्तु उसमें राम-जन्म से लेकर उनके अभिषेक तक की कथा काव्यात्मक ढंग से वर्णित है। अन्तिम २०वें वर्ग में रामाभिषेक वर्णित है।

बालवर्णन को जानकीहरण में स्थान मिला है। सम्प्रति जानकीहरण के वात्सल्य एवं शैशवचित्रण की विवेचना अभीष्ट है।

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २४४

२. वही, पृष्ठ २४४

'जानकीहरण' के प्रथम सर्ग के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उत्तम चरित्र तथा वंश वाली तीनों रानियों में से, किसी से भी उत्पन्न पुत्र का मुख न देख सकने के कारण, राजा दशरथ बहुत दुःखी (चिन्तित) रहा करते थे। इस प्रकार सन्तानाभाव के कारण वे बड़ी कठिनाई से अपना काल-यापन कर रहे थे।[1]

'जानकीहरण' के चतुर्थ सर्ग में दशरथ के चारों पुत्रों (राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न) की उत्पत्ति का वर्णन है, जिनके लिये राजा दशरथ ने चिरकाल से अपने हृदय में आशा संजो रखी थी—

सुतयोर्भवतः स्म बालिजिद्भरतौ कोशलकेकयेन्द्रयोः।
यमजौ यमतुल्यतेजसौ सुषुवाते समये सुमित्रया ॥[2]

'कोशलेश एवं केकयराज की पुत्रियों--कौशल्या तथा कैकेयी (के गर्भ से) क्रमशः बालि को जीतने वाले राम तथा भरत उत्पन्न हुये। इसी प्रकार सुमित्रा ने यमराज के समान तेजस्वी दो जुड़वे पुत्रों लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न को उत्पन्न किया।

रघुवंशी नरेश वर्णाश्रम व्यवस्था तथा सनातन धर्म के पालक तथा पोषक थे। वे अपने बच्चों के सभी संस्कार भी यथासमय सम्पन्न कराते थे। तदनुसार दशरथ की इच्छानुसार चारों बालकों के जन्म के बाद दिव्य मुनियों द्वारा उनके जातकर्मादि संस्कार सम्पन्न कराये गये। संस्कारसम्पन्न उन बालकों के मुख में जब छोटे-छोटे दाँत आये तो वे अतिशय सुशोभित हुये —

अथ दिव्यमुनिप्रवर्णितप्रसवानन्तरजातकर्मणाम्।
रुरुचे चरुजन्मनां दशा तनुसंदर्शितदन्तकुड्मला ॥[3]

यह सर्वविदित तथ्य है कि शिशुओं के मुख में जब छोटी-छोटी दन्त-कलियाँ खिल जाती हैं, तो वे अतिशय शोभायमान हो जाते हैं। यही कारण है कि कवियों को बालक का यह रूप बहुत प्रिय है, फलस्वरूप काव्यों में इस रूप को विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। 'वर दन्त की पंगति कुन्दकली' --इत्यादि पदों के माध्यम से हिन्दी के महाकवि तुलसी आदि ने भी अपने काव्यों में उसे वर्ण्य विषय बनाया है। उसी परम्परा में कुमारदास के इस पद्य में भी उस रूप की भी झलक मिलती है। नवजात शिशु राम-लक्ष्मण आदि में संस्कार एवं दन्तकली का योग एक मणिकांचन योग ही है।

बालक राम के मुख में चार सफेद दाँत निकले हुये थे। खेल-कूद में दोनों कपोल धूल-धूसरित हो गये थे। हाथ की रगड़ से अंजन पुत गया था। इस प्रकार वे चार दाँतों से युक्त देव-हस्ती ऐरावत की भाँति सुशोभित हुए—

---

१. जानकीहरणम्, १/४४ २. वही, ४/६
३. वही, ४/७

मुखमाहृतधूलिगण्डयोः   करघृष्टाञ्जनदानमस्य ।
विबभौ सुरदन्तिनो यथा वदनं दन्तचतुष्टयोज्ज्वलम् ॥[१]

यहाँ परिपुष्ट तथा सुन्दर शरीर वाले बालक राम के शरीर का, ऐरावत के साथ औपम्य-विधान निस्सन्देह अति सुन्दर है। उससे बालरूप का आकर्षक एवं मनोहर रूप बिम्बित हो जाता है।

'जानकीहरण' के चतुर्थ सर्ग में बालक स्वरूप का अति संक्षिप्त वर्णन है। पर उसके साथ उसमें शैशवकालोचित शिशु-चेष्टाओं तथा शिशु-क्रीड़ाओं का मनोहारी वर्णन है। सर्वप्रथम, माता-पिता तथा परिवार जनों के साथ सम्पूर्ण ससार को अपने दर्शन से आनन्दित करने वाले बालक राम की बाल-क्रीड़ा का वर्णन द्रष्टव्य है।

छोटे बच्चे स्वांग बहुत रचते हैं। कभी वे अपना रूप बदल लेते हैं, कभी छिप जाते हैं और कभी भयवश कोई बहाना बना लेते हैं। ऐसा करने में उन्हें अपूर्व आनन्द की प्राप्ति होती है। मुख ढँक कर अपने को छिपाने का एक भव्य-चित्र निम्नांकित श्लोक में चित्रित है—

न स राम इह क्व यात इत्यनुयुक्तो वनिताभिरग्रतः ।
निजहस्तपुटावृताननो   विदधेऽलीकनिमीलनमर्भकः ॥[२]

(राम को न देखकर जब भवन की) महिलायें यह पूछती हैं कि राम राम यहाँ नहीं हैं, कहाँ गये ? तब शिशु राम अपने हाथों से अपना मुँह ढँककर छिपने का स्वांग रचने लगते है।

बाललीला का यह एक अत्यन्त सजीव तथा सहज चित्रण है। इसमें राम की बाल-चपलता व्यंजित हो रही है।

माता कौशल्या एवं पिता दशरथ की उपस्थिति में धात्री जब शिशु राम से यह पूछती है कि राम ! बताओ तुम्हारा पिता कौन है ? तब राम राजा (दशरथ) को ओर इङ्गित करते हुए आनन्दित होकर उनसे लिपट जाते हैं—

कतरस्तव तात उच्यतामिति धात्रीवचनप्रचोदितः ।
रुचिरेण करेण निर्दिशन् जगदीशं प्रमदेन सन्दधौ ॥[३]

शैशवावस्था में अभिभावक एवं माता-पिता आदि अपने बच्चों से इस प्रकार के प्रश्न पूछते ही रहते हैं। ऐसी दशा में बच्चों के उत्तर अत्यन्त आनन्दकर होते हैं।

---

१. जानकीहरणम्, ४/९   २. वही, ४/८
३ वही, ४/१०।

राम की शिशु-क्रीड़ा का एक और उदाहरण हर्षप्रद होगा। जब बालक राम से यह पूछा जाता है कि बताओ तुमने चूहे से क्या प्राप्त किया ? तो पहले से ही सिखाये-पढ़ाये गये वे झटिति अपने छोटे-छोटे चारों दाँतों को दिखा देते हैं—

आर्य दर्शय तत्किमुन्दुराद् भवतोपात्तमिति प्रचोदितः।
प्रविदर्शयति स्म शिक्षया नवकं दन्तचतुष्टयं शिशुः ॥[1]

यहाँ उक्त प्रकार के प्रश्न तथा शिशु राम के दन्तप्रदर्शनरूपी उत्तर की पृष्ठभूमि में हिन्दू बालकों तथा महिलाओं के मध्य प्रचलित यह रूढ़ि काम कर रही है कि बच्चों के टूटे हुए दाँत यदि चूहों के बिलों में गाड़ दिये जायँ तो उनके (बच्चों के) दूध के दाँत निकलने पर चूहों जैसे तीखे दाँत निकलते हैं। बालक राम भी उक्त रूढ़ि से सम्यक् अवगत कराये गये हैं। इसीलिए वे उक्त प्रकार के प्रश्न का उत्तर अपने चारों दाँतों को दिखाकर देते हैं। यह शैशव चित्र भी अपने में नितान्त चारु है।

महाकवि ने 'जानकीहरण' के उसी सर्ग में राम के साथ ही उनके अन्य तीन भाइयों—भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न की भी बाल-क्रीड़ा का भव्य चित्र चित्रित किया है।

जिस तरह बड़े लोग बच्चों से प्यार करने के लिए सहज भाव से व्यग्र रहते हैं, उसी प्रकार बच्चे भी अपने प्रति स्नेह रखने वालों के प्यार को पाने तथा उनके सान्निध्य को प्राप्त करने के लिए उतावले हो जाते हैं। जिस प्रकार घर के एक ही शिशु को गोद में लेने के लिए बड़े लोगों में होड़ सी लग जाती है, उसी प्रकार एक ही माता अथवा पिता के पास लेटने, उनकी गोद में बैठने के लिए बच्चों में प्रतियोगिता हो जाती है। कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि ऐसे अवसरों पर बच्चे आपस में लड़ने भी लगते हैं और लड़ने के समय अपनी कोमल-कान्त तोतली बोली में अपना पक्ष भी प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार की उनकी स्पर्धामूलक लड़ाई अत्यन्त लुभावनी तथा प्रीतिकर होती है।

महाकवि कुमारदास उक्त तथ्य से अवगत थे। अतः उन्होंने शिशुचतुष्टय (राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न) की उक्त प्रकार की प्रतियोगिता को अधोलिखित श्लोक में बड़े अच्छे ढंग से चित्रित किया है। साथ ही बच्चों की इस प्रकार की प्रतियोगिता से आनन्दित होने वाली उनकी माताओं के वात्सल्यानुप्राणित आनन्द का भी प्रकाशन किया है—

शयनीयगतस्य भूपतेः शिशवः क्रोडनिवेशवाञ्छया।
निशि वर्धितमातुसम्पदं कलहं कोमलजल्पितं दधुः ॥[2]

---

१. जानकीहरणम् ४/११। २. वही, ४/१३।

रात में सोने के लिए शय्या पर लेटे हुए राजा (दशरथ) के वक्षःस्थल पर लेटने के लिए वे (चारों बच्चे) अपनी प्यारी तोतली बोली में परस्पर लड़ने लगते थे। उनका इस प्रकार लड़ना माताओं के वात्सल्यानन्द को बढ़ाता था।

निश्चय ही यह सहज बालक्रियामूलक चित्र सहृदय के हृदय को आनन्दित करता है।

भारतीय संस्कृति में माता-पिता को बहुत महत्त्व दिया गया है। 'मातृदेवो भव', 'पितृदेवो भव' इत्यादि वैदिक उक्तियों से उनकी महिमा सिद्ध है। अतः भारतीय संस्कृति के परिपालक समाज में बालकों के माता-पिता तथा गुरु उनमें बाल्यावस्था में ही ऐसे संस्कार डाल देते थे, जिससे उन बच्चों का भावी जीवन अत्यन्त सुखदायी हो जाता था। रघुवंशी नरेशों की तो बात ही निराली है। उनके घरों में भारतीय संस्कृति पूर्णरूप से प्रतिष्ठित थी। उनका आचार-विचार, खान-पान तथा व्यवहार सब कुछ मर्यादित था। उनके घरों में प्रारम्भ से ही उनके बच्चों में माता-पिता की सेवा का भाव भर दिया जाता था।

उक्त तथ्य के परिप्रेक्ष्य में महाकवि कुमारदास ने अधोलिखित श्लोक में एक बहुत अच्छा बिम्ब खड़ा किया है, जिसमें माताओं का निर्देश पाकर शिशु भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न पिता दशरथ का पैर दबाते हैं—

इतरेऽपि सरोजशीतलैर्मृदुभिः साञ्जनराजिभिः करैः।
शयने समवाहयन् पितुश्चरणौ मातृजनेन चोदिताः॥[1]

'अपनी-अपनी माताओं से प्रेरित होकर, अन्य बालक (भरत, लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न) भी शय्या पर लेटे हुए पिता (दशरथ) के चरणों को अपने काजल लगे हुए, कोमल एवं कमल की भाँति करों से दबाने लगते थे।'

सामूहिक रूप से उन बच्चों का पैर दबाना दर्शकों के लिये, विशेष कर माताओं के लिये, निस्सन्देह आनन्दकर था।

इस प्रकार शिशु-सम्बन्धी क्रीड़ाओं, चेष्टाओं तथा लीलाओं को करते हुए वे बालक दिनानुदिन बढ़ने लगे। जहाँ तक अवतारी बालक राम का प्रश्न है, उनका शारीरिक विकास ज्यों-ज्यों गतिशील हुआ, त्यों-त्यों देवताओं के शत्रु रावण की आयु क्षीण होने लगी।[2]

इस प्रकार द्रष्टव्य है कि कुमारदास के उक्त वर्णनों में शैशव-चित्रण अपने भव्य रूप में प्रस्तुत है। संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित यह चित्रण संस्कृत-काव्य में शिशुजगत् के अत्युत्तम चित्र के रूप में स्मरण किया जायेगा।

---

१. जानकीहरणम् ४/१२। २. वही, ४/१४

शिशुपालवध में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

माघ का जीवनवृत्त

भोजप्रबन्ध तथा प्रबन्धचिन्तामणि से माघ के जीवनवृत्त पर कुछ प्रकाश पड़ता है। 'शिशुपालवध' के अन्त में अंकित अंश से भी उनके जीवनवृत्त को जानने में सुगमता होती है। माघ का जन्म एक धनाढ्य कुल में हुआ था। माघ के पितामह सुप्रभदेव गुजरात के राजा वर्मलात के प्रधान मन्त्री थे। माघ के पिता दत्तक बड़े विद्वान् तथा दानी थे।

माघ के स्थितिकाल के विषय में पर्याप्त मतभेद है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अनेक मत-मतान्तरों का विश्लेषण करने के पश्चात् माघ का स्थिति-काल सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना है।

कृति

माघ की एकमात्र कृति 'शिशुपालवध' नामक महाकाव्य है। इसमें कुल २० सर्ग हैं। इस महाकाव्य की कथावस्तु महाभारत से ली गयी है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में श्रीकृष्ण द्वारा शिशुपालवध की महाभारतीय कथा को लेकर महाकवि ने उसे महाकाव्य का रूप प्रदान किया है। यह महाकाव्य संस्कृत महा-काव्य की अलंकृत शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। एक छोटे से कथानक को लेकर इतने बड़े महाकाव्य का रूप दिया गया है।

महाकवि ने अपने महाकाव्य की रचना जिस महाभारतीय कथावस्तु को लेकर की है, उसमें शैशब-चित्रण के लिये कोई अवकाश नहीं है। फलतः शिशुपाल-वध में भी वह (शैशव-चित्रण) कोई विशेष स्थान न पा सका। सम्पूर्ण महा-काव्य में मात्र दो स्थल ऐसे हैं जहाँ प्रातः-सन्ध्या तथा सूर्योदय के वर्णन-प्रसङ्ग में महाकवि ने क्रमशः नवजात बालिका एवं बालक की बालसुलभ क्रियाओं का चित्र चित्रित किया है।

पहले सूर्योदय के पूर्व, प्रातः-सन्ध्या के वर्णनव्याज से बालिका का काल्प-निक चित्र द्रष्टव्य है—

> अरुणजलजराजीमुग्धहस्ताग्रपादा
> बहुलमधुपमालाकज्जलेन्दीवराक्षी ।
> अनुपतति विरावैः पत्रिणां व्याहरन्ती
> रजनिमचिरजाता पूर्वसन्ध्या सुतेव ॥[1]

१. शिशुपालवधम्, ११/४०

'लाल-कमल-समूहरूपी सुन्दर हथेली तथा पैर के तलुवा वाली, बहुत से भ्रमर रूप कज्जल से युक्त नीलकमल के समान नेत्रों वाली पक्षियों के कलरव के रूप में तोतली बोली बोलने वाली नवजाता बाला के समान प्रातः-सन्ध्या (उषा) जाने वाली रात के पीछे-पीछे जा रही है।'

इस श्लोक में प्रातः सन्ध्या अर्थात् उषा का वर्णन है। रात्रि रूपी माता के चले जाने पर नवजाता सुन्दरी कन्या के समान पूर्व सन्ध्या (अर्थात् प्रातः सन्ध्या-उषा) भी उसके पीछे-पीछे जा रही है। उस समय पृथिवी पर विराजमान लाल कमलों की पंक्तियाँ तथा पंखुड़ियाँ ही क्रमशः उसकी (बाल-सन्ध्या की) सुन्दर हथेली और पैर के तलुवा हैं, विकसित होने वाले कमल उसके नेत्र हैं, कमलों पर उड़ने वाले भ्रमर नेत्रों के काजल हैं, उषःकाल में पक्षियों के कलरव उसको तोतली बोली हैं।

उक्त श्लोक में पूर्व-सन्ध्या को नवजाता कन्या के समान चित्रित किया गया है। इस श्लोक में एक तो नवजात बालिका का स्वरूप बिम्बित हो रहा है क्योंकि नवजात कन्या की हथेली तथा तलुवा कमल के समान लाल-लाल तथा सुन्दर होते हैं, उसके नेत्र खिले से रहते हैं, नेत्रों में काजल लगा रहता है। दूसरे उसकी बालसुलभ क्रिया भी प्रकाशित हो रही है क्योंकि छोटे बच्चे सदा अपनी माता के पीछे-पीछे दौड़ते रहते हैं और दौड़ते समय तोतली बोली में कुछ बोलते रहते हैं। इस प्रातःसन्ध्या के वर्णन में एक अचिरजाता बालिका का सजीव बिम्ब बिम्बित है। यह महाकवि माघ की काव्य-कला की विशेषता है। इस श्लोक का औपम्य विधान निश्चय ही श्लाघ्य है।

दूसरा स्थल है सूर्योदय का, जिसमें बालोचित क्रियाओं से युक्त एक नवजात बालक का सहज तथा सजीव चित्र खींचा गया है। उससे सम्बद्ध श्लोक निम्नांकित है—

उदयशिखरिशृङ्गप्राङ्गणेष्वेष रिङ्गन्
सकमलमुखहासं वीक्षितः पद्मिनीभिः ।
विततमृदुकराग्रः शब्दयन्त्या वयोभिः
परिपतति दिवाऽङ्के हेलया बालसूर्यः ॥[1]

'उदयाचल के शिखररूपी आंगन में रेंगता (पक्षान्तर में घुटने के बल चलता) हुआ, कमलिनियों के द्वारा कमलरूपी मुख के हास्य के साथ देखा गया,

---

१. जानकीहरणम्, ११/४७।

कोमल हस्ताग्र (पक्षान्तर अनुष्ण किरणाग्र) को फैलाता हुआ, यह बालकरूपी सूर्य, पक्षियों के कलरवों द्वारा बुलाती हुई (मातृतुल्य) दिन (अर्थात् आकाश) के अङ्क (गोद) में जा रहा है।'

इस श्लोक में श्लेषमूलक अतिशयोक्ति से युक्त रूपक अलंकार के माध्यम से सूर्योदय-वर्णन-प्रसङ्ग में नवजात बालक का बालोचित क्रिया से युक्त भव्य चित्र चित्रित है। आंगन में घुटने के बल चलते हुये बच्चे को देखकर स्त्रियाँ अत्यधिक प्रसन्नता के कारण हँसने लगती हैं और ऊँचे स्वर से जब उसे माता बुलाती है, तब बच्चा अपने कोमल हाथों को फैलाता हुआ, उसकी गोद में जाने के लिये आगे बढ़ने लगता है। इस बिम्ब को दृष्टि में रखकर कवि ने प्रातःकालिक (अर्थात् प्रातःकाल में उगते हुये) सूर्य में बालक का आरोप किया है। उसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार आंगन में घुटने के बल चलते हुए छोटे बालक को स्त्रियाँ देखती हैं और माता जब उसे उच्च स्वर से अपनी ओर बुलाती है, तब वह बालक अपने कोमल हाथों को फैलाता हुआ गोद में जाने के लिए आगे बढ़ने लगता है, उसी प्रकार प्रातःकाल का सूर्य (बाल सूर्य) उदयाचल के शिखर पर घूमता है, उसे विकसित कमलिनियाँ देख रही हैं तथा पक्षियों के कलरव द्वारा आकाशरूपिणी माता उसे अपने पास बुला रही है, फलस्वरूप वह बालसूर्य अपनी अप्रखर किरणों को फैलाता हुआ उस आकाश के मध्य की ओर लीलापूर्वक जा रहा है।

इस श्लोक में नवजात बालक के स्वरूप तथा उसकी बालसुलभ क्रियाओं का एक सजीव बिम्ब बिम्बित किया गया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि महाकवि माघ में बालस्वरूप तथा बाल-सुलभ क्रियाओं का ज्ञान विद्यमान है पर वे कथानक की बाध्यता के कारण बाल-वर्णन के प्रति विशेष रूप से प्रवृत्त नहीं हो सके।

नैषधीयचरित में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

श्रीहर्ष का जीवनवृत्त

संस्कृत साहित्य के महाकवियों में श्रीहर्ष का मूर्धन्य स्थान है। उन्होंने 'नैषधीयचरित' के प्रत्येक सर्ग के अन्त में अपने पिता का नाम 'हीर' तथा माता का नाम 'मामल्लदेवी' लिखा है।[1] वे काशी के गहड़वाल वंशी राजा विजयचन्द्र की सभा में प्रधान पण्डित थे। ऐसा कहा जाता है कि कान्यकुब्जेश्वर की राज-

---

१. श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः सुतं,
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ॥—नैषधीयचरितम्।

सभा में इनका बड़ा आदर था। क्योंकि इन्होंने स्वयं कान्यकुब्जेश्वर से आसन और पान का बीड़ा प्राप्त करने की बात लिखी है।[२] कान्यकुब्ज के राजा जयचन्द्र की सभा में वे रहते थे। जयचन्द्र के पिता विजयचन्द्र की सभा में भी इनकी स्थिति थी। उन्हीं के नाम पर इन्होंने 'विजयप्रशस्ति' नामक काव्य की रचना की है। विजयचन्द्र का समय ११५४ ई० से ११६९ ई० माना जाता है। अतः श्रीहर्ष का समय १२ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है।[३]

श्रीहर्ष में कवित्व-प्रतिभा और पाण्डित्य दोनों विद्यमान थे। संस्कृत के महाकवियों में पाण्डित्य की दृष्टि से इनका अत्यन्त उच्च स्थान है। वे साधक तथा योगी भी थे।

रचनाएँ

श्रीहर्ष की रचनाओं का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। उन्होंने काव्य के अतिरिक्त दर्शन, साधना आदि से सम्बन्धित भी रचनाएँ की हैं। 'नैषध' में उल्लेख के अनुसार उनकी रचनायें निम्नांकित हैं—

१. स्थैर्यविचारप्रकरणम् (दर्शन)
२. विजयप्रशस्तिः (प्रशस्तिकाव्य)
३. खण्डनखण्डखाद्यम् (वेदान्त)
४. गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिः (प्रशस्तिकाव्य)
५. अर्णववर्णनम् (काव्य)
६. छिन्दप्रशस्तिः (प्रशस्तिकाव्य)
७. शिवशक्तिसिद्धिः (साधनाविषयक)
८. नवसाहसाङ्कचरितचम्पूः (चम्पू काव्य)
९. नैषधीयचरितम् (महाकाव्य)।

नैषधीयचरित—यह २२ सर्गों का एक महाकाव्य है। इस महाकाव्य के नायक निषध देश के राजा नल हैं। इस महाकाव्य में उन्हीं का चरित विशद रूप से वर्णित है। प्रथम सर्ग का प्रारम्भ नल के वर्णन से होता है। सर्ग के अन्त में राजा एक हंस को पकड़ लेते हैं। उसका करुणक्रन्दन अत्यन्त सुन्दर ढंग से वर्णित है। उसके विलाप में उसके बच्चों, माता तथा पत्नी के प्रति अपूर्व भाव व्यंजित है। 'नैषधीयचरित' की गणना बृहत्त्रयी में की जाती है। राजा पकड़े गये हंस को दमयन्ती के पास भेजते हैं, जो दमयन्ती से नल के सौन्दर्य का वर्णन करता

---

२. 'ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्।'
३. आचार्य बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २८५

है। इस महाकाव्य में नल तथा दमयन्ती का अनुराग अति सुन्दर ढंग से वर्णित है। दमयन्ती के स्वयंवर के बाद दोनों का विवाह होता है। विवाह के पश्चात् नल एवं दमयन्ती के प्रथम संयोग का काव्यात्मक वर्णन करके महाकवि ने अपने ग्रन्थ को समाप्त किया है।

नैषधीयचरित का कथन ऐसा है कि उसमें शैशव चित्रण के लिये कहीं कोई अवसर प्राप्त नहीं है। पर प्रथम अंक के अन्त में नल द्वारा पकड़े गये हंस के विलाप में करुण वात्सल्य की अच्छी व्यंजना है। उसी विलाप में पक्षिशावकों के बालसुलभ क्रियाओं का भी वर्णन है। मानवीय शैशव-चित्रण की दृष्टि से तो यह महाकाव्य शून्य है। हाँ, उक्त प्रसंग में पक्षिसम्बन्धी चित्रित वात्सल्य निस्सन्देह हृदयस्पर्शी है।

माता का अपने पुत्र के प्रति, वह भी इकलौते पुत्र के प्रति, विशेष वात्सल्य भाव होता है। अतः ऐसे इकलौते पुत्र के कुशल-क्षेम में ही माता अपना कुशल मानती है। इस तथ्य को समझ कर ही हंस सर्वप्रथम अपनी माता के कष्ट का उल्लेख करता है—

'मदेकपुत्रा जननी जराऽऽतुरा'[1]

अर्थात् मेरी माता मुझ इकलौते पुत्र की माता है। दूसरे वह वृद्धा भी हैं। मैं उसकी बुढ़ौती का सहारा हूँ। ऐसी स्थिति में भी क्या राजा को दया नहीं आती?—

अहो! विधे! त्वां करुणा रुणद्धि नो?॥[2]

इस प्रसंग में पुत्र हंस से सम्बद्ध माता का सम्भावित करुण पुत्र-वात्सल्य व्यंजित होता है।

हंस के न रहने पर उसके मित्र आदि दुःखी होकर कुछ समय के पश्चात् शान्त हो जायेंगे, पर उसकी वात्सल्यमयी माँ शोकसागर को कैसे पार कर सकेगी?—

मुहूर्तमात्रं भवनिन्दया दयासखाः सखायः स्रवदश्रवो मम।
निवृत्तिमेष्यन्ति परं दुरुत्तरस्त्वयैव मातः! सुतशोकसागरः॥[3]

पुत्र के वियोग में माता का (पुत्रवियोगजनित) शोकसागर दुस्तरणीय ही होता है—इस तथ्य की व्यंजना करने में यह प्रसंग नितान्त श्लाघ्य है।

माता तथा पत्नी की चिन्ता के साथ हंस की सबसे बड़ी चिन्ता तो अपने बच्चों की है। माता के आश्रय में शिशु पलते हैं और पिता का स्नेह पाकर बढ़ते

---

१. नैषधीयचरितम्, १/१३५
२. वही, १/१३५ ३. वही, १/१३६।

हैं। यदि दुर्भाग्यवश कहीं दोनों का वियोग हो जाय, तो बच्चे भी नहीं बच सकते। हंस के सामने सबसे विषम घड़ी उपस्थित हो गयी है। उसके वियोग में यदि उसकी पत्नी भी मर गयी तो, निश्चित रूप से बच्चे निष्प्राण हो जायेंगे—

> ममैव शोकेन विदीर्णवक्षसा त्वयाऽपि चित्राङ्गि ! विपद्यते यदि ।
> तदस्मि दैवेन हतोऽपि हा ! हतः स्फुटं यतस्ते शिशवः पराऽसवः ॥[1]

'हे विचित्र अंगवाली ! यदि मेरे कारण विदीर्णहृदया तुम भी चल बसी, तब तो हाय ! मैं मरा हुआ भी दुर्दैव से फिर मारा जाऊँगा, क्योंकि मेरे बच्चे (तुम्हारे मर जाने पर) निश्चित ही मर जायेंगे।'

शीघ्र ही उत्पन्न होने के कारण उन नवजात बच्चों के अभी नेत्र भी नहीं खुले हैं, वे अपनी माँ के अभाव में क्षुधापीड़ित होकर तथा कोटर में लोट-लोट कर अपना प्राण त्याग देंगे—

> तवाऽपि हा ! हा विरहात्क्षुधाकुलाः कुलायकूलेषु विलुण्ठ्य तेषु ते ।
> चिरेण लब्धा बहुभिर्मनोरथैर्गताः क्षणेनाऽस्फुटितेक्षणा मम ॥[2]

'हाय ! हाय ! मेरे प्रिय बच्चे, जिनके अभी नेत्र भी नहीं खुले हैं और जो संजोये गये नानाविध मनोरथों से अति विलम्ब से मिले थे, तुम्हारे वियोग में कोटर में लोट-लोट कर (अर्थात् छटपता-छटपटा कर) मरणासन्न हो जायेंगे।'

यहाँ श्रीहर्ष के द्वारा खींचा गया नवजात पक्षिशावकों का कारुणिक चित्र अत्यन्त मर्मस्पर्शी तथा हृदयद्रावक है। इसमें घोसले आदि में पक्षिशावकों के छटपटा कर मर जाने का नितान्त स्वाभाविक वर्णन है।

पक्षियों के वे बच्चे, जिनमें उड़ने लायक पंख नहीं होते, चूँ-चूँ करते हैं, जैसे लगता है कि वे अपने माँ-बाप को अपनी सुन्दर तोतली बोली में बुलाते हैं। अपनी माँ की ओर चोंच हिला-हिलाकर मानों बोलना सीखते हैं। हंस का ध्यान उक्त दृश्य की ओर जाता है और उसके सामने सारा बिम्ब नाचने सा लगता है। यह सब सोचकर अत्यन्त शोकाकुल होते हुये वह कहता है—

> सुताः ! कमाहूय चिराय चुङ्कृतैर्विधाय कम्राणि मुखानि कं प्रति ?।
> कथासु शिष्यध्वमिति प्रमील्य सः सुतस्य सेकाद् बुबुधे नृपाऽश्रुणः ।[3]

'बच्चों ! बहुत देर तक चूँ-चूँ करके तुम किसे बुलाओगे ? किसकी ओर चोंच हिला-हिला कर तुम बोलना सीखोगे ? अब तो तुम्हारी बस कहानी ही रह जायेगी।'

---

१. नैषधीयचरितम्, १/१४० २. वही, १/१४१
३. वही, १/१४२

उक्त सभी को ध्यान में रखकर यह कहने में स्वल्प भी संकोच नहीं है कि नैषध में भले ही मानवीय शैशव चित्रण स्थान न पाया हो, पर उक्त स्थलों में पक्षिसम्बन्धी शैशव-चित्रण तो महत्त्वपूर्ण भूमि पर प्रतिष्ठित ही है। पक्षि-शैशव-चित्रण की दृष्टि से नैषध का उक्त अंश निस्सन्देह प्रशंसनीय है।

विक्रमाङ्कदेवचरित में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

महाकवि बिल्हण का जीवनवृत्त

यह हमारा सौभाग्य है कि महाकवि बिल्हण ने अपने महाकाव्य विक्रमाङ्कदेवचरित के अन्तिम सर्ग के अन्त में अपने जीवनवृत्त पर कुछ प्रकाश डाला है। उसके अनुसार बिल्हण के पितामह का नाम 'राजकलश,' पिता का नाम 'ज्येष्ठकलश' और माता का नाम 'नागदेवी' था। बिल्हण अपने माता-पिता के मध्यम पुत्र थे। उनकी शिक्षा कश्मीर में हुई थी। उन्हें कश्मीर से बहुत प्रेम था। उन्होंने प्रायः पूरे भारत की साहित्यिक यात्रा की थी। भ्रमण-काल में दक्षिण भारत में इन्हें आश्रयदाता के रूप में चालुक्यवंशीय नरेश विक्रमादित्य प्राप्त हो गये और उन्हीं के आश्रय में इन्होंने अपना जीवन बिताया। आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार इनका स्थिति-काल ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है।

कृतियाँ

बिल्हण की तीन रचनाएँ विख्यात हैं—

१. विक्रमाङ्कदेवचरितम् (महाकाव्य)
२. कर्णसुन्दरी (नाटिका)
३. चौरपंचाशिका (गीतकाव्य)

'विक्रमाङ्कदेवचरित' एक ऐतिहासिक महाकाव्य है। इसमें कुल अठारह सर्ग हैं। इस महाकाव्य में आश्रय-दाता विक्रमादित्य तथा उनके वंश का विस्तृत वर्णन है। ऐतिहासिक घटनाओं के वर्णन में कवि इतना जागरूक है कि उसमें कोई विरोधाभास नहीं होता। वस्तुतः महाकवि ने इतिहास को आधार बनाकर अपने काव्य की रचना की है। इस प्रकार यह महाकाव्य एक ओर चालुक्यवंशीय नरेशों का इतिहास जानने के लिये उपयोगी है और दूसरी ओर काव्यात्मक वैभव के लिये नितान्त आकर्षक है। इस महाकाव्य के नायक विक्रमाङ्कदेव हैं। महाकवि ने विक्रमाङ्कदेव के अतिरिक्त अन्य चालुक्यवंशीय नरेशों का भी वर्णन किया है, पर वह वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त है। कवि ने अपने नायक के विस्तृत वर्णन में अधिक रुचि दिखलायी है, जिससे नायक का शैशवचित्र भी महत्त्वपूर्ण

स्थान रखता है। उस दृष्टि से भी यह महाकाव्य महनीय स्थान का भागी है। महाकाव्य के द्वितीय सर्ग में कवि ने विक्रम की उत्पत्ति के पूर्व उनके पिता आहवमल्लदेव की उस मानसिक व्यथा का चित्र खींचा है, जिसके मूल में सन्तानाभाव (पुत्राभाव) जनित चिन्ता थी। पुत्र के अभाव में समस्त वैभव, सुख-सुविधा के होने पर भी, उनका मुखकमल उसी प्रकार म्लान रहा करता था, जिस प्रकार चन्द्रदर्शन के अभाव में नीलकमल अविकसित रहता है।[1] पुत्राभाव से आहत आहवमल्लदेव ने एक दिन अपनी पत्नी से अपनी व्यथा इन शब्दों में व्यक्त की—

फलेन शून्याः सुतरां दुनोति मामयं गृहस्थाश्रमधर्मपादपः।
विलोकयामि प्रतिबिम्बमात्मनः सुताभिधानं त्वयि नाधुनापि यत्॥[2]

'यह फलरहित गृहस्थाश्रमरूपी वृक्ष मुझे अत्यन्त पीड़ित करता है क्योंकि अभी तक तुमसे मेरा प्रतिबिम्ब रूप उत्पन्न नहीं हुआ।

उनकी दृष्टि में सर्वगुणसम्पन्ना रानी में ऐसा कोई दोष नहीं दिखायी देता, जिसके कारण उन्हें पुत्र-मुख-दर्शन का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो रहा है। उन्होंने पुत्र की प्राप्ति में अपने ही पूर्व जन्म के पाप को सबसे बड़ा प्रतिबन्धक माना—

'पुराकृतः पुण्यविपर्ययो मम ध्रुवं फलर्द्धिप्रतिबन्धकस्त्वयि॥'[3]

'हे बालमृगाक्षि! पुत्र रूप फलसम्पत्ति का सबसे बड़ा बाधक मेरा पूर्व जन्म का पाप ही है।'

पुत्राभाव में राजाओं की चिन्ता के कुछ कारण भौतिक तथा कुछ आध्यात्मिक भी हैं। उनकी सबसे बड़ी भौतिक चिन्ता यह होती है कि पुत्र के अभाव में उनकी राजलक्ष्मी की रक्षा कौन करेगा? आध्यात्मिक चिन्ता यह है कि पुत्राभाव में पितृऋण से मुक्ति कैसे मिलेगी?[4]

सन्तान का व्यामोह (या इच्छा) पशु-पक्षी तथा मनुष्य सभी प्राणियों में समान होता है।[5] समस्त गुणों से विभूषित होने पर भी राजा तब तक अपने जन्म की सफलता नहीं प्राप्त कर सकता, जब तक वह पुत्र से पुत्रवान् लोगों में अग्रणी नहीं होता।[6]

राजा की उक्त बातें सुनकर उनकी रानी अत्यन्त दुःखी हुई। किसी प्रकार उन्हें समझा-बुझा कर भगवान् शंकर को प्रसन्न करने के लिये घोर तपस्या करने

---

१ बिक्रमाङ्कदेवचरितम् २/२
२. वही, २/२९
३. वही, २/३०
४. वही, २/३१
५, वही, २/३३
६. वही, २/३५

का निर्णय लिया, जिससे पुत्र की प्राप्ति हो सके। आकाशवाणी के द्वारा राजा को यह सूचना मिली कि उन्हें अपनी धर्मपत्नी से तीन पुत्रों की प्राप्ति होगी, जिनमें से मध्यम पुत्र बड़ा प्रतापी, विजयलक्ष्मी का पात्र तथा कला-ज्ञाता होकर अपने पूर्वजों से भी अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा। साथ ही यह भी सूचना मिली कि राजा को दो पुत्र उनके कठिन अनुष्ठान से प्राप्त होंगे, किन्तु मध्यम पुत्र भगवान् शंकर की कृपा से प्राप्त होगा।[1] वह रामचन्द्र के समान समुद्र के पार गयी हुई सीतारूपी लक्ष्मी को अपने पूर्वज से ले आयेगा। प्रथम पुत्र के होने पर राजा ने उसके उपलक्ष्य में एक बहुत बड़ा उत्सव किया और चालुक्य वंश को आनन्दित करने के कारण उसका नाम 'सोम' रखा। इसके बाद जब रानी ने दूसरा गर्भ धारण किया तो राजा के आनन्द की कोई सीमा नहीं रही और समय आने पर भगवान् शंकर की कृपा से अद्भुत गुणयुक्त शुभ लग्न में राजा को द्वितीय पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, जिसमें इसके पहले कोई भी सार्वभौम राजा जन्म नहीं पाया था।[2]

चिरप्रतीक्षित पुत्र की प्राप्ति से सारा विश्व आनन्द से भर गया। आकाश में नन्दनबन से फूलों की वृष्टि होने लगी। देवराज इन्द्र का नगाड़ा बजने लगा। कुमार के साथ ही उत्पन्न उसके गुणों से सब दिशायें प्रसन्न हो गईं। वह संसार की आँखों को आनन्द देने वाला चन्द्रसदृश था। वह बालचन्द्र द्वितीया के चन्द्रमा की भाँति आरती से सुशोभित हुआ—

सुरप्रसूनान्यपतन्सषट्पदध्वनीनिदध्वानसुरेन्द्रदुन्दुभिः ।
परं प्रसादं ककुभः प्रपेदिरे गुणैः कुमारस्य सहोत्थितैरिव ॥
नवप्रतापाङ्कुरचक्रकान्तया निरन्तरारात्रिकदीपसम्पदा ।
श्रियं जगल्लोचनबालचन्द्रमाः समाजहारोदयसन्ध्ययेव सः ॥[3]

'पुत्र की उत्पत्ति से देवताओं के हृदय में इतना आनन्द छा गया कि राजा को पुत्रोत्पत्ति की सर्वप्रथम सूचना देवताओं की मंगलध्वनि से ही प्राप्त हुई। इसके बाद जब पुत्रोत्पत्ति के हर्ष से हर्षित रमणियाँ इधर-उधर भाग-दौड़ करने लगीं तब उन्हें पुत्रोत्पत्ति की पुष्टि हुई।[4]

पुत्रोत्पत्ति का आनन्द संसार के सब आनन्दों में बड़ा होता है। चाहे धनी हो अथवा गरीब, राजा हो या रंक, पुत्रोत्पत्ति सबके लिये आनन्द का कारण बनती है। जहाँ तक राजा आहवमल्लदेव के राजभवन की प्रसन्नता की बात हैं, वह अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी। अति प्रसन्न नटों को पुरस्कार में सोना दिया जाने लगा, सोहर का गान प्रारम्भ हो गया, गान करने वाले, हर्षित होकर

---

१. विक्रमाङ्कदेवचरितम्, २/५१–५३ २. वही, २/८५
३. वही, २/८६–८७ ४. वही, २/८९

हाथियों का दान करने लगे, नृत्य आरम्भ हो गया, दुन्दुभि का नाद पूरे वातावरण में छा गया और स्तुतिपाठक नवजात शिशु का गुणगान करने लगे। शास्त्रवेत्ता राजा ने पुत्रोचित धर्मकृत्यों को पुरोहितों द्वारा संपादित कराया। पुत्र के शरीर-स्पर्श का सुख सर्वोत्तम होता है। राजा भी उस सुख से भाग्यशाली बने और धार्मिक कृत्यों के विधान के समय उनके मन में जो सुख हुआ, वह वर्णनातीत रहा। यह सही कहा गया है कि संसार में गृहस्थ आश्रम में रहने वालों के लिये पुत्रप्राप्ति ही उनके गार्हस्थ्य जीवन का प्रधान फल होता है।[1]

इस प्रकार महाकवि ने 'विक्रमाङ्कदेवचरित' के द्वितीय सर्ग के अन्तिम भाग में पुत्रोत्पत्ति, उससे जनित आनन्द एवं आनन्द में किये जाने वाले कृत्यों का वर्णन कर तृतीय सर्ग के शैशव-चित्रण के लिये एक पृष्ठभूमि तैयार की है।

चूंकि नवजात बालक प्रसिद्ध गुणों से मण्डित था और अपने विशेष लक्षणों से अनुमित आश्चर्यकर तेज तथा भावी विक्रम का परिचय दे रहा था, इसलिये राजा आहवमल्लदेव ने विक्रम और तेज में सूर्य के समान उस बालक का 'विक्रमादित्य' यह सार्थक नाम रखा—

स विक्रमेणाद्भुततेजसा च चेष्टाविशेषानुमितेन बालः ।
श्रीविक्रमादित्य इति क्षितीन्दोरवाप विख्यातगुणः समाख्याम् ।।[2]

वह बालक गौर वर्ण का था, अतः उसको दृष्टिगत कर कवि कल्पना करता है कि जिस प्रकार साम्राज्य की लक्ष्मी पराक्रम से शोभित होती है, उसी प्रकार रानी भी सभीं दिशाओं को अपने यश से उज्ज्वल बनाने वाले गौरवर्ण के अपने पुत्र 'विक्रम' से सुशोभित हुयीं—

देवस्य चालुक्यविभूषणस्य भार्या यशोरञ्जितदिङ्मुखेन ।
तेनावदातद्युतिना रराज साम्राज्यलक्ष्मीरिव विक्रमेण ।।[3]

नवजात शिशु माता के गर्भ से उत्पन्न होता है और उसी की गोद में पलता है, इसीलिए उसके द्वारा सबसे पहले शोभा उसकी माता की ही होती है। यहाँ यह विचारणीय है कि माता सर्वप्रथम शोभित ही नहीं, बल्कि वह सर्वप्रथम आनन्दित भी होती है।

कवि ने इसके आगे बालसुलभ-क्रीड़ा, लीला एवं चेष्टा का जो चित्र खींचा है, वह नितान्त सजीव और आकर्षक है।

बच्चों का यह स्वभाव होता है कि वे एक गोद से दूसरी गोद में जाने की चेष्टा करते हैं। विशेषकर इस प्रकार की उनकी चेष्टा तब और बढ़ जाती है,

---

१. विक्रमाङ्कदेवचरितम्, २/९०–९१ २. वही, ३/१
३. वही, ३/२

जब वे किसी बैठे हुए व्यक्ति की गोद में होते हैं। ऐसे समय में वे खड़े हुए व्यक्ति की गोद में जाने के लिए उतावले हो जाते हैं। नवजात राजकुमार की भी यही स्थिति है कि वे बालस्वभावानुसार बैठे हुए व्यक्ति की गोद से खड़े हुए व्यक्ति की गोद में चले जाते थे। इस पर कवि की यह कल्पना कितनी अनूठी है कि वह नीच (नीचे बैठे हुए अर्थात् निकृष्ट कोटि के) व्यक्तियों से सदा विमुख रहेंगे—

> त्यक्त्वोपविष्टान्यदसौ कुमारः समुत्थितानां सविधे जगाम।
> आगामि तेनाधिकमुन्नतात्मा नीचेषु वैमुख्यमिवाचचक्षे ॥[1]

बच्चे जब क्रमशः बढ़ने लगते हैं तो वे किसी के पुचकारने पर हुंकारी भी भरने लगते हैं। दूसरे की अंगुली पकड़कर उठने लगते हैं तथा तोतली बोली बोलने लगते हैं। ऐसी अवस्था में माता-पिता अत्यधिक आनन्दित होते हैं। राजकुमार भी धायी के पुचकारने पर मुस्कराते हुए हुँकारी भरने लगे। वह हुंकारी जब राजा के कानों में पड़ती थी तो वे परम आनन्दित होते थे। जैसे लगता था कि उनके कानों को अमृत की गण्डूष परम्परा से भर दिया गया हो। जब वह बालक धायी आदि की अंगुली पकड़कर उठने लगा और समझ में न आने वाली तोतली बोली बोलने लगा तब तो राजा के आनन्द का कहना ही क्या था? बच्चे की बाललीला को देखकर उनकी (राजा की) आँखों और बोली को सुनकर उनके कानों का जैसे वशीकरण हो जाता था, अर्थात् राजा सब राजकाज छोड़कर अपने आत्मज की लीला एवं बोली को देखने-सुनने में ही मग्न हो जाते थे—

> धात्रेयिकाया स्मितपूर्वकं यददत्त हुङ्कारमसौ कुमारः।
> अपूरयत्तेन नृपस्य कर्णौ पेयूषगण्डूषपरम्पराभिः ॥
> यदुत्थितः सोऽङ्गुलिसंग्रहेण यत्किञ्चिदव्यक्तमवोचतापि।
> अभीक्ष्णमक्ष्णोः श्रवसोश्च तेन क्षमापतेः संवननं बभूव ॥[2]

जब उस बालक के जातकर्मादि संस्कारों के बाद चौलकर्म संस्कार हो गया तो राजा आहवमल्लदेव को असीमित रूप से आनन्दित करने के कारण वह नन्दन-वन ही हो गया।[3]

धूलि को गन्दा समझकर लोग उससे बचने का प्रयास करते हैं पर बच्चे के अंगों में लगी हुई धूलि की महिमा ऐसी अपार होती है कि उससे धूसरित होने तथा तज्जनित आनन्द को पाने के लिए माँ-बाप उत्सुक हो जाते हैं। राजा

---

१. विक्रमाङ्कदेवचरितम्, ३/६
२. वही, ३/७-८।   ३. वही, ३/१०

आहवमल्लदेव भी ऐसे सौभाग्यशालियों में अन्यतम हैं, जिसके लिए वह बालक आनन्ददाता नन्दनवन और अपनी धूलि से उनके मन को हरने वाला वशीकरण मन्त्र बन गया था।

अपने बच्चों को चूमने में मनुष्य एक असीम आनन्द की प्राप्ति करता है। इसीलिए माँ-बाप अपने शिशुओं को चूमते हुए कभी अघाते नहीं। वह (चूमना) उनके स्नेहमय वात्सल्य एवं उनके आनन्दित होने का व्यंजक है। अधोलिखित श्लोक में अपने आत्मज को चूमने में प्रवृष्ट राजा द्रष्टव्य हैं जिनका हृदय मानो बालक के अधरोष्ठ से उत्पन्न लालिमा से रंजित (प्रेमपूर्ण) हो गया था—

प्रतिक्षणं कुन्तलपार्थिवस्य वितन्वतस्तन्मुखचुम्बनानि।
तदीयदन्तच्छदजन्मनेव रागेण चेतः परिपूर्णमासीत्॥[1]

आगे कवि ने बालक्रीड़ा अथवा बाललीला के वर्णन प्रसंग में एक से एक बढ़कर अलंकृत चित्रों को चित्रित किया है।

मातायें अपने बच्चे की रक्षा और मंगल के लिए उन्हें व्याघ्रनखाङ्कुर पहना देती हैं। भारत में यह प्रथा अत्यन्त व्यापक है और यह चिरकाल से अपनी सत्ता बनाये है। रानी ने भी अपने प्रिय राजकुमार के गले में व्याघ्रनखाङ्कुर पहनाया है। कवि ने कितनी अनूठी उत्प्रेक्षा की है—

मुखेन्दुसञ्चारकृताभिलाषः कुरङ्गभीत्यर्थमिवार्पितेन।
कण्ठावसक्तेन स राजसूनुरराजत व्याघ्रनखाङ्कुरेण॥[2]

वह राजकुमार मुखरूपी चन्द्र में आने की अभिलाषा करने वाले लांछन रूपी मृग को डराने के लिए ही मानो गले में पहने हुए व्याघ्रनखाङ्कुर से शोभित हो रहा था, अर्थात् मुखरूपी चन्द्र में कलंकरूपी मृग के व्याघ्रभय से प्रवृष्ट न होने के कारण राजकुमार का मुख सर्वांशतः निष्कलङ्क था।

पक्षियों, तितलियों तथा पशु के छोटे बच्चों को पकड़ने में शिशुओं की सहज प्रवृत्ति होती है। राजभवन में वेश्याओं के पायल की झनकारों को सुनकर वहाँ राजहंस पक्षी एकत्र हो जाते थे, परन्तु वह बालक उन्हें पकड़ने के लिये दौड़ता था, जिससे वे भाग जाते थे। इस पर कवि यह कल्पना कर रहा है कि वह बालक भविष्य में सम्पूर्ण पृथ्वी का एकछत्र राजा होकर अन्य श्रेष्ठ राजहंसों (अर्थात् राजाओं) को पराभूत कर देगा।[3]

खेलकूद में बच्चों की सहजभाव से प्रवृत्ति होती है। खेलकूद के प्रति वह सहजतः आकृष्ट होते हैं। वे खिलौनों से तो खेलते ही हैं, साथ ही वे सिंह जैसे

१. विक्रमाङ्कदेवचरितम्, ३/१२। २. वही, ३/१३।
३. वही, ३/१४

भयङ्कर पशुओं के बच्चों से भी खेलते हैं। वे राजकुमार भी पिंजरे में स्थित शेर के बच्चों को तङ्ग करते थे। ऐसा करने में वे आनन्दित होते थे—

स पीडयन्नायसपञ्जरस्थान् क्रीडापरः केसरिणां किशोरान्।
समाददे भाविरिपुद्विपेन्द्रयुद्धोपयोगीव तदीयशौर्यम् ॥[1]

'अर्थात् खेलकूद में संलग्न उस राजकुमार ने लोहे के पिंजरे में विराजमान शेर के बच्चों को तङ्ग कर मानो भावी शत्रु रूपी गजेन्द्रों के युद्धों में उपयोगी उनके (शेर के बच्चों के) शौर्य को ले लिया। (चूँकि सिंह का शौर्य ही गजेन्द्रों को मारने में समर्थ होता है, इसीलिये मानो उसने शत्रु रूपी गजेन्द्रों को मारने के लिये उनका शौर्य छीन लिया)।

बालचन्द्र के समान दिनानुदिन बढ़ने वाले उस राजकुमार के पैरों के नख अत्यन्त स्वच्छ और चमकीले थे। उसमें जब उसका मुखरूपी चन्द्र बिम्बित होता था तो ऐसा प्रतीत होता था कि चन्द्रमा के छोटे-छोटे बच्चे साथ खेलने के लिये उसके पैरों को पकड़कर प्रार्थना कर रहे हैं।'

राजकुमार में ऐसी जन्मजात प्रतिभा थी कि वे धीरे-धीरे समस्त वर्ण-मालाओं को अच्छी प्रकार जान गये। यद्यपि उनके शिक्षक (गुरु) थे, पर इस संसार में ऐसे पुण्यात्माओं के शिक्षकगण केवल निमित्त होते हैं—

परां प्रतिष्ठां लिपिषु क्रमेण जगाम सर्वासु नरेन्द्रसूनुः।
पुण्यात्मनामत्र तथाविधानां निमित्तमात्रं गुरवो भवन्ति ॥[2]

उन दिनों राजकुमारों के लिये अस्त्र-शस्त्र विद्या का ज्ञान अनिवार्य था, उसमें भी धनुर्विद्या बहुत महत्त्वपूर्ण थी। अतः धनुर्विद्या को अर्जित करने के लिये राजकुमार विक्रमादित्य सभी दिशाओं में अपने धनुष से बाणों को फेंकते थे। बाणों से भरी हुयी दिशाओं को देखकर ऐसा लगता था कि उन्होंने धनुर्धारी अर्जुन के भी तद्विषयक पराक्रम को परास्त कर दिया।[3]

सौन्दर्य का निधान होते हुये भी वे राजकुमार कामवृत्ति के शिकार नहीं हुये। उनमें जन्मजात कवित्व और वक्तृत्व की प्रतिभा थी और सरस्वती ने जैसे उनका वरण कर लिया था। परिणामस्वरूप वे कवित्व-निर्माण एवं वक्तृत्व में अत्यन्त निपुण हो गये।[4] यद्यपि राजकुमार के सौन्दर्य के प्रति राजकुमारियाँ और सुन्दरियाँ आकृष्ट होती थीं, परन्तु वे उपेक्षित होकर निराश एवं क्षुब्ध हो जाती थीं।[5] बाल्यावस्था में ही वह बालक इतना उन्नतात्मा था कि वह तेजस्वियों

१. विक्रमाङ्कदेवचरितम्, ३/१५ २. वही, ३/१७
३. वही, ३/१८ ४. वही, ३/१९ ५. वही, ३/२०–२२।

के अभ्युदय को सह नहीं सकता था। इसीलिये देवता होते हुये भी सूर्य मानों उससे अपनी रक्षा करने के लिये भगवान् विष्णु की शरण (अर्थात् आकाश) में चले गये—

तेजस्विनामुन्नतिमुन्नतात्मा सेहे न बालोऽपि नरेन्द्रसूनुः।
देवोऽपि भास्वाञ्छरणेच्छयेव समाश्रितो विष्णुपदं रराज ॥[1]

कुछ समय के अनन्तर जब राजा 'आहवमल्लदेव' ने यह देखा कि उनका पुत्र (विक्रमादित्य) समग्र शास्त्र और विद्याओं में निपुण होकर संग्राम महोत्सव के लिये विशेष लालायित है, तो उसे युवराज पद पर नियुक्त करने की इच्छा की—

करोमि तावद्युवराजमेनमत्यक्तसाम्राज्यभरस्तनूजम्।
तटद्वयी संश्रयणाद्धधातु धुनीव साधारणतां नृपश्रीः ॥[2]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहने में कोई अनौचित्य नहीं है कि 'विक्रमाङ्कदेवचरित' में चरित-नायक 'विक्रमादित्य' के शैशवचित्रण और उससे सम्बन्धित संयोग वात्सल्य की व्यंजना में कवि ने तत्परता दिखायी है। इतना अवश्य है कि वीररसप्रधान महाकाव्य के नायकभूत विक्रमादित्य की शैशवावस्था में भी शौर्यप्रदर्शन कवि का अभीष्ट है। अतः निःसंकोच रूप से यह कहा जा सकता है कि उक्त शैशव-चित्रण संस्कृत काव्यजगत् में महत्त्वपूर्ण स्थान का भागी है।

---

१. विक्रमाङ्कदेवचरितम्, ३/२३ २. वही, ३/२८

पञ्चम अध्याय

कालिदास के परवर्ती रूपकों में शैशव-चित्रण

- शूद्रक के मृच्छकटिक में शैशव-चित्रण
- हर्षवर्धन के नागानन्द में शैशव-चित्रण
- भवभूति के रूपकों में शैशव-चित्रण

कालिदास के परवर्ती रूपकों में शैशव-चित्रण

मृच्छकटिक में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

शूद्रक का जीवन-वृत्त

महाकवि शूद्रक विक्रमादित्य की भाँति अनेक दन्त-कथाओं से घिरे हैं। मृच्छकटिक के प्रथम अङ्क के तीसरे और चौथे श्लोक से यह ज्ञात होता है कि शूद्रक अत्यन्त सुन्दर, अधिक बलशाली थे और उनकी कवि के रूप में प्रसिद्धि थी। वे ऋग्वेद, सामवेद, गणित, कला, नाट्यशास्त्र एवं गजशास्त्र के ज्ञाता थे। उन्हें सौ वर्ष की आयु प्राप्त हुई थी और वे अन्त में अग्नि में प्रविष्ट हो गये थे। वे युद्ध के प्रेमी, आलस्यरहित, वैदिक विद्वानों में श्रेष्ठ, तपस्वी तथा शत्रुओं के गजों से मल्लयुद्ध करने के लोभी राजा थे।[1] आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार शूद्रक, दण्डी और वराहमिहिर के पूर्ववर्ती थे। अतः शूद्रक का समय ईसा की छठीं शताब्दी में होना चाहिए।[2]

रचना

सम्प्रति शूद्रक की एक रचना 'मृच्छकटिक' प्राप्त है। नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से 'मृच्छकटिक' रूपकभेद प्रकरण के अन्तर्गत आता है। उसमें कुल दस अङ्क है, इसकी कथावस्तु भास के नाटक चारुदत्त से ली गयी है। इसका नायक 'चारुदत्त' तथा नायिका 'वसन्तसेना' है। नाट्य-जगत् में 'मृच्छकटिक' का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है।

मृच्छकटिक

मृच्छकटिक ने अपनी ओर विद्वानों का ध्यान अत्यधिक आकृष्ट किया है। नाट्यशास्त्र के आचार्यों ने अपने अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थों में मृच्छकटिक के अनेक उद्धरणों को उद्धृत किया है। भासकृत 'चारुदत्त' से कथावस्तु लेकर शूद्रक ने अनेक परिवर्तन किये हैं। उनके द्वारा किये गये परिवर्तनों का उद्देश्य प्रकरण को अधिक प्रभावशाली तथा आकर्षक बनाना था। प्रकरण के लक्षणों को दृष्टि में रखकर 'मृच्छकटिक' की रचना करने से वह प्रकरण के एक आदर्श उदाहरण के रूप में प्रस्तुत हुआ है।

---

१. मृच्छकटिकम्, अङ्क प्रथम, श्लोक ३, ४, ५।

२. आचार्य बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५४३।

'मृच्छकटिक' में समाज का एक जीता-जागता चित्र चित्रित है। उसके पात्रों का यदि सही आकलन किया जाय तो, यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें समाज के प्रत्येक वर्ग का प्रतिनिधित्व है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि यथार्थवादी होते हुए भी उसमें आदर्श की भी स्थापना हुई है। नायक 'चारुदत्त' तथा 'वसन्तसेना' के चरित्र उसके उदाहरण हैं।

शूद्रक की भाषा सरल, स्वाभाविक तथा स्पष्ट है। उसमें प्रवाह है तथा वह नाट्यविधान की दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त है। मृच्छकटिक में 'प्राकृत' भाषा के अनेक भेदों का प्रयोग हुआ है। यह भी मृच्छकटिक की एक महती विशेषता है। जहाँ तक शूद्रक की शैली का प्रश्न है, वह सरलता तथा स्वाभाविकता से मण्डित है। उसमें माधुर्य एवं प्रसाद है। शूद्रक के संवाद भी अति रोचक तथा स्वाभाविक हैं। उनसे कथा की गति आसानी से आगे बढ़ती है। किसी प्रकार अवरोध उत्पन्न नहीं होता।

मृच्छकटिक में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

रस एवं अलंकार की दृष्टि से यह प्रकरण अत्युत्तम है। प्रधानभूत 'शृङ्गार' रस के साथ अन्य अप्रधान रसों का भी आकर्षक चित्रण हैं। सामाजिक रूपक की दृष्टि से मृच्छकटिक सदा समादृत रहेगा।

मृच्छकटिक में दो बालकों का उल्लेख हुआ हैं। एक है चारुदत्त का पुत्र 'रोहसेन' एवं दूसरा है वसन्तसेना की आश्रित वेश्या का पुत्र 'बन्धुल'। इन दोनों में भी 'रोहसेन' के दर्शन मृच्छकटिक के छठें अंक में होते हैं। चारुदत्त की दासी रदनिका उसे लेकर आती है। वह पड़ोसी के बच्चे की सोने की गाड़ी से खेल रहा था। उस गाड़ी को ले लेने पर वह (रोहसेन) सोने की ही गाड़ी से खेलने के लिये आग्रह करता है। रदनिका जब उससे कहती है कि आओ बेटे ! गाड़ी से खेलें—

'एहि वत्स ! शकटिकया क्रीडाव:'।[१]

तब वह 'कारुणिक भाव से तुरन्त उत्तर देता है—'रदनिके ! मिट्टी की इस गाड़ी से मुझे क्या ? वही सोने की गाड़ी दो'—

'रदनिके ! किं ममैतया मृत्तिकाशकटिकया। तामेव सौवर्णशकटिकां देहि।'[२]

रोहसेन के उक्त हठ पर दासी रदनिका अत्यन्त दुःखी होती है। उसके दुःख का कारण यही नहीं है कि शिशु रोहसेन उसकी बात नहीं मान रहा है, बल्कि उसे अपने स्वामी चारुदत्त की अर्थाभावजनित परिस्थिति पर दुःख है, जिसके कारण उस छोटे से बच्चे की खिलौने की अभिलाषा को पूर्ण नहीं किया जा सकता। ऐसे सन्दर्भ अत्यन्त कारुणिक होते हैं, जब माता-पिता या अभिभावक

अर्थाभाव के कारण अपने बच्चों की इस प्रकार की माँग को पूरा नहीं कर पाते। बच्चे स्वभावतः खिलौनों के प्रेमी होते हैं। यदि समीपस्थ किसी बच्चे को अच्छे खिलौने के साथ खेलते देखते हैं, तो वे भी उसी तरह के खिलौने को लेने के लिये हठ करते हैं। उन्हें कहाँ पता रहता है कि उनके माता-पिता की आर्थिक स्थिति क्या है? कभी-कभी ऐसा भी होता है कि वे दूसरे बच्चे के मनपसन्द खिलौने को लेकर भाग जाते हैं और माँगने पर रोते-चिल्लाते हैं। खेल के प्रति स्वभावतः आकृष्ट बच्चे (रोहसेन) का खिलौने के प्रति हठ नितान्त स्वाभाविक तथा हृदयावर्जक है।

रदनिका दुःख के साथ लम्बी साँस लेकर रोहसेन से कहती है कि 'पुत्र ! आज हमारे यहाँ सोने का व्यवहार कहाँ है? जब तुम्हारे पिता जी फिर धनी हो जायेंगे, तब सोने की गाड़ी से खेलना'।

'जात। कुतोऽस्माकं स्वर्णव्यवहारः? तातस्य पुनरपि ऋद्धया सुवर्णशकटिकया क्रीडिष्यसि।[1]

सुन्दर और छोटे बच्चों के प्रति प्राणिमात्र का सहज आकर्षण होता है। उक्त आकर्षण माता-पिता की सीमा को लाँघ जाता है। विशेष रूप से वात्सल्य-प्रिय व्यक्ति तो बच्चों का निरतिशय प्रेमी होता है। वात्सल्य से ओत-प्रोत वसन्तसेना रोहसेन को देखकर सहजतः उसे अपना स्नेह देने के लिये लालायित हो जाती है। वह झटिति रदनिका से पूछती है कि 'यह बच्चा किसका है? यद्यपि इसका शरीर अलङ्कारविहीन है तथा चन्द्र के समान मुख वाला यह मेरे हृदय को आनन्दित करता है'—

'रदनिके। कस्य पुनरयं दारकः? अनलंकृतशरीरोऽपि चन्द्रमुख इव आनन्दयति मम हृदयम्।[2]

रदनिका के यह उत्तर देने पर कि 'यह आर्य चारुदत्त का पुत्र रोहसेन है'—

'एष खल्वार्यचारुदत्तस्य पुत्रो रोहसेनो नाम'।[3]

वसन्तसेना का वात्सल्य उसे गोद में लेने के लिये उतावला हो जाता है और वह दोनों हाथों को फैलाकर कहती है—'आओ मेरे बच्चे। मेरे शरीर से लिपट जाओ—

'एहि मे पुत्रक। आलिंग।'[4]

१, मृच्छकटिकम्, षष्ठ अंक, पृष्ठ ३९२। मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन।

२. वही, पृष्ठ ३९२।

३. वही, पृष्ठ ३९३

४. वही, पृष्ठ ३९३

गोद में स्थित उसको देखकर कहती हैं कि 'इसने पिता के ही रूप की नकल की है अर्थात् इसने एकदम पिता का ही रूप पाया है'—

'अनुकृतमनेन पितृरूपम्'[१]

यह सब सुनकर रदनिका कहती है कि 'न केवल रूप ही। मेरा अनुमान है कि (इसने पिता के समान) स्वभाव भी पाया है। आर्य चारुदत्त इससे अपने को बहलाते हैं'—

'न केवलं रूपम्, शीलमपि तर्कयामि। एतेनार्यचारुदत्त आत्मानं विनोदयति।'[२]

वसन्तसेना जब रदनिका से इसके रोने का कारण पूछती है—

'अथ किं निमित्तमेष रोदिति' ?[३]

अर्थात् 'किस कारण से यह रो रहा है' ? तब रदनिका विस्तार से उसके रोने का कारण बताती है—यह पड़ोस के घर वाले के बच्चे की सोने की गाड़ी से खेल रहा था। उस बच्चे ने अपनी गाड़ी ले लिया। तब (इसके द्वारा) फिर उस सोने की गाड़ी माँगने पर मैंने मिट्टी की यह गाड़ी बनाकर इसे दे दी। तभी से यह कह रहा हैं—'रदनिके ! मुझे इस मिट्टी की गाड़ी से क्या ? वही सोने की गाड़ी दो—

'एतेन प्रतिवेशिकगृहपतिदारकस्य सुवर्णशकटिकया क्रीडितम्। तेन च सा नीता। ततः पुनस्तां याचतो मयेयं मृत्तिकाशकटिका कृत्वा दत्ता। ततो भणति 'रदनिके ! किं ममैतया मृत्तिकाशकटिकया ? तामेव सौवर्णशकटिकां देहि-इति।'[४]

यह सुनते ही बसन्तसेना का कोमल हृदय आकुलित तथा द्रवीभूत हो जाता है। धनाभाव के कारण बच्चे रोहसेन की खिलौना विषयक अतृप्त लालसा तथा दुःख उससे देखा नहीं जाता। वह अपनी पीड़ा को इन शब्दों में व्यक्त करती है—

'हा धिक् हा धिक्। अयमपि नाम परसम्पत्त्या सन्तप्यते। भगवन् कृतान्त ! पुष्करपत्रपतितजलबिन्दुसदृशैः क्रीडसि त्वं पुरुषभागधेयैः। जात ! मा रुदिहि ! सौवर्णशकटिकया कीडिष्यसि।'[५]

अर्थात् 'हाय ! हाय ! यह भी परायी सम्पत्ति से दुःखी होता है। भगवन् क्रुद्धदेव ! कमल के पत्ते पर गिरी हुई पानी की बूंदों के समान मनुष्य के भाग्यों से खिलवाड़ करते हो (ऐसा कहकर आँखों में आँसुओं को भरकर) बेटे ! मत रोओ। सोने की गाड़ी से खेलना।'

---

१. मृच्छकटिकम्, षष्ठ अंक, पृष्ठ ३९३। मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन।
२. वही, पृष्ठ, ३९३
३. वही, पृष्ठ, ३९४
४. वही, पृष्ठ, ३९४
५. वही, पृष्ठ, ३९४

उक्त स्थान में रोहसेन के माध्यम से बालमात्र के खिलौने के प्रति अनुरागातिशय तथा उसकी प्राप्ति न होने पर उनकी ग्लानि की अति शोभन व्यंजना हुई है। शिशु का हठमूलक प्रभाव भी व्यंजित होकर सहृदय के हृदय को आवर्जित करता है। अर्थाभाव के कारण बच्चे (रोहसेन) की लालसा की पूर्ति न हो पाने पर वसन्तसेना को महान् दुःख है। वह बच्चे के अन्तराल में बैठकर उसके (रोहसेन के) उस हृदय को परख लेती है, जो पड़ोसी के ही साथी बच्चे के सोने के खिलौने को देखकर लालायित तथा पाकर सन्तुष्ट हुआ था। सम्प्रति सोने के खिलौने को उससे पुनः ले लेने पर आहत हुआ है। यही नहीं, वह बच्चा सोने की गाड़ी से खेलना चाहता है, न कि मिट्टी की गाड़ी से। पर उसका दुर्भाग्य है कि मिट्टी की गाड़ी तो उसे मिल सकती है, रदनिका ने उसकी व्यवस्था भी कर दी, पर सोने की गाड़ी (उसे) कहाँ मिल सकती है? सोने की गाड़ी की व्यवस्था तो न रदनिका कर सकती है और न उसके माता-पिता ही।

वसन्तसेना का हृदय दोनों प्रकार से आहत हो रहा है। एक तो उसके प्रियतम की धनहीनता उसे सताती है और दूसरे धनाभाव के कारण अबोध एवं प्रिय बालक को स्वर्णमय मिट्टी की गाड़ी की अप्राप्ति। दोनों (धनहीनता तथा सोने की गाड़ी का न मिलना) के द्वारा वह मर्माहत हो जाती है। इसीलिए वह रोहसेन को चुप कराती है और उसे सोने की गाड़ी देने का आश्वासन देती है। कवि को इस सन्दर्भ के माध्यम से बालजगत्, अभिभावकजगत् एवं शिशुप्रियजगत् के हृदय की व्यंजना कराने में सफलता मिली है। उसके साथ ही उसे शिशु के वास्तविक स्वभाव के चित्रण में भी सफलता प्राप्त हुई है।

जैसी कि बच्चों की जन्मजात जिज्ञासा होती है, वे प्रत्येक वस्तु अथवा प्राणी को जानना चाहते हैं। इसीलिए जब वे किसी नयी वस्तु या नये प्राणी को देखते हैं, तो अविलम्ब अपने माता-पिता अथवा अभिभावक से उसके (वस्तु या प्राणी के) विषय में प्रश्न पूछते हैं। वसन्तसेना की आकस्मिक उपस्थिति और उसकी अप्रत्याशित सहानुभूति से उसका (रोहसेन का) कौतूहल एवं जिज्ञासा बढ़ जाती है। परिणामतः वह रदनिका से ही पूछता है—'रदनिके! यह (स्त्री) कौन है?' (रदनिके! कैषा?) रदनिका के यह कहने पर कि 'पुत्र यह आर्या तुम्हारी माता है।' ('जात! आर्या ते जननी भवति'।) वह प्रगल्भ एवं चतुर बालक तुरन्त बोल पड़ता है—

'रदनिके! अलीकं त्वं भणसि। यद्यस्माकमार्या जननी, तत्किमर्थमलंकृता।'[२]

---

१. मृच्छकटिकम्, षष्ठ अंक, पृष्ठ ३९४। मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन।
२. वही, पृ० ३९५।

अर्थात्, रदनिके तुम झूठ बोल रही हो। यदि (यह) हमारी माता है, तो किसलिए इतने अलंकार पहनी हैं ?'

यह भी शिशुओं का जन्मजात स्वभाव ही होता है कि वे जब उत्तर से सन्तुष्ट नहीं होते तो झटिति उसका प्रतिकार करते हैं। इस बच्चे (रोहसेन) को भी अच्छी प्रकार ज्ञात है कि उसकी माता अलंकारों से अलंकृत नहीं रहती। इसीलिए वह रदनिका से इस कथन का कि 'यह आर्या तुम्हारी माता है' का प्रतिकार करता है।

छोटे से बच्चे (रोहसेन) के उक्त उत्तर को सुनकर वसन्तसेना भावविभोर हो जाती है। वह कहती है—

'जात ! मुग्धेन मुखेनातिकरुणं मन्त्रयसि। (नाटयेनाभरणान्यवतार्य रुदती; एषेदानीं ते जननी संवृत्ता। तद्गृहाणैतमलंकारम् सौवर्णशकटिकां कारय।'[1]

'पुत्र ! भोले-भाले मुख से अत्यन्त करुणापूर्वक बोल रहे हो। (अभिनय से अलंकारों को उतार कर रोती हुई) लो, (मैं) अब तुम्हारी माता हो गयी। इस अलंकार को ग्रहण करो। इससे सोने की गाड़ी बनवा लेना।'

वसन्तसेना को रोती हुई देखकर रोहसेन पुनः कहता है—

'अपेहि ! न ग्रहिष्यामि, रोदिषि त्वम्।'[2]

'जाओ (मैं आभूषण) नहीं लूँगा, (क्योंकि) तुम रो रही हो।'

वसन्तसेना रोना बन्द करके कहती है—

(अश्रूणि प्रमृज्य) जात ! न रोदिष्यामि। गच्छ क्रीड। जात ! कारय सौवर्णशकटिकाम्।'[3]

'(आँसुओं को पोंछकर) पुत्र ! रोऊँगी नहीं। जाओ, खेलो। बेटा ! सोने की गाड़ी बनवा लेना।'

यद्यपि इस स्थल को छोड़कर सम्पूर्ण मृच्छकटिक में 'शैशव-चित्रण' के लिए अन्य सन्दर्भ नहीं है, पर इस छोटे, किन्तु महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ से महाकवि शूद्रक के शैशव-विज्ञान तथा तद्विषयिणी उनकी सूक्ष्मेक्षिका का सहजतः बोध हो जाता है। इस छोटे से सन्दर्भ में ही महाकवि ने शिशु-स्वभाव, उसकी क्रीड़ा-विषयक सहज प्रवृत्ति एवं खिलौने के प्रति उसके सहज हठ का अच्छी प्रकार प्रकाशन करा दिया। यही नहीं, उसने शिशु-मनोविज्ञान का भी दिग्दर्शन करा दिया। सबसे बड़ी बात तो यह है कि उसने शिशुमात्र के प्रति, प्राणिमात्र के वात्सल्य तथा सहजानुराग को भी दृष्टिगत करते हुए वसन्तसेना के अनुपम वात्सल्यस्नेह को यथार्थतः चित्रित

१. मृच्छकटिकम्, षष्ठ अंक, पृ० ३९५। मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन।
२. वही, पृष्ठ ३९५ ३. वही. पृ० ३९५।

कर दिया। यह महाकवि शूद्रक की ही काव्यप्रतिभा है कि उन्होंने परायी माँ वसन्तसेना के हृदय में भी पुत्रवात्सल्य का सजीव भाव पैदा कर दिया, जिससे वशीभूत होकर उसने अपने आभूषणों को फटे-पुराने कपड़ों की भाँति उतार कर रोहसेन के लिए खिलौना बनाने हेतु दे दिया।

उक्त सन्दर्भ का एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह भी है कि उसी के आधार पर इस सुविख्यात प्रकरण का नाम 'मृच्छकटिक' (मृत् + शकटिक) अर्थात् मिट्टी की गाड़ी रखा गया। मिट्टी की गाड़ी ही है, जिसे रोहसेन किसी भी प्रकार लेने को तैयार नहीं और उसका (रोहसेन का) मिट्टी की गाड़ी न लेने और सोने की गाड़ी लेने के लिए हठविशेष ही है जिसके कारण वात्सल्यमयी वसन्तसेना अपने वात्सल्य प्रेम की रक्षा हेतु बहुमूल्य आभूषणों को सहर्ष दे देती है और ऐसा करके अपने वातसल्य को चरितार्थ करती है।

मृच्छकटिक के १०वें अंक के एक और सन्दर्भ को दृष्टिगत करना आवश्यक है। वह सन्दर्भ भी चारुदत्त के पुत्र रोहसेन से जुड़ा है, जिसमें करुण-वात्सल्य का अच्छा परिपाक हुआ है। उसके साथ शिशुओं की उस प्रवृत्ति का भी सम्यक् उद्घाटन हुआ है, जो माँ-बाप, विशेषकर माँ की दयनीय स्थिति अथवा विपत्ति में दृष्टिगोचर होती है। बच्चों का यह सहज स्वभाव होता है कि वे अबोध होते हुये भी, अपने माता-पिता को, भावावेश में किसी अनर्थकारी कार्य को करने से रोकते हैं। चारुदत्त की धर्मपत्नी धूता को जब चारुदत्त की मृत्यु का समाचार मिलता है तो वह इतनी व्यग्र एवं व्याकुल हो जाती है कि अपने पति के वियोग में स्वयं अपना ही दाह करने का निश्चय कर लेती है। जब वह आत्मदाह हेतु अग्नि (चिता) में प्रवेश करने के लिये चलने को उद्यत होती है, तब धूता का अल्पवयस्क पुत्र रोहसेन अपनी मां के पैरों तथा उसके वस्त्र के आँचल में लिपट जाता है और आँखों में आँसू भरे हुए लोग उसे मना करने लगते हैं। वह (धूता) पति-वियोग की व्यथा से इतनी विह्वल हो जाती है कि अपने प्राणप्रिय पुत्र की भी परवाह नहीं करती और उसे दूर हटाती हुई आगे बढ़ने को उद्यत होती है।[1]

धूता की मनःस्थिति अति विषम है। एक ओर प्राणोपम पति का वियोग और दूसरी ओर प्राणों से भी अधिक प्रिय पुत्र का भावी वियोग। अपने प्रिय बच्चे को पैरों में लिपटा हुआ देखकर उसका पुत्र-वात्सल्य जाग जाता है और फलस्वरूप उसकी आँखों में आँसू आ जाते हैं। वह अपने पुत्र से कहती है—

'जात ! मुञ्च माम्। मा विघ्नं कुरु। विभेम्यार्यपुत्रस्यामंगलाकर्णनात्।'[2]

---

१. मृच्छकटिकम्, दशम अंक, पृष्ठ ७१४। मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन।
२. वही, पृष्ठ, ७१७।

अर्थात् 'बेटे ! छोड़ो मुझे। विघ्न मत करो। आर्यपुत्र (चारुदत्त) के अमंगल (अर्थात् मृत्यु) के समाचार को सुनने से डर रही हूँ।'

यह कहकर उठ जाती है और आंचल खींच कर आग की ओर घूमती है।

जैसा कि सर्वविदित तथ्य है कि बच्चों का अपनी माँ के प्रति अत्यधिक लगाव होता है और उनके हृदय में माता के प्रति अगाध प्रेम होता है। वे छाया की भाँति अपनी माता का अनुगमन करते हैं। माता को अग्नि में प्रवेश करने के समय रोहसेन अपनी माता का साथ नहीं छोड़ना चाहता। उसकी स्थिति बड़ी दयनीय हो जाती है। उसके अधोलिखित कथन में शिशुमात्र के मातृप्रेम का करुण-क्रन्दन है—

'मातरार्ये ! प्रतिपालय माम्। त्वया बिना न शक्नोमि जीवितं धर्तुम्।'[1] 'आर्ये माता ! मेरी प्रतीक्षा करो। तुम्हारे बिना मैं प्राणों को नहीं धारण कर सकता।'

यह कहकर वह माता के पास जाकर फिर उसका आँचल पकड़ लेता है। धूता रदनिका से रोहसेन को पकड़ने का आदेश देती है—'रदनिके अवलम्बस्व दारकम्। यावदहं समीहितं करोमि।' 'रदनिका ! बच्चे को पकड़ लो। जब तक मैं अपना अभीष्ट (अग्नि प्रवेश) करती हूँ।[2]

जब रदनिका भी अपनी स्वामिनी का अनुगमन करने पर उद्यत हो जाती है, तब धूता का पुत्र वात्सल्य एकदम आहत हो जाता है और वह विदूषक से ही बच्चे को पकड़ने के लिये कहती है। रदनिका और विदूषक दोनों के अस्वीकार कर देने पर धूता की विषम स्थिति हो जाती है। वह और उसके पति चारुदत्त दोनों के इस संसार से चले जाने पर एक बच्चा (रोहसेन) ही बचता है। यदि वह भी अपने माता-पिता का अनुगमन करता हुआ, इस संसार में नहीं रहेगा, तो फिर वंशपरम्परा कैसे चलेगी ? ऐसी स्थिति में फिर उनको (माता-पिता आदि को) तिलांजलि कैसे मिलेगी ? इन सभी बातों को ध्यान में रखकर वह अपने प्राणप्रिय पुत्र का आलिंगन कर कहती है—

'कथं प्रत्यादिष्टास्मि द्वाभ्याम् ! जातः त्वमेव पर्यवस्थापयात्मानमस्माकं तिलोकदकदानाय। अतिक्रान्ते किं मनोरथैः ? न खल्वार्यपुत्रस्त्वां पर्यवस्थापयिष्यति।'[3]

अर्थात् (मेरे अनुरोध को) क्या दोनों (रदनिका तथा विदूषक) ने अस्वीकार कर दिया। (बालक का आलिंगन कर) बेटे ! हम लोगों को तिल से

---

१. मृच्छकटिकम्, दशम अंक, पृष्ठ ७१८। मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन।
२. वही, पृष्ठ ७१९। ३. वही, पृ० ७२०

मिली हुई जल की अञ्जलि देने के लिये तुम्हीं अपने आप को बचा लो। समय बीत जाने पर अभिमत कार्य के करने से क्या लाभ ? निश्चय ही आर्यपुत्र (चारुदत्त) भी तुम्हारी देखभाल नहीं करेंगे।

उक्त स्थल में महाकवि शूद्रक ने अपनी अलौकिक प्रतिभा और कल्पना-वैभव के सहारे जैसा चित्र खींचा है, उससे सारा बिम्ब आँखों के सामने नाचने लगता है। धूता की उक्ति में तो मानो पुत्रवात्सल्य का एक कारुणिक स्रोत ही प्रस्फुटित हो गया है। पुत्र पर ही वंशपरम्परा की गतिशीलता निर्भर करती है और अपने पूर्वजो को पितृऋण से भी वही मुक्त कराता है, ये सारी बातें उक्त कथन में निहित हैं। पर उक्त कथन का मात्र व्यावहारिक पक्ष ही नहीं है। उसका जो सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू है, वह यह कि माता धूता अपने दिव्य पुत्र-प्रेम की रक्षा हेतु अपना सर्वस्व न्योछावर कर सकती है एवं अपने प्राणों की आहुति दे सकती है, पर वह अपने आत्मा के प्रतिरूप अपने पुत्र का विनाश कैसे देख सकती है ? उसके अगाध पुत्र-प्रेम का तो अस्तित्व ही उसके बच्चे के साथ जुड़ा है। पुत्र का आलिंगन करने का अभिप्राय भी यही है। सचमुच यह सन्दर्भ नितान्त मर्मस्पर्शी है।

उक्त सभी सन्दर्भों को ध्यान में रखकर विवेचन करने पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यद्यपि 'मृच्छकटिक' में वात्सल्य एवं शैशव चित्रण के प्रसंग अति स्वल्प है परन्तु जो भी तद्विषयक प्रसंग चित्रित है, वह अत्यन्त भव्य एवं हृदयस्पर्शी है। रोहसेन के माध्यम से महाकवि ने शिशु के स्वभाव, उसकी क्रिया-पद्धति तथा शील-स्वभाव का अत्याकर्षक चित्र खीचा है। वसन्तसेना का वात्सल्य प्रेम अपने सजीव रूप में विचित्र है। करुण वात्सल्य का इतना सुन्दर अन्य चित्र दुर्लभ है। धूता के आत्मदाह सम्बन्धी चेष्टा के प्रसंग में पतिप्रेम एवं पुत्रप्रेम का अन्तर्द्वन्द्व भी नितान्त मार्मिक है। विषम परिस्थिति में धूता जिस प्रकार अपने पुत्र रोहसेन की रक्षा के लिये अति व्यग्र है, वह पुत्र वात्सल्य का एक बेजोड़ नमूना है।

हर्षवर्धन के नागानन्द में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

हर्षवर्धन का जीवन-वृत्त

बाणभट्ट के हर्षचरित तथा ह्वेनसांग के यात्रा-वर्णन से हर्षवर्धन का जीवन-वृत्त जानने में सहायता मिलती है। तदनुसार हर्षवर्धन के पिता का नाम प्रभाकर-वर्धन तथा माता का नाम यशोमति था। हर्षवर्धन एक यशस्वी राजा थे। इनका

राज्यकाल ६०६ ई० से ६४७ ई० तक था। हर्षवर्धन एक महान् राजा ही नहीं थे, अपितु वे काव्य-कला और ललितकला के भी महान् ज्ञाता थे। वे गुणग्राही थे और उनकी राजसभा में बाणभट्ट, मयूरभट्ट तथा मातङ्गदिवाकर जैसे महान् कवियों को स्थान मिला था।

रचनायें—

हर्षवर्धन की तीन रचनायें उपलब्ध हैं—(१) रत्नावली (२) प्रियदर्शिका (३) नागानन्द, ये तीनों नाट्यग्रन्थ हैं। नाट्यशास्त्र की दृष्टि से 'नागानन्द' रूपकभेद नाटक के अन्तर्गत आता है और 'प्रियदर्शिका' तथा 'रत्नावली' ये दोनों नाटिका के अन्तर्गत गृहीत होती हैं।

रत्नावली—रत्नावली संस्कृत-साहित्य की प्रथम नाटिका है। नाटिका जगत् में उसका अत्यन्त उत्कृष्ट स्थान है। उसमें चार अंक हैं।

'रत्नावली' में राजा उदयन (नायक) तथा रत्नावली (नायिका) की प्रेमकथा वर्णित है। सिंहलेश्वर की कन्या को मन्त्री किसी प्रकार 'सागरिका' के नाम से वासवदत्ता की देख-रेख में रखवा देता है। वहीं राजा उदयन तथा रत्नावली का परस्पर प्रेम होता है और अन्त में वासवदत्ता की सहायता से राजा के साथ उसका विवाह होता है।

प्रियदर्शिका—प्रियदर्शिका भी चार अंकों की नाटिका है। उसमें वत्स का सेनापति विजयसेन दृढ़वर्मा की पुत्री 'प्रियदर्शिका' को दरबार में ले जाता है और आरण्यकाधिपति विन्ध्यकेतु की कन्या के रूप में वहाँ रखवा देता है। वह (प्रियदर्शिका) वासवदत्ता के संरक्षण में रहती है। आगे प्रियदर्शिका (नायिका) तथा उदयन (नायक) का विवाह होता है।

नागानन्द—'नागानन्द' में कुल पाँच अंक हैं। इसका नायक 'जीमूतवाहन' है। इस नाटक का कथानक किसी बौद्ध कथानक पर आश्रित है। जीमूतवाहन तथा मलयवती का परस्पर अनुराग तथा अन्त में दोनों का विवाह होता है। इस नाटक में जीमूतवाहन के परोपकार गुण का अत्यन्त सुन्दर वर्णन है। गरुड प्रतिदिन एक-एक नाग को बारी-बारी से खाता था। जब शंखचूड नामक नाग की बारी आयी, तो उसकी माता विलख कर रोने लगी। शंखचूड अपनी माता का एकलौता पुत्र था। उसके करुण-क्रन्दन से द्रवीभूत होकर जीमूतवाहन ने शंखचूड के स्थान पर अपने को समर्पित कर दिया। अन्त में गरुड में भी दया-वृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ तथा जीमूतवाहन मुक्त हुआ। इस प्रकार हर्षवर्धन ने इस नाटक को सुखान्त बनाया है।

नागानन्द में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

इस नाटक में नाग शंखचूड की माता तथा जीमूतवाहन के माता-पिता के कारण वात्सल्य का अतीव सुन्दर चित्रण है। उसमें शिशु सम्बन्धी क्रीडा, लीला, चेष्टा तथा उसके स्वरूप आदि का कोई चित्र चित्रित नहीं है। अतः करुण-वात्सल्य का कुछ विवेचन कर लेना प्रासंगिक है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, पक्षिराज गरुड़ के लिये प्रतिदिन एक नाग बारी-बारी से भेजा जाता था। जब शंखचूड नामक नाग की बारी आयी, तब उसकी माता अपने पुत्रवात्सल्य की आधार-शिला का ही आसन्न विनाश देखकर व्यथित हो जाती है। अपने पुत्र के भावी विनाश से उसका हृदय दहल जाता है। वह यह कह कर रोने लगती है—

'हा पुत्रक शंखचूड ! कथं व्यापाद्यमानोऽद्य किल त्वं मया प्रेक्षितव्यः'।[1]

'हा पुत्र ! शंखचूड ! आज मारे जाते हुये तुम्हें मैं कैसे देखूँगी।' नेपथ्य के इस कारुणिक वाक्य को सुनकर जीमूतवाहन का हृदय आशंकित हो जाता है। इसी बीच प्रत्यक्ष रूप से शंखचूड की माता उसकी ठुड्डी को पकड़कर बिलखती हुयी कहती है—"तुम्हारे इस मुखरूपी चन्द्रमा से रहित पाताललोक अवश्य ही आज अन्धकारमय हो जायेगा।"[2] उसकी आँखों में आँसू भरे हैं, वह (माता) अपने प्रिय पुत्र के अंगों का स्पर्श करती हुई करुण-क्रन्दन करती है—

'हा पुत्र ! तुम्हारे सुकुमार शरीर को, जिसे सूर्य की किरणों ने भी नहीं देखा है, निर्दय गरुड कैसे खायेगा ?' यह कह-कहकर अपने पुत्र को गले लगा लेती है।[3]

शंखचूड अपनी माता को 'माता ! बस, बस, विलाप मत करो' कहकर समझाता है और 'वध्य स्थल' पर जाने के लिये तैयार हो जाता है। माता का हृदय नहीं मानता। वह कहती है—"पुत्र, क्षण भर ठहरो, जब तक में तुम्हारे मुख को देख लूं।"[4]

माता का हृदय अपनी सन्तान के प्रति नितान्त वात्सल्यमय होता है। वह सब कुछ सह सकती है, पर अपनी सन्तान का विनाश नहीं देख सकती। यहाँ पर एकलौते बेटे शंखचूड के विनाश को जानकर वह अनाथ तथा विपन्न हो जाती है। उसका हृदय तब फट सा जाता है, जब वह अपने प्रिय पुत्र के हाथों

---

१. नागानन्दम्, चतुर्थ अंक, पृष्ठ १४६। चौखम्भा संस्करण।

२. वही, पृष्ठ १४९ ३. वही, पृष्ठ १४९–५०

४. वही, पृष्ठ १५०

में वधसम्बन्धी दो वस्त्र देखती है, जो उस समय शववस्त्र (कफन) जैसे प्रतीत हो रहे थे। वह (माता) 'हा पुत्र ! यह तो वज्रपात के समान मालूम पड़ता है' कहकर मूर्छित हो जाती है।[१]

माता को 'उसका बेटा (शंखचूड) सैकड़ों मनोरथों के बाद प्राप्त हुआ था। अब वह उसे कैसे देख पायेगी' यह कहकर वह अपने बेटे को गले लगाती है।[२]

शंखचूड के हृदय में भी मातृस्नेह भरा है। उसकी आँखों में भी आँसू हैं। पर वह अपने आँसुओं को रोककर माता को समझाता है। पर माता के आँसू नहीं रुकते। वह विलखती हुई कहती हैं कि 'नागराज ने मेरे इकलौते बेटे को ही वध के लिये क्यों चुना ? मैं सचमुच बहुत अभागिन हूँ।'[३]

यह है पुत्र-प्रेम की महिमा, जो माता की अमूल्य निधि है। अपने पुत्र के लिए तड़पती शंखचूड की माता को देखकर नायक जीमूतवाहन की आँखों में भी आँसू आ जाते हैं और वे उस माता के पुत्र-प्रेम की प्रशस्ति करते हैं—'अहो कैसा पुत्र-प्रेम है।'[४]

माता के पुत्र-प्रेम से किसी भी मायने में शंखचूड का मातृप्रेम कम नहीं है। शंखचूड प्रस्थान के पूर्व माता के सामने घुटने टेककर बैठ जाता है और कहता है –

समुत्पत्स्यामहे मातर्यस्यां यस्यां गतौ वयम्।
तस्यां तस्यां प्रियसुते ! माता भूयास्त्वमेव नः॥[५]

'हे माता ! जिस-जिस योनियों में फिर पैदा होऊँ, पुत्रवत्सले माँ ! उस-उस योनि में तुम्हीं मेरी माता होओ।'

अपने पुत्र के इस प्रकार के भावपूर्ण मर्मस्पर्शी वचनों को सुनकर माता का हृदय पिघल जाता है। वह कहती है—

'क्या यह इसका अन्तिम वचन है ? ऐ पुत्र ! तुम्हें छोड़कर जाने के लिए मेरे पैरों में सामर्थ्य नहीं है। अतएव मैं तुम्हारे साथ यहीं रहूँगी।'[६]

माता अपने प्रिय पुत्र को छोड़कर भला अकेली कैसे रह सकती है ? उक्त स्थल में माता के पुत्र-वात्सल्य का एक निखरा हुआ रूप दिखाई देता है।

जीमूतवाहन ने शंखचूड के बदले, गरुड़ के भक्षणार्थ अपने को प्रस्तुत कर दिया, जिनका ज्ञान अभी तक उनके पिता मलयकेतु, उनकी माता तथा पत्नी को

१. नागानन्दम्, चतुर्थ अंक, पृष्ठ १५२। चौखम्भा संस्करण।
२. वही, पृष्ठ १५३
३. वही, पृष्ठ १५५
४. वही, पृ० १५६।
५. वही, ४/२०।
६ वही, पृष्ठ १६७।

नहीं है। जब बहुत विलम्ब हो जाने पर भी जीमूतवाहन लौटकर नहीं आते, तब उनके माता-पिता तथा पत्नी को बेहद चिन्ता हो जाती है। जब सुनन्द जीमूतवाहन का पता लगाने के लिए जीमूतकेतु के पास पहुँचता है और जीमूतवाहन के बारे में जानकारी प्राप्त करता है, तब जीमूतकेतु आदि का हृदय काँपने लगता है, उन्हें एक झटका सा लगता है।[1]

भारत में शकुन-अपशकुन आदि पर भी विश्वास किया जाता है। पुरुषों के लिए दायीं आँख का फड़कना शुभ तथा बायीं का फड़कना अशुभ माना जाता है। जीमूतकेतु की बायीं आँख फड़कने लगती है और उनका हृदय चिन्तित हो जाता है। वे कहते हैं—

'जीमूतवाहन देर कर रहा है। इसलिए मेरा हृदय व्याकुल हो रहा है।'[2]

माता-पिता अपनी सन्तान के अमंगल की कल्पना से भी डरते हैं। वे प्रत्येक स्थिति में अपनी सन्तान का मंगल ही चाहते हैं। तभी तो जीमूतकेतु अपनी बायीं आँख के फड़कने को व्यर्थ कहकर भगवान् भास्कर से अपने पुत्र के मंगलविधान हेतु निवेदन करते हैं।[3]

इसी बीच शंखचूड रोता-बिलखता वहाँ आता है और जोर-जोर से रोता हुआ कहता है—

'हा! तीनों भवनों में एक मात्र चूडामणि! अब मैं तुम्हें कहाँ देखूँगा? तुम चुरा लिए गये, चुरा लिए गये।'

अभी कुछ क्षण पूर्व मांस-खून से सने एवं गिरे हुए 'चूडामणि' को देखकर वे (जीमूतकेतु) दुःखी हो गये थे, अब शंखचूड के वचनों को सुनकर वे आश्वस्त हो जाते हैं कि इसी (शंखचूड) का वह चूडामणि रहा होगा जो गिरा था। उन्हें कहाँ पता कि शंखचूड के कथन में 'चूडामणि' का अभिप्राय जीमूतवाहन से है। वे (जीमूतकेतु) हर्ष के साथ अपनी पत्नी से कहते हैं कि वह चूडामणि इसी (शंखचूड) का है, जिसे किसी पक्षी ने झपट कर यहाँ गिरा दिया होगा। जीमूतवाहन की माता भी मलयवती का आलिंगन कर अपना हर्ष व्यक्त करतीं हैं और प्रसन्न हो जाती हैं।[4]

जीमूतवाहन के माता-पिता तथा पत्नी को यह कहाँ पता कि वे मिथ्या ही आशान्वित होकर आनन्दित हो रहे हैं। जीमूतकेतु जब शंखचूड से पूछते हैं कि 'वत्स! क्या तुम्हारे चूडामणि को किसी ने चुरा लिया?' इस पर वह कहता हैं कि 'आर्य! मेरा ही नहीं, बल्कि तीनों लोगों का।'[5]

---

१. नागानन्दम्, चतुर्थ अंक, पृष्ठ १८२-१८३। चौखम्भा संस्करण।
२. वही, पृ० १८४।
३. वही, पृ० १८४।
४. वही, पृ० १९१।
५. वही, पृ० १९२।

शोक का समाचार देने वाले की भी बड़ी विषम मनःस्थिति हो जाती है, जब उसे इस प्रकार के समाचार सुनाने का अवसर मिलता है। शंखचूड के सामने भी बड़ी विषम समस्या है कि वह कैसे जीमूतवाहन की विपत्ति का समाचार उनके माता-पिता को सुनाये। जीमूतकेतु के आग्रह पर शंखचूड पूरा वृत्तान्त बताने के सन्दर्भ में कहता है कि 'दया से आर्द्र होकर, किसी विद्याधर ने गरुड को अपना प्राण देकर, मेरे प्राणों की रक्षा की है।[1]

शंखचूड के उक्त कथन को सुनते ही जीमूतकेतु को यह समझते देर नहीं लगती कि उक्त प्रकार का उपकारी पुरुष उनके पुत्र 'जीमूतवाहन' के अतिरिक्त दूसरा कोई हो नहीं सकता। वे शंखचूड से कहते हैं कि 'स्पष्ट कह दो कि वह (परोपकारी) जीमूतवाहन है। हाय! मन्दभागी मैं नष्ट हो गया।' माता के मुख से भी 'हाय पुत्र! तुमने ऐसा क्यों किया?' यह वाक्य निकल पड़ता है। वहाँ उपस्थित जीमूतवाहन की पत्नी मलयवती भी 'मेरी दुश्चिन्ता आज सत्य हो गई' कहकर व्यथित हो जाती है। जीमूतवाहन के माता-पिता तथा पत्नी सभी मूर्छित हो जाते हैं।[2]

शंखचूड के अनुनय-विनय करने पर किसी प्रकार सब लोग होश में आते हैं। माता यह कहकर अपनी बहू (मलयवती) को रोने से रोकती है कि, क्या हम लोग जीमूतबाहन के बिना भी जी सकते हैं! सचेत होकर जीमूतकेतु कहते हैं—

हा वत्स! कथमेतावन्मात्रदर्शनः संवृत्तोऽसि? अहह!!

भक्त्या विदूरविनताननम्रमौलेः
शश्वत्तव प्रणमतश्चरणौ मदीयौ।
चूडामणिनिकषणैर्मसृणोऽप्ययं हि
गाढं विदारयति मे हृदयं कथं नु॥[3]

हा पुत्र! बस तुम्हारा दर्शन अब इतना ही होगा। अब इससे अधिक तुम्हारे दर्शन नहीं हो सकेंगे। (हृदय से लगाकर) अहह!!!

भक्ति के साथ दूर से अपने मुख तथा सिर को नवाकर मेरे दोनों चरणों में तुम सदा प्रणाम करने वाले हो—हमेशा प्रणाम करते हो। तुम्हारा ही यह चूडामणि चिकना होने पर भी (मेरे पैरों को) रगड़ रहा है। यह मेरे हृदय को न जाने किस तरह टूक-टूक किये डालता है।

---

१. नागानन्दम्, ५/११।
२. वही, पृ० १९३-१९४।
३. वही, ५/१३

माता को भी अपने प्रिय पुत्र की 'माता-पिता की सेवा' का स्मरण हो जाता है। वह कहती है—

'हा पुत्र ! जीमूतवाहन ! यस्य ते गुरुजनशुश्रूषां वर्जयित्वा अन्यत् सुखं न रोचते, स कुत्रेदानीं पितरमुज्झित्वा स्वर्गसुखमनुभवितुं गतोऽसि ।'[1]

माता-पिता के उक्त विलाप में करुण-वात्सल्य का अत्यन्त हृदयस्पर्शी चित्रण हुआ है। भवभूति के उत्तररामचरित के करुण (वात्सल्य) की याद दिलाने वाला यह वात्सल्य नितान्त स्पृहणीय तथा भावमय हैं। अपने प्रिय जनों के चिर वियोग की दशा में उसके गुणों की स्मृतियाँ विशेष सजीव हो जाती हैं। वैसी ही स्थिति उपर्युक्त सन्दर्भ में उपस्थित है। माता-पिता अपने प्रिय पुत्र के गुणों का वर्णन करके अपनी विषम व्यथा को व्यक्त कर रहे हैं।

सभी आत्मदाह का निर्णय लेते हैं। शंखचूड इन सभी लोगों को आश्वस्त करता है और गरुड़ के पास जाकर जीमूतवाहन के स्थान पर अपने को समर्पित करने की इच्छा प्रकट करता है। माता-पिता सभी वहाँ पहुँच जाते हैं। वहाँ जीमूतवाहन की विषम स्थिति देखकर सभी दुःखी होते हैं। पिता जीमूतकेतु का निम्नांकित कथन कितना वात्सल्यपूर्ण एवं मार्मिक है—

'पुत्र ! तुमने गरुड़ से इस नाग (शंखचूड) को बचाने के लिए अपने प्राणों को त्यागकर अपने को, माता-पिता को, नयी विवाहिता स्त्री को, इस प्रकार समस्त कुल को नष्ट कर डाला।'[2]

जीमूतकेतु का यह कोप पुत्रवात्सल्य की पीड़ा से उत्पन्न है। जीमूतवाहन को जीवित देखकर जीमूतकेतु फूले नहीं समाते। वे आनन्दित होकर अपनी पत्नी से कहते हैं—

'देवी ! तुम भाग्यवती हो। यह (तुम्हारा) पुत्र जीवित ही नहीं है, बल्कि सामने ही शिष्य की तरह गरुड़ हाथ जोड़कर इसकी सेवा कर रहा है।[3]

यह सुनकर माता पुलकित हो जाती है और कहती है—

'महाराज ! मैं कृतार्थ हो गयी। मैंने अपने जीवित पुत्र का मुख देख लिया।[4] जीमूतकेतु 'पुत्र ! आओ, आओ !! 'मेरा आलिंगन करो।' यह कहकर उसे आलिंगित करना चाहते हैं। उठने का प्रयास करते ही जीमूतवाहन गिरकर बेहोश हो जाते हैं। दोनों माता-पिता तड़पने लगते हैं। दोनों का पुत्र-वात्सल्य तृप्त होकर पुनः आहत हो जाता है। सुख-दुःख का यह अन्तर्द्वन्द्व कितना हृदय-स्पर्शी है। दुःख के बाद सुख तो जीवन का वरदान बन जाता है, पर सुख के बाद

---

१. नागानन्दम्, पृ० १९६। २. वही, ५/२१
३. वही, पृ० २१३ ४. वही, पृष्ठ २१३

दुःख अभिशाप बन जाता है। इस विषम घड़ी में बहूसमेत माता तथा पिता दोनों की स्थिति अत्यन्त शोचनीय बन जाती है। माता जब गरुड़ की भर्त्सना करती है, तब जीमूतवाहन उसे समझाते हैं।

इसी बीच जीमूतवाहन की शारीरिक स्थिति बिगड़ जाती है और वे मरणासन्न स्थिति में आ जाते हैं। माता-पिता दोनों की हालत अत्यन्त दयनीय हो जाती है। माता-पिता, पत्नी सब तड़पने लगते हैं। उस समय माता-पिता की स्थिति और विषम हो जाती है, जब आधी खुली हुई आँखों से पिता को देखता हुआ जीमूतवाहन 'तात ! माता ! यह मेरा अन्तिम प्रणाम है, कहता है। बस माता-पिता दोनों पर वज्रपात हो जाता है। माता, हा पुत्र ! हा वत्स ! हा गुरुजनों के प्रिय ! कहाँ हो, मेरे वचनों का उत्तर दो।' यह कहकर और पिता 'हा पुत्र जीमूतवाहन ! हा प्रेमीजनों के प्रिय ! कहाँ हो ? हा सद्गुणों के निधि कहाँ हो ? मेरे वचनों का उत्तर तो दो ! पुत्र ! तुम्हारे चले जाने पर यह समग्र संसार मेरे लिए सूना (निःसार) हो गया। माता तो बिलखती हुई भगवान् लोकपाल से अपने पुत्र के जीवनदान हेतु भीख माँगने लगती है।[1]

सभी लोग चिता पर चढ़ने की तैयारी कर ही रहे थे कि इतने में देवी गौरी ने कमण्डलु का छींटा देकर जीमूतवाहन को जीवित कर दिया। इस प्रकार जीमूतवाहन के साथ ही सबको एक प्रकार से जीवनदान मिल गया।

यद्यपि इस नाटक में शिशुक्रीड़ा-शिशुलीला एवं शिशुचेष्टा आदि नहीं हैं, परन्तु इसमें पुत्र-वात्सल्य और वह भी करुण वात्सल्य का अतीव मर्मस्पर्शी परिपाक हुआ है। इस दृष्टि से इस नाटक में तत्सम्बन्धी कई सन्दर्भ निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण हो गये हैं।

भवभूति के नाटकों में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

भवभूति का जीवनवृत्त

भवभूति ने अपने नाटकों में अपना जो कुछ परिचय दिया है, उसके अनुसार वे विदर्भ देश (बरार) के पद्मपुर के रहने वाले थे। उनका गोत्र कश्यप था। वे कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा को मानने वाले थे। उनके पिता का नाम नीलकण्ठ, माता का जतुकर्णी और पितामह का भट्टगोपाल था। भवभूति का कुल सदाचार तथा वेदाध्ययन के लिये प्रसिद्ध था। भवभूति ने अपने को 'श्रीकण्ठपदलाञ्छनो भवभूतिर्नाम' लिखा है, अतः कतिपय, टीकाकारों का मत है कि उनका असली नाम 'श्रीकण्ठ' था। उनके गुरु का नाम ज्ञाननिधि माना

---

१. नागानन्दम्, पृष्ठ २२५-२२६।

जाता था, परन्तु अब ठोस प्रमाणों के आधार पर मीमांसक कुमारिल भट्ट को उनका गुरु माना जाता है। 'उम्बेक' भी भवभूति का एक नाम था। भवभूति का विशेष जीवनवृत्त तिमिराच्छन्न है। भवभूति के अनेक आलोचक थे। मालती-माधव की प्रस्तावना में उन्होंने अपने आलोचकों को उत्तर दिया है।[1]

भवभूति का वेद तथा दर्शन सम्बन्धी ज्ञान अपार था। वे उपनिषद् के भी तत्त्ववेत्ता थे। 'उत्तररामचरित' की प्रस्तावना में उन्होंने अपने को 'पदवाक्य-प्रमाणज्ञ' लिखा है, उससे सिद्ध होता है कि वे पद (व्याकरण), वाक्य (मीमांसा) तथा प्रमाण (न्याय) के महान् पण्डित थे। भवभूति में अनुपम काव्यप्रतिभा थी। उनके तीनों नाटक-ग्रन्थों में उनकी काव्य-प्रतिभा के दर्शन होते हैं। उनकी नाट्य-कला भी उत्कृष्ट भूमि में प्रतिष्ठित है। वे गम्भीर प्रकृति के रससिद्ध कवि हैं। करुण रस के तो मानो वे आचार्य ही हैं। उनके विषय में 'कारुण्यं भवभूतिरेव तनुते' यह उक्ति अत्यन्त प्रसिद्ध ही है। वे प्रकृति के, विशेषतः कठोर प्रकृति के, विशेष अनुरागी हैं। कालिदास को जहाँ प्रकृति का कोमल रूप प्रिय है, वहीं भव-भूति को कठोर रूप प्रिय है। आचार्य उपाध्याय के अनुसार भवभूति का समय आठवीं शदी का पूर्वार्द्ध हो सकता है।[2]

रचनायें

भवभूति ने तीन नाटकों की रचना की है। तीनों के नाम हैं–(१) मालती-माधवम् (२) महावीरचरितम् (३) उत्तररामचरितम्।

मालतीमाधव

मालतीमाधव रूपक भेद 'प्रकरण' के अन्तर्गत आता है। उसमें कुल १० अंक हैं। इस प्रकरण की कथावस्तु कविकल्पित है। प्रकरण का नायक माधव तथा नायिका मालती है। इस प्रकरण में, मालती-माधव का प्रेमाख्यान वर्णित होने के कारण प्रेम के, विशेष रूप से उन्मादक प्रेम के, अनेक चित्र चित्रित हैं। इस नाटक का प्रधान रस श्रृंगार है।

महावीरचरित

नाट्यविद्या की दृष्टि से यह ग्रन्थ 'नाटक' के अन्तर्गत आता है। इसमें कुल ७ अंक हैं। इसमें रामकथा का पूर्वार्द्ध बर्णित है। राम-विवाह, रामवनवास, सीता-हरण तथा रामराज्याभिषेक आदि से सम्बद्ध घटनायें नाटकीय ढंग से

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५७६–५७९

२. वही, पृष्ठ ५८२।

चित्रित हैं। इस नाटक में राम को एक महान् वीर के रूप में चित्रित किया गया है। इसीलिये इस नाटक में वीर रस प्रधान है। राम ही इस नाटक के नायक हैं। राम को आदर्श महापुरुष के रूप में चित्रित करने के लिये भवभूति ने राम के अनेक दोषों को भिन्न रूप में दिखाया है। वीररस के परिपाक की दृष्टि से यह नाटक उत्तम है।

उत्तररामचरित

यह भवभूति की सर्वोत्तम नाट्यकृति है। इसमें कुल सात अंक हैं। इस नाटक में रामकथा का उत्तरार्द्ध काव्यात्मक ढंग से गुम्फित है। प्रथम अंक में चित्र-दर्शन तथा सीता को वन में भेजने की, द्वितीय में अश्वमेध यज्ञ तथा शम्बूक के वध आदि की, तृतीय में छाया सीता, राम तथा सीता की व्यथा आदि की; चतुर्थ में कौशल्या का जनक से मिलन, वाल्मीकि आश्रम में सबसे भेंट आदि की, पंचम में अश्वमेधीय घोड़े की रक्षा के प्रसंग में लव-कुश तथा चन्द्रकेतु के युद्ध की, षष्ठ में राम की लव, कुश, चन्द्रकेतु से भेंट की तथा सप्तम में राम-सीता तथा लव-कुश के सुखद मिलन की घटना वर्णित है। रूपक के 'नाटक' नामक भेद के अन्तर्गत परिगणित होने वाला यह नाटक एक उत्कृष्ट कृति के रूप में मान्य है। भवभूति की काव्यकला का उदात्त प्रस्फुटन उत्तररामचरित में ही हुआ है—'उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते।'

भवभूति में काव्य और नाट्य दोनों सम्बन्धी प्रतिभायें हैं। सम्पूर्ण नाटक में करुण के एक से एक भव्य चित्र दृष्टिगोचर होते हैं। भवभूति की दृष्टि में सर्वोत्तम रस करुण है और अन्य रस उसके विवर्त हैं—

'एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्···सलिलमेव हि तत्समस्तम्।'[1] करुण रस का जैसा सजीव चित्रण उत्तरामचरित में हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। नाट्यकला की दृष्टि से भी यह नाटक भवभूति की सर्वश्रेष्ठ कृति है। कवि ने मूल कथावस्तु में चलचित्र, छाया सीता आदि की घटना को जोड़कर उसे (कथावस्तु को) गतिशील बनाया है। प्रकृति तथा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी उत्तररामचरित अत्यन्त श्रेष्ठ है। जहाँ उसमें राम-सीता जैसे आदर्श चरित्र चित्रित हैं, वहीं उसमें कठोर प्रकृति के अनेक चित्र अंकित हैं।

मालती-माधव में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

मालती-माधव में शैशव चित्रण के लिये कोई विशेष स्थल नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि उसके दशम अंक के प्रारम्भ में वात्सल्य-स्नेह का एक सुन्दर

१. डा० कपिलदेव द्विवेदी : उत्तररामचरितम्, तृतीय अंक, श्लोक ४७

और आकर्षक चित्र चित्रित है। पद्मावती नरेश के मन्त्री भूरिवसु की पुत्री मालती के लापता हो जाने पर, बौद्ध-संन्यासिनी (योगिनी) कामन्दकी के दुःख पूर्ण कथन में वात्सल्य रस व्यक्त होता है। मालती की शैशवावस्था कामन्दकी के ही स्नेह-पूर्ण संरक्षण में बीती थी। उसने मालती को माँ का दिव्य प्यार दिया था और मालती ने भी कामन्दकी को अपना मातृप्रेम समर्पित किया था। मालती यदि कामन्दकी के लिये पुत्री जैसी प्यारी थी, तो कामन्दकी भी मालती के लिये सगी माता जैसी ही थी। ऐसी स्थिति में, मालती की अनभीष्ट अनुपस्थिति, कामन्दकी के वात्सल्यमय हृदय पर आघात पहुँचा रही है। दशम अंक में मदयन्तिका और लवङ्गिका के साथ वह उपस्थित होती है और शोक के साथ आँखों में आँसू भर कर कहती है—

'हा वत्से मालति ! मदंकालंकारिणि, क्वासि ? देहि में प्रतिवचनम् ।'

आजन्मनः प्रतिमुहूर्तविशेषरम्या-
व्याचेष्टितानि तव संप्रति तानि तानि ।
चाटूनि चारुमधुराणि च संस्मृतानि
देहं दहन्ति हृदयं च विदारयन्ति ॥[1]

अर्थात्, हाय बेटी मालती ! मेरी गोद को अलंकृत करने वाली ! तुम कहाँ हो। मुझे उत्तर तो दो।'

'जन्म-काल से लेकर, अब तक प्रतिक्षण की वे अतीव मनोहर एवं बारम्बार पहले की अनुभूत तुम्हारी क्रीड़ा आदि चेष्टाऐं तथा मन को मोहने वाली और मधुर तुम्हारी प्यारी-प्यारी बातें—स्मरण होने पर इस समय मेरे शरीर को जला रही हैं और हृदय को विदीर्ण कर रही हैं'।

कामंदकी के स्मृति-पटल पर मालती की शैशवावस्था का चित्र नाचने सा लगता है। उन दिनों का मालती का स्वरूप, उसकी चेष्टायें, लीला, तोतली बोली आदि सभी कुछ अन्य गुरुजनों के साथ मालती के हृदय को आनन्दित करते थे। कोई समय था, जब मालती उक्त रूप में कामन्दकी के हृदयानन्द की कारण थी। आज ठीक उसके विपरीत, वियोगावस्था में वह असहनीय शोक का कारण बन रही है। वह (कामन्दकी) पुत्री ! इस सम्बोधन से सम्बोधित करती हुई विलखकर कहती है—

अनियतरुदितस्मितं विराज-
त्कतिपयकोमलदन्तकुड्मलाग्रम् ।

---

१. भवभूतिग्रन्थावली—पृ० ३१० अंक १० श्लोक १; लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद

वदनकमलकं शिशोः स्मरामि
स्खलदसमञ्जसमुग्धजल्पितं ते ।।[१]

अर्थात् 'बिना किसी कारण के ही हँसने और रोने वाले, कलियों के उस भाग की भाँति कुछ ही कोमल (दूध की) दन्तुलियों से सुशोभित, अधूरे अस्पष्ट अक्षरों से युक्त असंबद्ध और मनोमोहिनी वाणी से युक्त तुम्हारे शैशव के कमल-तुल्य मुख को मैं स्मरण कर रही हूँ।'

कामन्दकी के उक्त कथन में, व्यंजित पीड़ा का अनुभव कर, प्रत्येक सहृदय प्राणी का कोमल हृदय द्रवीभूत हुये बिना नहीं रह सकता। विशेषतः माँ के हृदय को तो वियोग-वात्सल्य की व्यथा से व्यथित होना ही है।

कामन्दकी के हृदय की उक्त प्रकार की व्यथा को जानकर, वहाँ उपस्थित मालती की दो सखियाँ मदयन्तिका तथा लवङ्गिका, अतिशय व्यथित हो जाती हैं और उनके आँखों में दुःख के आँसू भर जाते हैं। उनकी व्यथा अधोलिखित वाणी में व्यक्त हो जाती है—

'हा प्रियसखि, सुप्रसन्नमुखचन्द्रसुन्दरि, क्व गतासि। कस्ते शरीरस्य दैवदुर्विलासपरिणाम एकाकिन्या उपनतः।'[२]

'हाय प्रियसखी! निर्मलमुख रूप चन्द्रमा से मनोहर! तुम कहाँ चली गयी हो? अकेली तुम्हारे शरीर पर दैव के किस दुर्व्यवहार का परिणाम घटित हुआ है?'

दोनों सखियों की स्थिति अत्यन्त विषम हो जाती है। लवंगिका तो इतनी व्यथित हो जाती है कि वह मालती के बिना अपने जीवन का भी परित्याग कर देना चाहती है।[३]

लवंगिका की दयनीय दशा देखकर कामन्दकी का वियोग-विधुर-वात्सल्य इन शब्दों में फूट पड़ता है—

'बेटी मालती! लवंगिका जन्मकाल से तुम्हारी अतिशय प्रेमभाजन रही है, तुम्हारे वियोग में इसके प्राण-पखेरू उड़ने ही वाले हैं। तुम इस पर दया क्यों नहीं कर रही हो'।[४]

लवंगिका की दशा देखकर कामन्दकी की पीड़ा पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है और वह मालती की अनुपस्थिति में भी उसे सम्बोधित करती हुयी कहती है—

---

१. भवभूतिग्रन्थावली, १०/२
२. वही, दशम अंक, पृष्ठ ३७०
३. वही, पृष्ठ ३७०
४. वही, पृष्ठ ३७१

'हे कल्याणी ! तुम कामन्दकी को किस प्रकार त्याग रही हो ? निर्दये । मेरे चीवर के आँचल की गर्मी से ही तुम्हारे शरीर के अंगों की वृद्धि हुयी है।'[1]

कामन्दकी की स्मृति में वे सारे दृश्य सजीव हो जाते हैं जब उसने माता का दूध छोड़ने के बाद उसे पाला-पोषा था और उसको शास्त्र-शिल्प-कला आदि की शिक्षा देकर आगे बढ़ाया था। आज कामन्दकी इस बात से और दुःखी है कि उसके वात्सल्य-स्नेह के बदले मालती ने भी उसको (कामन्दकी को) माता से बढ़कर अपना प्रेम दिया था।[2]

वात्सल्य स्नेह की स्थिति यह है कि वह जिसके प्रति होता है, उसकी सन्तानों में भी वह अपने को जीवित रखना चाहता है और यह लोकविदित तथ्य है कि माता-पिता या अभिभावक जिस प्रकार अपने पुत्र-पुत्री को अपना स्नेह देकर आनन्दित होते हैं, उसी प्रकार पौत्र-पौत्री तथा नाती-नातिन को भी अपना स्नेह देकर अपने वात्सल्य-स्नेह को चरितार्थ करना चाहते हैं। आज तक कामन्दकी मालती के न मिलने के कारण, उसका भावी सन्तान के प्रति स्नेह की जो आत्म-लता अंकुरित हो रही थी वह नैराश्य के तुषार-पात से नष्ट हो रही है। शोक-विह्वल होकर वह (कामन्दकी) कहती है—

'हाय चन्द्रमुखी ! अब तो मैं निराश हो चुकी हूँ। बिना कारण के ही मन्द हास्य से युक्त जिसका मुख अतीव मनोहर हो उठा है, जिसकी शिखा और ललाट के स्थल पर श्वेत सरसों बाँधी गयी है, इस प्रकार से सुन्दर, माता का स्तन-पान करने वाला तथा गोद में सोने वाला तुम्हारा एक पुत्र मैं अपने अभाग्य के कारण नहीं देख पाऊँगी।'[3]

उपर्युक्त सन्दर्भ की यह विशेषता है कि वह संक्षिप्त होते हुए भी शिशु-बिम्ब को बिम्बित करता है और उसके प्रति मातृ-स्नेह को प्रकाशित करता है। मालती के प्रति कामन्दकी का वात्सल्य-स्नेह शकुन्तला के प्रति कण्व के वात्सल्य-पूर्ण स्नेह की याद दिलाता है। निस्सन्देह यह चित्र महाकवि भवभूति के भावपूर्ण हृदय के सर्वथा अनुरूप है। मालती के प्रति कामन्दकी के वात्सल्य में एक अपूर्व गहराई है. अनुपम सच्चाई एवं स्निग्धता है। उनका वात्सल्य स्नेह आदर्श की भित्ति पर प्रतिष्ठित है। मानो वह एक ऐसा मूल-स्रोत है, जिससे वात्सल्य की अनेक धारायें प्रवाहित होकर कोटि-कोटि सरस हृदय को आप्लावित करती है।

---

१. भवभूतिग्रन्थावली, पृष्ठ ३७१,

२. वही, १०/५ ३. वही, १०/६

महावीरचरित में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

इस नाटक में भी शैशव-चित्रण कोई विशेष स्थान नहीं पा सका है। राम-कथा से सम्बद्ध होते हुए भी, उसमें सम्पूर्ण रामकथा निबद्ध नहीं है। नाटक का आरम्भ जनक के धनुष-यज्ञ से होता है, जब यज्ञ की रक्षा के लिए राम और लक्ष्मण विश्वामित्र के द्वारा वहाँ बुलाये गये हैं। राम-लक्ष्मण को लेकर विश्वामित्र जब जनकपुरी में, राजा जनक के समक्ष उपस्थित होते हैं तब राजा जनक उनसे पूछ बैठते हैं—'भगवन् आपके पीछे आने वाले ये दोनों क्षत्रियजन्मा ब्रह्मचारी कौन हैं? जो धर्म का अनुसरण करने वाले तेज और पराक्रम के समान दिखाई पड़ रहे हैं। उत्तरस्वरूप 'ये दोनों दशरथ के पुत्र राम लक्ष्मण हैं'—विश्वामित्र के ऐसा कहने पर दोनों बालक विनयपूर्वक राजा जनक को प्रणाम करते हैं। उन बालकों को देखकर जनक के हृदय में वात्सल्य का उद्रेक हो जाता है और उनके मुँह से सहसा निकल पड़ता है—'सौभाग्यवश आज महाराज दशरथ की संतानों को देख रहा हूँ''—यह कहकर उन दोनों का आलिंगन करते हुए कहते हैं—''रघुवंश को छोड़कर अन्यत्र ऐसे बालक कहाँ हो सकते हैं? भला क्षीर-समुद्र को छोड़कर चन्द्रमा और कौस्तुभ मणि कहीं अन्यत्र भी उत्पन्न हो सकती है?'[१] वे (जनक) दोनों के कल्याण की कामना करते हैं। उनके अनुसार रघुवंश में उत्पन्न बालकों का अतिशय उत्कर्ष स्वयं सिद्ध ही है।[२]

इस प्रसंग का विचारणीय पक्ष यह है कि राम-लक्ष्मण जनक की सन्तान न होते हुए भी, उनके वात्सल्य-स्नेह के परम भाजन बनते हैं। अपनी सन्तान के प्रति माता-पिता के हृदय में निस्सन्देह वात्सल्य विराजमान रहता है, पर उसकी परिधि के अन्तर्गत प्राणिमात्र की सन्तानें आ जाती हैं। जब पशु-पक्षी के भी छोटे बच्चे मनुष्य के वात्सल्य-स्नेह के आलम्बन बनते हैं, तो मानवमात्र के बच्चे वात्सल्य-स्नेह के पात्र क्यों न बनें! राजा जनक का वात्सल्य-स्नेह इतना व्यापक तथा उदार है कि वह राम-लक्ष्मण को भी अपना स्नेह-भाजन बनाकर अपने को कृतार्थ करता है।

जनकपुर में ही एक स्थल और है, जहाँ पुत्र-वात्सल्य के दर्शन होते हैं। वह है धनुष यज्ञ का मण्डप। जब देश के अनेक वीर राजाओं द्वारा धनुष नहीं तोड़ा जा सका तो, जनक का हृदय ग्लानि से भर जाता है। उन्हें जब राम के द्वारा धनुर्भंग का बोध होता है तो वे आनन्दातिरेक के कारण मदोन्मत्त जैसे हो जाते हैं और राम को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

---

१. महावीरचरितम्, १/२३ लोक भारती प्रकाशन

२. वही, पृष्ठ ३९८।

एह्येहि वत्स ! रघुनन्दन ! रामभद्र !
चुम्बामि मूर्धनि चिराय परिष्वजे त्वाम् ।
आरोप्य वा हृदि दिवानिशमुद्वहामि
वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयं ते ।[१]

'हे रघुवंश के आनन्ददाता वत्स ! रामभद्र ! आओ, आओ, तुम्हारे सिर का चुम्बन करूँगा और तुम्हें अपने अंगों में लिपटाऊँगा । अपने हृदय में लगातार दिन-रात चिपकाये रहूँ अथवा तुम्हारे दोनों चरण-कमलों की वन्दना करूँ' (यह समझ में नहीं आता) ।

छोटे बच्चों के प्रति जब मनुष्य का हृदय अतिशय भाव-विभोर हो जाता है, तो वह प्रिय बच्चों के सिर का चुम्बन करता है, उन्हें चिरकाल तक गले लगाता है और अनवरत उन्हें छाती से लगाये रहता है । इस प्रकार के चुम्बन तथा अंग-स्पर्श में उसे असीम सुख की प्राप्ति होती है । आज राजा जनक की भी वही स्थिति है । वे राम को सर्वांशतः अपने वात्सल्य रस से सिंचित कर देना चाहते हैं ।

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि राजा जनक बालक राम के शौर्य तथा असीम बल से इतने प्रभावित हैं कि वे उनके चरणों की वन्दना करने की भी कामना करते हैं । मर्यादा पुरुषोत्तम राम के प्रति भावावेशवश जनक के इस प्रकार का अमर्यादित कथन (चरणवन्दनसम्बन्धी) राम को अच्छा नहीं लगता, फलस्वरूप उनके मुख से सहसा ये शब्द निकल ही पड़ते हैं—

'कथमतिवात्सल्यादतिक्रामति प्रसङ्गः' ।[२]

'अर्थात्, अति स्नेह के कारण औचित्य का अतिक्रमण हो रहा है' । विश्वामित्र भी यह कहकर '(राजन् ! आप गुरुजन हैं, राम तो आपके पुत्रतुल्य हैं) जनक को वैसा करने से रोकते हैं ।'

महावीरचरित में बस उक्त स्थल ही ऐसे हैं, जहाँ वात्सल्य के दर्शन होते हैं, अन्यत्र न तो वात्सल्य कृतार्थ हुआ है और न ही शिशु सम्बन्धी क्रीड़ा-लीला-चेष्टा आदि ही चित्रित हुई है ।

उत्तररामचरित में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

जैसा कि ऊपर कहा गया है, 'उत्तररामचरित' भवभूति का सर्वश्रेष्ठ नाटक है । उस नाटक में रसों की अच्छी व्यंजना हुई है । करुणरस के परिपाक के लिए तो वह एक प्रकार से केन्द्रभूत ही है । जहाँ तक वात्सल्य रस का प्रश्न है, इस नाटक में उसकी अनेक स्थलों में व्यंजना हुई है । सम्पूर्ण नाटक में चन्द्रकेतु, लव

१. महावीरचरितम्, पृ० १/५५ । २. वही, ४/५ ।

और कुश ऐसे बालक पात्र हैं, जिन्हें आलम्बन बनाकर वात्सल्य की अभिव्यक्ति हुई है। लव और कुश को आलम्बित कर यदि कहीं सीता का वात्सल्य प्रादुर्भूत होता है, तो चन्द्रकेतु, लव और कुश तीनों को आश्रित कर राम का वात्सल्य जागता है। सीता यद्यपि युवावस्था को प्राप्त हैं, फिर भी उनके प्रति जनक जैसे भावुक पिता का वात्सल्य-भाव यथावत् बना है। सीता की शैशवावस्था के चित्र को चित्रित कर जनक का वियोग-वात्सल्य स्पन्दित हो जाता है।[1]

वात्सल्य के अतिरिक्त इस नाटक में लव, कुश तथा चन्द्रकेतु के शैशव-स्वभाव, उनकी चेष्टा आदि का भी उल्लेख हुआ है। जनक के द्वारा, सीता की स्मृति में, की गयी उक्ति में, सीता का एक शिशु रूप ही आँखों के सामने नाचने लगता है।

'उत्तररामचरित' के द्वितीय अंक के विष्कम्भक में वन-देवता तथा आत्रेयी के संवाद-प्रसंग में आत्रेयी के द्वारा यह सूचना मिलती है कि, 'वाल्मीकि के आश्रम में दो ऐसे बालक हैं, जो सब प्रकार से अद्भुत हैं और जिन्होंने अभी-अभी माता का दूध छोड़ा है। वे दोनों वाल्मीकि के स्नेह-भाजन होने के साथ, पशु-पक्षियों के भी स्नेह पात्र बन गये हैं। उन दोनों का नाम 'लव' और 'कुश' है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्हें मन्त्रसमेत जृम्भक अस्त्र जन्म से सिद्ध है। आत्रेयी ने यह भी बताया कि दोनों बालक धायी-कर्म द्वारा पालित और पोषित हैं। मुण्डन के बाद उन दोनों ने वेदों के अतिरिक्त तीनों (आन्वीक्षिकी, वार्ता तथा दण्डनीति) विद्याओं का सावधानी से अध्ययन कर लिया है। ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय-विधि से उनका उपनयन संस्कार सम्पन्न हुआ है। संस्कार के अनन्तर उन्होंने तीनों वेदों का अध्ययन कर लिया है। सचमुच उन दोनों बालकों में अद्भुत प्रतिभा है[2] जिसके कारण मन्द बुद्धि वाले विद्यार्थियों का अध्ययन बाधित होता है।'[3]

उत्तररामचरित के तृतीय अंक में मुरला और तमसा के संवाद के सन्दर्भ में तमसा के द्वारा यह सूचना भी मिलती है कि जब आपन्नसत्त्वा सीता को छोड़ कर लक्ष्मण वापस चले गये तो, प्रसवपीड़ा से पीड़ित होकर सीता गंगा में कूद पड़ी। वहीं दो बालकों का जन्म हुआ, जिन्हें दूध छूटने के पश्चात् गंगा देवी ने वाल्मीकि को सौंप दिया।

---

१. डॉ० शिवबालक द्विवेदी : महाकवि भवभूति के नाटकों में ध्वनितत्त्व, पृ० १४३

२. भवभूति ग्रन्थावली : पृष्ठ ३६

३. वही, पृ० ३६ तथा २/४।

उक्त सूचनाओं से लव और कुश का शैशव-कालीन कुछ वृत्तान्त ज्ञात होता है। उनके जन्म आदि का वास्तविक बिम्ब नाटक के सप्तम अंक में उपलब्ध होता है, जब वाल्मीकि-आश्रम के समीप, गंगा के तट पर, वाल्मीकि की कृति का अप्सराओं द्वारा अभिनय होता है। उस अभिनय को समस्त प्रजा के साथ राम भी देखते हैं।

नाटकाभिनय के प्रारम्भ में, नेपथ्य में, लक्ष्मण द्वारा जंगल में छोड़ी गयी प्रसवपीडा से पीडित होकर सीता के गंगा में प्रवेश की सूचना मिलती है।[1] वहीं सीता दो बच्चों को जन्म देती हैं। दो देवियाँ उन्हें रघुवंश के धारक दो पुत्ररत्नों को जन्म देने के कारण इन शब्दों में बधाई देती हैं—

समाश्वसिहि कल्याणि ! दिष्ट्या वैदेहि ! वर्धसे।
अन्तर्जले प्रसूतासि रघुवंशधरौ सुतौ ॥[2]

पुत्र जन्म के अवसर पर माता के साथ पिता भी नितान्त आनन्दित होता है। परन्तु सीता का दुर्भाग्य है कि बच्चों के पिता (राम) उपस्थित नहीं हैं। आनन्द की घड़ी में सीता अपने पति की अनुपस्थिति से अत्यन्त पीड़ित होकर, 'हाय आर्यपुत्र' (हा ! आर्यपुत्र) कहकर रुक जाती हैं। वहीं सीता की माता पृथिवी उपस्थित होती हैं।

विपत्ति की घड़ी में अपने प्रिय जन को देखकर प्राणी अति भावुक हो जाता है। वही स्थिति सीता और पृथ्वी की हो गयी है। सीता 'माता ! तुमने मुझे ऐसी दशा में देखा।' यह कहकर तथा पृथ्वी 'पुत्री, वत्से सीते ! आओ' यह कह कर भावविह्वल हो जाती हैं और दोनों एक दूसरे का आलिंगन कर मूर्छित हो जाती हैं।[3]

यहाँ दोनों के मिलन में एक अनुपम भाव की व्यंजना होती है, जिसे जानकर राम के मुख से निकल पड़ता है कि 'यह सौभाग्य की बात है कि माता-पुत्री का मिलन हो रहा है, परन्तु दूसरी ओर अत्यन्त कारुणिक दृश्य है।'

सारे संसार को धारण करने वाली माता पृथिवी के संतान-स्नेह और पुत्री सीता के मातृप्रेम को देखकर भागीरथी से रहा नहीं जाता और वे अपने भावों को इन शब्दों में व्यक्त करती हैं—

'अत्रभवती विश्वम्भरा व्यथत इति जितमपत्यस्नेहेन। सर्वसाधारणो ह्येष मनसो मूढग्रन्थिरान्तरश्चेतनावतामुपप्लवः संसारतन्तुः। सखि भूतधात्रि ! वत्से वैदेहि ! समाश्वसिहि।'[4]

---

१. डॉ० शिवबालकद्विवेदी द्वारा सम्पादित उत्तररामचरितम्, सप्तम अंक, पृ० ४६५।
२. वही, ७/३ ३. वही, सप्तम अंक, पृष्ठ ४६९। ४. वही, पृष्ठ ४६९.

'सारे संसार को धारण करने वाली पूजनीया पृथ्वी भी दुःखित हो रही है, इस कारण से सन्तान के स्नेह ने जीत लिया। अथवा यह (सन्तानप्रेम) सभी में समान रूप से रहने वाला मन का मोह-बन्धन रूप प्राणियों का आन्तरिक चांचल्य हेतु और संसार का तन्तु स्वरूप है। सखि वसुन्धरे ! पुत्रि सीते ! आश्वस्त होवो।'

सचमुच सन्तान का स्नेह संसार में अमूल्य वस्तु होता है और वही एक ऐसा धागा है, जो प्राणियों को ममता के बन्धन में बाँध देता है। भागीरथी के आश्वासन देने पर पृथिवी का पुत्रिवात्सल्य उद्वेलित हो जाता है और उनके मन की व्यथा इन शब्दों में व्यक्त हो जाती है। वे भागीरथी को सम्बोधित कर कहती हैं –

'देवि ! सीता को उत्पन्न कर कैसे धैर्य धारण करूँ' आगे फिर कहती हैं—

'सोढश्चिरं राक्षसमध्यवासस्त्यागो द्वितीयस्तु सुदुःसहोऽस्याः।'[२]

'इस (सीता) का बहुत समय तक राक्षसों के मध्य रहना तो सहन कर लिया। पर पति के द्वारा किया गया यह दूसरा परित्याग तो अत्यन्त दुःसह हो रहा है।

माता का अपनी पुत्री, चाहे वह कुमारी हो या विवाहिता, के प्रति वात्सल्य-स्नेह आजीवन बना रहता है। विवाहित होने पर पुत्री के पति (अर्थात् जामाता) द्वारा पुत्री का परित्याग या उपेक्षा उसके लिये असह्य हो जाती है। उक्त सन्दर्भ एक ऐसे कारुणिक वात्सल्य को बिम्बित कर रहा है, जिससे कोई भी प्राणी विह्वल हो सकता है।

अपनी विवाहित कन्या को ससुराल में जब कोई कष्ट देता है तो उस पर कन्या के माँ-बाप को अपार कष्ट और क्रोध होता है। माता के उस कष्ट और क्रोध में भी पुत्री-वात्सल्य ही कारण है। जब सीता 'हाय आर्य पुत्र ! क्या आप मेरा स्मरण कर रहे हैं' ? इस प्रकार कहती हैं, तब क्रुद्ध होकर पृथिवी कहती है—

'आह ! कस्तवार्यपुत्रः ? ओह ! तुम्हारा कौन आर्यपुत्र है।'[१]

पृथिवी के वात्सल्य-स्नेह-जनित कोप के औचित्य को वही माँ समझ सकती है, जो उनकी जैसी स्थिति में पड़ी हो।

इतने दिनों के बाद अपनी माँ को पाकर सीता रोती हुयी हाथ जोड़कर जब यह कहती हैं—'माता मुझे अपने अंगों में बिलीन कर लो। गंगा तुरन्त उत्तर

---

१. डॉ० शिवबालक द्विवेदी द्वारा सम्पादित उत्तररामचरितम्, सप्तम् अंक ७/४।
१. वही, पृष्ठ ४७२

देती हैं—'वत्से। क्या कह रही हो, तुम हजारों वर्ष तक जीती रहो।' माँ पृथिवी का संतान-वात्सल्य तो इतनी पराकाष्ठा को प्राप्त है कि उन्हें अपने दौहित्रों (नातियों) लव तथा कुश के लालन-पालन की चिन्ता सता रही है और सीता से कहती हैं कि 'बेटी ! तुम्हें अपने पुत्रों की देखरेख करनी चाहिए।' सीता का व्यथित वात्सल्य इन शब्दों में फूट पड़ता है—'इन अनाथ बालकों से क्या ?' रंग शाला में उपस्थित राम 'हृदय ! तू वज्र हैं'[1] यह कह कर व्यथित हो जाते हैं, पर गंगा सीता के कथन पर आपत्ति करती हुयी कहती है—'बेटी ! पुत्रों के रक्षक (पिता राम) के होते हुये भी तुम उन्हें अनाथ क्यों कह रही हो'। इस पर अभाग्य से आहत सीता से रहा नहीं जाता और उनके मुख से शब्द निकल ही पड़ते हैं—

'कीदृशं मे अभाग्यायाः सनाथत्वम्' ? 'मुझ अभागिन की सनाथता कैसी ?'[2]

इस पूरे प्रकरण में अति मर्मस्पर्शी भावों को व्यंजना हुयी है। एक ओर माता का सन्तान-वात्सल्य दूसरी ओर पुत्री का मातृप्रेम सजीव हो गया है। भाव स्रष्टा महाकवि भवभूति के अतिरिक्त कोई अन्य कवि इस प्रकार के भाव का बिम्ब खड़ा नहीं कर सकता।

माता, एक ओर अपनी सन्तान का, स्नेहसंवलित होकर, लालन-पालन करती है और दूसरी ओर अहर्निश उसके समुज्ज्वल भविष्य तथा हित की चिन्ता भी करती है। सीता रघुवंश की कुलवधू हैं। उन्हें चिन्ता है कि उनके दोनों बच्चे (लव तथा कुश) क्षत्रियोचित संस्कार से संस्कृत होकर अपने वंश की मर्यादा की रक्षा करें और उसकी गौरवशाली परम्परा को आगे बढ़ावें। दोनों देवियों के यह कहने पर कि 'बेटी ! प्रसन्न हो जाओ, प्रसन्न हो जाओ। इस समय तुम्हारे दोनों पुत्र राम के समान हो गये हैं।' सीता कहती हैं—'भगवती ! इन दोनों का क्षत्रियोचित संस्कार कौन करायेगा ?' इस पर गंगा आश्वस्त करती हुई कहती हैं कि 'बेटी तुम क्यों चिन्ता करती हो।' इन दोनों बालकों को दूध छोड़ने के बाद मैं वाल्मीकि को सौंप दूँगी।'[3]

लव-कुश को अपना ही पुत्र समझ कर राम का हृदय स्नेहचंचल हो जाता है और वे अत्यधिक मोहयुक्त हो जाते हैं।[4]

अत्यधिक पीड़ा से पीड़ित सीता के, माता पृथिवी से अपने अंगों में विलीन कर लेने हेतु, आग्रह करने पर पृथिवी उन्हें आदेश देती हैं—

---

१. डॉ० शिवबालक द्विवेदी द्वारा सम्पादित उत्तररामचरितम्, पृष्ठ ४७५

२. वही, पृष्ठ ४७६

३. वही, पृष्ठ ४८०-८१

४. वही, पृष्ठ ४८३

'मन्नियोगतः स्तन्यत्यागं यावत्पुत्रयोरवेक्षस्व। परेण तु यथा रोचिष्यते तथा करिष्यामि।'[1]

मेरे आदेशानुसार दूध छोड़ने तक तुम इन दोनों पुत्रों की देख-भाल करो। बाद में मुझे जैसा अच्छा लगेगा, वैसा प्रबन्ध कर दूँगी।

अभिनय का प्रकरण समाप्त होता है। गर्भाङ्कभूत इस अभिनय में सीता-परित्याग से लेकर कुश-लव के जन्म तक की कथा अत्यन्त हृदयावर्जक ढंग से प्रदर्शित की गयी है। इसके द्वारा द्वितीय अंक के विष्कम्भक में आत्रेयी द्वारा लव तथा कुश के विषय में दी गयी सूचना[2] तथा तृतीय अंक में तमसा द्वारा लव-कुश के जन्म तथा दूध छूटने के बाद उन्हें बाल्मीकि के आश्रम में सौंपने की घटना की सूचना का अभिनय द्वारा पूर्णतः प्रकाशन हो जाता है। महाकवि भवभूति के द्वारा परिकल्पित इस गर्भाङ्क की योजना अत्यन्त सार्थक तथा उपयोगी है।

तृतीय अंक में सीता जब अपने पुत्रकृतक (कृत्रिम पुत्र) हस्तिशावक को देखती हैं, तब उन्हें अपने प्रिय पुत्रों लव एवं कुश की याद आ जाती है। सीता तमसा से इन शब्दों में पूछती हैं—

'भगवति तमसे! अयं तावदीदृशो जातः। तौ पुनर्न जानाम्येतावता कालेन कुशलवौ कीदृशौ संवृत्ताविति।'[3]

'भगवति! तमसे! यह (हस्तिशावक) ऐसा हो गया हैं। पर मुझे यह पता नहीं कि वे दोनों कुश-लव कैसे हो गये होंगे।' तमसा के यह कहने पर कि जैसा यह (करिशावक) हैं, वैसे वे भी हो गये होंगे।' सीता अत्यन्त दुःखी हो जाती हैं और कहती हैं—

'ईदृश्यस्मि मन्दभागिनी, यस्या न केवलमार्यपुत्र-विरहः, पुत्र-विरहोऽपि।'[4]

'मैं ऐसी मन्द भाग्यवाली हूँ, जिसे न केवल आर्यपुत्र (पति) का ही वियोग हैं, अपितु पुत्रों का भी वियोग है'।

विवाहिता स्त्री एक ऐसी धुरी होती है, जिससे उसका पति और सन्तान दोनों बँधते हैं। वह यदि अपने पति के प्रति श्रद्धामय प्रेम रखती है तो अपनी सन्तान के प्रति वात्सल्यमय स्नेह भी रखती है। उसके हृदय का चरम तोष एवं शान्ति तो तभी होती है, जब उसका पति भी उसकी सन्तानों को अपना वात्सल्य दे सके और अपनी सन्तानों का ममतामय प्रेम प्राप्त कर सके। नारियों (माताओं)

---

१ डॉ० शिवबालक द्विवेदी द्वारा सम्पादित उत्तररामचरितम्, पृष्ठ ४८४

२. भवभूतिग्रन्थावली, पृष्ठ ३६

३. डॉ० द्विवेदी सम्पादित उ० च०, तृ० अंक पृ० २०१ ४. वही पृ० २१०

की उक्त स्थिति की भाजन सीता भी हैं। उन्हें इसकी मार्मिक वेदना है कि उनके पति राम को अपने बच्चों के प्यारे मुखों को चूमने का भी अवसर प्राप्त न हो सका। अधोलिखित कथन में व्यक्त उनकी वेदना द्रष्टव्य है—

'सीता—किं वा मया प्रसूतया? येनैतादृशं मम पुत्रकयोरीषद्विरलधवलदशन-कुडमलोज्ज्वलमनुबद्धमुग्धकाकलीविहसितं नित्योज्ज्वलं मुखपुण्डरीकयुगलं न परि-चुम्बितमार्यपुत्रेण।'[1]

'सीता—मेरे द्वारा पुत्रों को जन्म देने से क्या लाभ? जिससे कि मेरे दोनों पुत्रों के कुछ विरल, सफेद तथा पुष्प की कलियों के समान दाँतों से उज्ज्वल निरन्तर सम्बन्ध मनोहर अस्पष्ट मधुर शब्द और हास्य से युक्त नित्य उज्ज्वल श्वेत कमल सदृश मुखों को आर्यपुत्र ने नहीं चूमा।'

सीता के उक्त कथन में उनके दोनों शिशुओं का स्पष्ट एवं आनन्ददायी स्वरूप सजीव होकर आँखों के सामने नाचने लगता है। शिशुस्वरूप को बिम्बित करने तथा स्नेह-वात्सल्य को चित्रित करने के लिए उपर्युक्त स्थल नितान्त वांछनीय है।

सीता का अन्तःकरण अपने ही प्रतिरूप दोनों बच्चों (कुश-लव) की मधुर स्मृति तथा अपने प्राणसम प्रिय आर्यपुत्र (पति) राम की उपस्थिति से अतिशय चंचल तथा भावाविष्ट हो जाता है, अपनी स्थिति को वे निम्नांकित शब्दों में व्यक्त करती हैं—

'भगवति तमसे! एतेनापत्यसंस्मरणेनोच्छ्वसितप्रस्नुतस्तनी इदानीं वत्सयोः पितुः सन्निधानेन क्षणमात्रं संसारिणी संवृत्तास्मि।'[2]

'भगवती तमसे! संतानों के इस संस्मरण से काँपते हुए मेरे पयोधरों से दूध बहने लगा है और इस समय बच्चों के पिता (राम) की उपस्थिति से कुछ समय के लिए मैं संसारिणी हो गयी हूँ।'

उक्त स्थल में अपत्यस्नेह मुखरित होकर माँ के स्तनों से छलकते हुए दूध में प्रवाहित हो रहा है। वात्सल्यभाव से ओत-प्रोत सीता को देखकर वात्सल्य-रहस्य की मर्मज्ञा तमसा अपत्य की महिमा का बखान करती हुई कहती हैं—

'किमत्रोच्यते? प्रसवः खलु प्रकृष्टपर्यन्तः स्नेहस्य। परं चैतदन्योन्यसंश्लेषणं पित्रोः।'[3]

---

१. डा० द्विवेदी : उत्तररामचरितम्, तृतीय अंक, पृ० २१०।

२. वही, पृ० २१०। ३. वही, पृ० २११।

'इस विषय में क्या कहना ? सन्तान स्नेह की पराकाष्ठा है और माता-पिता के परस्पर सम्बन्ध का अनुबन्ध (कड़ी) है।'

सन्तान में स्नेह की पराकाष्ठा है। अर्थात् स्नेह के वास्तविक रूप की परिणति सन्तान में होती है। सन्तान के प्रति जो स्नेह होता है, वह इतना प्रगाढ़ होता है कि उसके आगे स्नेह की कोई गति नहीं रह जाती, क्योंकि सन्तान एक प्रकार से स्नेह का अन्तिम गन्तव्य स्थान है अर्थात् सन्तान जैसा संसार में कोई दूसरा स्नेह भाजन नहीं हो सकता। तमसा के ही शब्दों में सन्तान की परिभाषा कितनी यथार्थ एवं सर्वग्राह्य है—

अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात्।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति पठ्यते ॥[१]

'पति और पत्नी के हृदयरूपी वस्तु के प्रेम के आश्रय से यह एक आनन्द की गाँठ 'सन्तान' इस नाम से पुकारी जाती है।'

सचमुच सन्तान की यह परिभाषा साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ ही है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि नाटक के चतुर्थ अंक में राजा जनक अपनी पुत्री की शैशवावस्था के चित्र का स्मरण कर अत्यन्त दुःखी होते हैं। उनका करुणवात्सल्य जैसे फूट-फूटकर अत्यन्त बिलखने लगता है। राग-द्वेष से रहित वीतरागी महर्षि कण्व की भाँति निष्काम कर्मयोगी जनक का भी हृदय करुण वात्सल्य की वेदना से नितान्त आहत हो जाता है। चतुर्थ अंक में वाल्मीकि आश्रम में वसिष्ठ, अरुन्धती, राम की मातायें और जनक अतिथि के रूप में पधारे हैं, ऐसी सूचना वाल्मीकि के शिष्य सौधातकि और दण्डायन के वार्तालाप से मिलती है। सीता के शोक से सन्तप्त राजर्षि जनक आश्रम के बाहर एक वृक्ष के नीचे बैठे हैं। पुत्री सीता के वियोग से उनका पितृहृदय अत्यन्त व्यग्र है। 'हा पुत्रि !' कहकर उनकी व्यग्रता निम्नांकित शब्दों के माध्यम से प्रकाशित की जाती है—

'अकारण ही हँसने और रोने वाले कोमल कलिकाओं के सदृश विरल दाँतों से सुशोभित तथा तुतलाते हुए बिना किसी क्रम के मनोहर वचन बोलने वाले शैशवावस्था के तुम्हारे कमलतुल्य मुख का स्मरण कर रहा हूँ।'[२]

जनक को अपनी पुत्री सीता का शैशव रूप याद आ रहा है, जिससे वे व्यथित हैं। 'बच्चे अकारण ही हँसते और रोते हैं, कोमल कलिका के समान उनके विरले-विरले दाँत होते हैं, बिना किसी क्रम के वे तोतली बोली बोलते हैं।' उक्त श्लोक में सीता के ऐसे ही शिशुरूप का बहुत ही स्वाभाविक चित्र चित्रित है।

---

१. डा० द्विवेदी : उत्तररामचरितम्, ३/१७।
२. वही, ४/४

कौशल्या को अपनी पुत्रवधू सीता की याद आती है और वे अपनी व्यथा को इस प्रकार व्यक्त करती हैं—

'हा वत्से जानकि ! कुत्रासि ? स्मरामि ते नवविवाहलक्ष्मीपरिग्रहैकमङ्गलं संफुल्लमुग्धमुखपुण्डरीकमारोहत्कौमुदीचन्द्रसुन्दरम् । एहि मे पुनरपि जाते ! उद्योतयोत्सङ्गम् । सर्वदा महाराज एवं भणति —एषा रघुकुलमहत्ताराणां वधूरस्माकं तु जनकसुता दुहितैव ।'[1]

'हाय पुत्रि सीते ! तुम कहाँ हो ? नूतन विवाह की शोभा को धारण करने से अद्वितीय मङ्गलयुक्त, चन्द्रिका में प्रकाशमान् चन्द्र की तरह सुन्दर तुम्हारे खिले हुये और मनोहर मुखकमल को स्मरण कर रही हूँ । पुत्रि ! आओ बैठकर मेरी गोद को पुनः प्रकाशित करो । महाराज हमेशा ऐसा कहा करते थे कि यह सीता रघुकुल के माननीय पुरुषों की (इक्ष्वाकु, सूर्य आदि की) पुत्रवधू है, परन्तु हमारी तो पुत्री ही है ।'

सीता को गोद में बैठाकर अपने को कृतार्थ करने की कौसल्या की इच्छा नितान्त वात्सल्यमयी है । उससे सीता के प्रति उनका अद्वितीय स्नेह प्रकाशित होता है । यद्यपि कौसल्या तथा दशरथ दोनों सीता के क्रमशः सास तथा ससुर हैं, परन्तु दोनों सीता को पुत्रीवत् ही मानते हैं और दोनों का उनके प्रति वात्सल्यमय स्नेह ही है । कौसल्या की उक्ति में वियोग-वात्सल्य का अनुपम चित्र अंकित है ।

अब तक सीता जैसी युवती कुलवधू के प्रति वात्सल्य-स्नेह की परख की गयी । अब थोड़ा आश्रम में उपस्थित बालक लव-कुश के प्रति कौसल्या आदि के स्नेह का आकलन अपेक्षित है ।

जनक आदि शिष्ट जनों के आगमन से वाल्मीकि-आश्रम में अनध्याय हो जाता है । फलस्वरूप समस्त ब्रह्मचारी बच्चे बाहर निकल कर खेलते हैं । उन सभी बच्चों में कौसल्या की दृष्टि एक ऐसे बालक पर पड़ती है, जिसमें उन्हें राम का प्रतिरूप दिखायी देता है । उसमें राम की बाल्यशोभा से युक्त भोलापन है । उसके अंग भी शिशु राम जैसे ही दृष्टिगोचर हो रहे हैं । वे पूछ बैठती हैं कि 'यह कौन बालक है, जो हमारे नेत्रों को शीतल कर रहा है ?

'दारकोऽस्माकं लोचने शीतलयति ।'[2]

वहाँ उपस्थित अरुन्धती का भी वात्सल्य-स्नेह जाग जाता है । उन्हें कौसल्या के वचन अत्यन्त शीतल लगते हैं । पर उन्हें भी यह पता नहीं चलता

---

१. उत्तररामचरितम्, चतुर्थ अंक, पृ० ३०९-३१०

२. वही, पृष्ठ ३१५

कि उन बालकों में लव और कुश कौन हैं ?[१] वे स्पष्ट रूप से अपने भाव को व्यक्त ही कर देती हैं—

पुनरपि शिशुर्भूतो वत्सः स मे रघुनन्दनो
झटिति कुरुते दृष्टः कोऽयं दृशोरमृताञ्जनम् ॥[२]

'नीलकमल की पंखुड़ियों के समान चिकने तथा श्यामल वर्ण वाले काकपक्ष से सुशोभित तथा शोभामयी अपनी शारीरिक कान्ति से ब्रह्मचारियों की मण्डली को सुशोभित करता हुआ यह बालक कौन है जो बाल्यावस्था में विद्यमान वात्सल्य भाजन मेरे राम के समान दिखायी दे रहा है और मेरे नेत्रों में अमृतमय अंजन का लेप सा कर रहा है ?'

शैशवावस्था में स्थित शिशु राम कौसल्या तथा अरुन्धती आदि सभी को आनन्दित कर चुके हैं। आज इतने दिनों के बाद उसी शिशु राम के प्रतिबिम्ब भूत 'लव' को देखकर दोनों का प्रकटित वात्सल्य-स्नेह निश्चित ही स्पृहणीय है। इतना ही नहीं, अरुन्धती की उक्ति में श्यामल काक पक्षधारी अत्यन्त सुन्दर बालक का रूप चित्रित है, जो सर्वतः आनन्दकर है।

अब जनक की दृष्टि में बाल ब्रह्मचारी लव का रमणीय रूप द्रष्टव्य है। वे बालक लव के स्वरूप का चित्रांकन इन शब्दों में करते हैं—

चूडाचुम्बितकङ्कपत्रमभितस्तूणीद्वयं पृष्ठतो
भस्मस्तोकपवित्रलाञ्छनमुरो धत्ते त्वचं रौरवीम्।
मौर्व्या मेखलया नियन्त्रितमधोवासश्च माञ्जिष्ठकं
पाणौ कार्मुकमक्षसूत्रवलयं दण्डोऽपरः पैप्पलः ॥[३]

'पीठ पर दोनों ओर चोटी को छूने वाले कङ्कपत्र युक्त दो तरकशों को, थोड़ी सी भस्म से पवित्र चिह्न वाले वक्षःस्थल को और रुरु नामक मृग के चर्म को भी धारण कर रहा है। इसके अधोभाग में मौर्वी मेखला से नियन्त्रित (मजबूती से बाँधी गयी) मजीठ की रङ्ग वाली धोती, हाथ में धनुष, रुद्राक्षमाला तथा पिप्पल का दण्ड है।'

जनक के उक्त कथन में बालक ब्रह्मचारी का कितना भव्य चित्रण है, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। उन दिनों बच्चों की शिक्षा-दीक्षा गुरुकुलों में होती थी। विशेषकर क्षत्रिय-राजकुमारों को धनुर्विद्या आदि का भी ज्ञान कराया जाता था। उनको निश्चित परिधान धारण करना पड़ता था। उन्हें मृग-

१. उत्तररामचरितम्, चतुर्थ अंक, पृष्ठ ३१५।
२. वही, अंक ४/१९ ३. वही, ४/२०।

चर्म, रुद्राक्ष की माला तथा पिप्पल का दण्ड आदि भी धारण करना पडता था। उन सभी निर्धारित वस्त्रों (वल्कलों) तथा उपकरणों (मृग चर्म, रुद्राक्ष आदि) से युक्त बाल ब्रह्मचारी जैसे आँखों के सामने नाचने लगता है।

'लव' नामक वह ब्रह्मचारी (बालक) अपनी बाल-मण्डली छोड़कर कौसल्या, जनक आदि के समीप आ जाता है। जनक उसे देर तक ध्यान से देखते हैं और देखकर उसके अमित प्रभाव तथा गौरव से आश्चर्यान्वित तथा प्रभावित होकर कह ही बैठते हैं कि —'इस बालक में अपूर्व महिमा का अतिशय है, जिसमें नम्रता से शीतलता तथा सुन्दरता से कोमलता भरी हैं, उसे चतुर लोग ही समझ सकते हैं। बाल्यावस्था में भी बलवान् यह बालक सम्मोह से स्थिर मेरे मन को उसी प्रकार आकृष्ट कर रहा है, जिस प्रकार छोटा सा चुम्बक का टुकड़ा लोहे को हठात् अपनी ओर खींच लेता है।'[1]

जनक के द्वारा चित्रांकित शिशु 'लव' के स्वरूप में एक ऐसे तेजस्वी, ओजःपूर्ण एवं बलिष्ठ रघुवंशीय बालक का चित्र बिम्बित है, जिसमें नम्रता और सुन्दरता दोनों का मणि-कांचन योग है। बाल ब्रह्मचारी का इससे बढ़कर भव्य रूप और क्या हो सकता है?

जब वह लव नामक बालक समीप आकर प्रणाम करता है तो, वहाँ उपस्थित अरुन्धती, कौसल्या और जनक सभी का वात्सल्य जैसे थिरक पड़ता है। वहीं अरुन्धती उसको गोद में लेकर कहती हैं कि सौभाग्य से मेरी गोद ही नहीं, अपितु बहुत काल का मेरा मनोरथ भी पूर्ण हुआ—

'एहि वत्स ! (लवमुत्सङ्गे गृहीत्वात्मगतम्) दिष्ट्या न केवलमुत्सङ्गश्चिरान्मनोरथोऽपि मे पूरितः।'[2]

उसे (लव) गोद में लेने के लिये कौसल्या भी अधीर हो जाती है। गोद में लेकर वह कहती है—'यह बालक पुष्ट और उज्ज्वल शरीर के गठन से ही नहीं, अपितु मधुर स्वर वाले हंस के स्वर के समान स्वर के द्वारा भी रामभद्र का अनुसरण कर रहा है, खिले हुये कमल के भीतरी पत्ते के समान सुकुमार, इसका शरीर-स्पर्श भी इसी प्रकार का है।'[3] तदनन्तर कौसल्या—

'बस मैं तुम्हारे मुखकमल को देख रही हूँ। यह कहकर लव की ठुड्ढी को ऊपर उठाती हैं और आँसू भरे नयनों से ध्यान से उसे देखकर राजर्षि जनक से कहती हैं—

1. उत्तररामचरितम्, ४/२१।
2. वही, पृष्ठ ३२१ 3. वही, पृष्ठ ३२२

'राजर्षे ! किं न पश्यति ? निपुणं निरूप्यमाणो वत्साया मे वध्वा मुखचन्द्रेणापि संवदत्येव ।'[1]

'हे राजर्षे ! क्या आप नहीं देख रहे हैं ? कि अच्छी तरह से देखे जाने पर यह बालक मेरी वत्सला बहू सीता के मुखचन्द्र के साथ भी उपमा के योग्य हो रहा है ।'

बालक को ध्यान से देखकर जनक सहसा बोल पड़ते हैं—

वत्सायाश्च रघूद्वहस्य च शिशावस्मिन्नभिव्यज्यते
संवृत्तिः प्रतिबिम्बितेव निखिला सैवाकृतिः सा द्युतिः ।
सा वाणी विनयः स एव सहजः पुण्यानुभावोऽप्यसौ
हा हा देवि ! किमुत्पथैर्मम मनः पारिप्लवं धावति ॥[2]

इस बालक में पुत्री सीता का और रामचन्द्र का सम्बन्ध प्रतिम्बित की तरह अभिव्यक्त हो रहा है। उसी प्रकार (सीता और राम के समान) सम्पूर्ण आकार है, वही कान्ति है, वही स्वाभाविक नम्रता है और उसी तरह पवित्र सामर्थ्य भी है। हाय हाय देवि ! मेरा मन चंचल होकर उन्मार्गों से क्यों दौड़ रहा है ?'

यहाँ तक सभी ने 'लव' में राम के प्रतिरूप को देखकर अपने वात्सल्य को लुटाया। सीता-राम सभी के लिये अत्यन्त प्रिय थे। आज बालक लव के रूप में मानो सबको सीता और राम ही मिल गये। सबका हृदय स्नेहशिथिल हो गया। चतुर्थ अंक का यह स्थल निश्चय ही अति भावपूर्ण एवं वात्सल्य-चित्रण की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

अभी तक तो कौसल्या को पूरा विश्वास भी नहीं ही पाया है कि वह बालक उनके प्रिय बेटे राम का प्रिय पुत्र है। उनके बार-बार पूछने पर भी उनकी जिज्ञासा की शान्ति नहीं हो पाती, क्योंकि वह बालक मात्र इतना जानता है कि वह स्वनामधन्य वाल्मीकि का शिष्यहै। इसी बीच नेपथ्य में यह घोषणा सुनायी देती है कि चन्द्रकेतु की यह आज्ञा है कि 'कोई भी सैनिक आश्रम के समीपवर्ती प्रदेशों में आक्रमण न करें।'[3] कौसल्या का वात्सल्य जाग पड़ता है और वे कहती हैं—'वत्स लक्ष्मण का बेटा आज्ञा दे रहा है' यह अक्षर-समूह अमृत-बिन्दुओं के समान श्रवणसुखद है'।[4]

प्रगल्भ बच्चे बहुत ही वाक्पटु होते हैं। वे प्रश्नों का उत्तर अति सहज-भाव से देते हैं। 'लव' एक ऐसे ही वाक्पटु बालक हैं। लव से जनक के यह कहने

१. उत्तररामचरितम्, चतुर्थ अंक, पृष्ठ ३२२ २. वही, ४/२२ ।
३. वही, पृष्ठ ३२५ ४. वही, पृष्ठ ३२५

पर कि 'यह चन्द्रकेतु रामकथा के पुरुष लक्ष्मण के पुत्र हैं', वह बालक बोल पड़ता है कि 'तब तो ये चन्द्रकेतु ऊर्मिला के पुत्र और मिथिलाधिपति राजर्षि जनक के दौहित्र है।'[१]

बालक लव का जनक के प्रति यह उत्तर बाल-वाक्पटुता से मण्डित है। उसमें बाल्य और पटुता दोनों का सम्मिश्रण है।

वार्तालाप के प्रसंग में, लव के मुख से, राम की आज्ञा का पालन करते हुये, लक्ष्मण के द्वारा वन में सीता के अकेली छोड़े जाने का वृत्तान्त सुनकर कौसल्या यह कहकर बिलखती है कि 'कुसुम कोमल सीता के शरीर पर यह कैसा वज्रपात ?[२] और जनक यह जानकर व्यथित होते हैं कि 'उस भयंकर जंगल में प्रसव पीड़ा से पीड़ित होकर सीता ने निश्चय ही मुझे बार-बार याद किया होगा।'[३]

कौसल्या तथा जनक दोनों की उक्तियों में करुण-वात्सल्य का जैसे स्रोत फूट पड़ा है। जनक जैसे विरागी राजर्षि तथा कौसल्या जैसी धीर-गम्भीर नारी को भी पिघला देने वाला करुण-वात्सल्य निश्चित रूप से श्लाघ्य है। यह सब भवभूति की कलात्मक लेखनी का कलात्मक चमत्कार है।

बालक चाहे ग्राम का हो अथवा नगर का, गृहस्थ के घर का हो अथवा ऋषि के आश्रम का, वह बालक ही होता है। उसका ऐसा स्वभाव होता है कि वह घर-बाहर कहीं भी किसी नयी वस्तु या प्राणी को देखकर अत्यन्त कौतूहलमय हो जाता है। उसकी चपलता, उत्सुकता एवं जिज्ञासा आदि सभी कुछ बढ़ जाती है। किसी भी ग्राम अथवा नगर के किसी मुहल्ले में जब कोई नयी वस्तु (गाड़ी आदि) अथवा कोई अज्ञात जानवर (हाथी, घोड़ा आदि) आता है, तो बालकों का समूह एकत्र हो जाता है। पहले न देखी गयी वस्तु या प्राणी बालकों के विशेष आकर्षण के केन्द्र होते हैं। घोड़ा पालतू जानवर है। वह जंगल में दुर्लभ है। अतः उसे देखकर आश्रम के बाल ब्रह्मचारियों का कौतूहलवश एकत्र होना नितान्त स्वाभाविक है। इसीलिये ब्राह्मण-कुमार जब उस घोड़े को देखते हैं तो वे लव को सम्बोधित कर कहते हैं—

'कुमार ! कुमार ! अश्वोऽश्व इति कोऽपि भूतविशेषो जनपदेष्वनुश्रूयते, सोऽयमधुनाऽस्माभिः स्वयं प्रत्यक्षीकृतः।'[४]

'कुमार ! कुमार ! जनपदों में जो घोड़ा नामक विशेष प्राणी सुना जाता है, अभी-अभी हमने उसको देख लिया है।' लव के द्वारा यह पूछने पर वे (ब्राह्मण कुमार) घोड़े का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

---

१. उत्तररामचरितम्, चतुर्थ अंक, पृष्ठ ३२६
२. वही, पृष्ठ ३२८
३. वही, ४/२३
४. वही, पृष्ठ ३३३

पश्चात्पुच्छं वहति विपुलं, तच्च धूनोत्यजस्रं
दीर्घग्रीवः स भवति, खुरास्तस्य चत्वार एव ।
शष्याण्यत्ति, प्रकिरति शकृत्पिण्डकानाम्रमात्रान्
किं व्याख्यानैर्व्रजति पुनर्दूरमेह्येहि यामः ॥[१]

'वह घोड़ा पीछे लम्बी पूछ धारण करता है और उसे बराबर हिलाता रहता है, वह लम्बी गर्दन वाला है, उसके चार ही खुर हैं, नरम-नरम घास चरता है, आम के फलों के बराबर लीद के टुकड़ों को छोड़ता है, अधिक कहने से क्या ? वह फिर दूर जा रहा है, आओ-आओ हम लोग जा रहे हैं।'

ब्राह्मण कुमारों द्वारा घोड़े के उक्त वर्णन में नितान्त सहजता तथा सरलता है। उसमें जैसे शैशव-स्वभाव ही सजीव हो उठा है। उन ब्राह्मण-कुमारों का अश्वस्वरूप-वर्णन तो उनके बालकपन को प्रकट कर ही रहा है, उससे बढ़कर उनका यह कथन—'अधिक कहने से क्या ? वह दूर जा रहा है। आओ-आओ हम लोग जा रहे हैं'। कितना बाल्योत्सुकता का व्यंजक है ?

इसके बाद ऐसा कहकर वे ब्रह्मचारी बालक 'लव' को उनका मृगचर्म और हाथ पकड़कर खींचते हैं।[२] लव में भी कौतूहल है। वे भी बच्चों के साथ जाने के लिए आतुर हैं और कौसल्या आदि से नम्रता के साथ यह कहकर कि—

'आर्यजन ! देखें ये लोग मुझे घसीट रहे हैं'। उनके कौतूहल को देखकर अरुन्धती और जनक यह कहकर बहुत प्रसन्न होते हैं—'वत्स को बड़ी उत्सुकता है घोड़े को देखने की।' जहाँ तक कौसल्या की बात है वे तो मानों उस बच्चे द्वारा ठगी सी गयी हैं। वे अरुन्धती और जनक से दूसरे स्थान को जाकर दौड़ते हुए उसे देखने के लिए आतुर हो जाती हैं।[३]

उक्त स्थल में बच्चों के स्वभाव का अत्यन्त यथार्थ और आकर्षक वर्णन है। अपने कौतूहल को शान्त करने के लिए बालक खाने-पीने, परिधान आदि पहनने तथा गुरुजनों की आज्ञा आदि की भी परवाह नहीं करते। यही क्या कम है कि मर्यादित रघुकुल के अंकुर लव ने श्रेष्ठजनों (कौसल्या आदि) से अपनी विवशता बतलायी।

अन्य बाल ब्रह्मचारियों के साथ लव बाहर आ जाते हैं। उन बालकों को यह पता नहीं है कि वह अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा है, परन्तु लव उसे जान जाते हैं और अन्य बच्चों के यह पूछने पर (आपको कैसे ज्ञात हुआ कि यह अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा है) लव थोड़ा आवेश में आकर कहते हैं—'अरे मूर्खो ! तुम लोगों ने

---

१. उत्तररामचरितम्, ४/२६　　　२. वही, पृष्ठ ३३४
३. वही, पृष्ठ ३३५

भी तो वह काण्ड पढ़ा ही है, क्या नहीं देख रहे हो ? सैकड़ों कवचधारी दण्ड-धारी और तरकस वाले हर तरह के रक्षक हैं। उसी तरह की सेवा भी दिखलाई पड़ रही है। अगर अविश्वास हो तो पूछ लो।'[1]

छोटे-छोटे बालकों के बीच में जो प्रतिभाशाली प्रगल्भ और बुद्धिमान् बालक होता है, वह छिपा नहीं रहता। वह अपनी वाणी और क्रिया से सबका नेता बन ही जाता है। कुमार 'लव' भी ऐसे ही बालकों में हैं, जिनका सटीक चित्रण बालमनोविज्ञान के महान् वेत्ता महाकवि 'भवभूति' की लेखनी द्वारा हुआ है। सचमुच उक्त स्थल शैशव-चित्रण की दृष्टि से सदा भावपूर्ण ढंग से स्मरण किये जायेंगे।

जब चतुर्थ अंक के नेपथ्य में यह घोषणा होती है—'यह जो घोड़ा है, वह वस्तुतः सातों भुवनों के अद्वितीय वीर और रावणवंश के शत्रु रामचन्द्र की विजय-पताका अथवा वीरघोषणा है।'[2] तो लव को वह (घोषणा) असह्य हो जाती है और आवेश में वे कहते हैं 'अरे अरे सैनिकों ! तो क्या पृथ्वी क्षत्रिय-शून्य हो गयी है ? जो इस प्रकार की घोषणा की जा रही है।' यह कहकर वे अपने मंडली के बालकों को उत्साहित करते हुए कहते हैं—

'हे ब्राह्मणकुमारों ! इस घोड़े को घेरकर ढेलों से मारते हुए पर्णशाला के समीप ले आओ। यह वहाँ पर मृगों के बीच में चरे।'[3]

उक्त सन्दर्भ बच्चों की उस मण्डली की याद दिला रहा है, जो लव जैसे बाल-नेता के नेतृत्व में बालकपन के अनुरूप आचरण कर रही हो। ऐसे सन्दर्भ जहाँ किसी बालक के नेतृत्व में अन्य सभी बालक समवेत रूप से कार्य करते हैं, अत्यन्त आनन्ददायी होते हैं। किसी जानवर अथवा पागल को चारों तरफ से घेरकर उसके साथ कुछ उपद्रव करने में बालकों को बड़ा आनन्द आता है। यत्र-तत्र इस प्रकार के दृश्य दिखायी ही देते रहते हैं।

पंचम अंक में लव और चन्द्रकेतु के बीच वाग्युद्ध तथा अस्त्र-शस्त्रात्मक युद्ध छिड़ जाता है। युद्ध के प्रांगण में 'लव' को देखकर सुमन्त्र की आँखों में प्रेम के आँसू भर जाते हैं, परन्तु निराशा से उनका हृदय स्तब्ध हो जाता है।[4]

इसी प्रकार युद्ध के लिए उद्यत बालक चन्द्रकेतु को देखने पर भी सुमन्त्र का हृदय द्रवीभूत हो जाता है और वे स्नेह के साथ आनन्द के आँसू गिराते हुए चन्द्रकेतु का आलिगन कर कहते हैं—'वत्स ! इन्द्रजीत को मारने वाले वात्सल्य-

---

१. उत्तररामचरितम् चतुर्थ अंक, पृष्ठ ३३६। २. वही, ४/२७।
३. वही, पृष्ठ ३३९। ४. वही, पंचम अंक, पृ० ३७३

भाजन तुम्हारे पिता लक्ष्मण को भी उत्पन्न हुए अभी कितने दिन हुए हैं ? उनका पुत्र (चन्द्रकेतु) भी वीरोचित धर्म का अनुष्ठान कर रहा है। सौभाग्य से दशरथ का वंश प्रतिष्ठा को प्राप्त हो गया है।[1]

राजा दशरथ के राज-परिवार में यद्यपि सुमन्त्र सारथि के पद पर प्रतिष्ठित थे, पर वे पूरे वंश में अत्यन्त विश्वस्त एवं सम्मानित थे। सचमुच उनकी स्थिति एक अभिभावक और सलाहकार जैसी थी। उनके सामने रघुकुल वंश का ही एक पुष्प 'लव' खड़ा है और दूसरी ओर दूसरा पुष्प लक्ष्मणपुत्र चन्द्रकेतु खड़ा है। उन्होंने जिस लक्ष्मण को अपनी गोद में खेलाया था, उनकी देख-रेख की थी, उनका छोटा सा बेटा युद्ध के काबिल हो गया, यह देख-सुन कर उनके हृदय का पसीजना सर्वथा उचित है। जब कोई माता-पिता बच्चे का कोई उत्कर्ष देखता-सुनता है, तो ऐसे अवसर पर उसके हृदय में वात्सल्य का प्रादुर्भाव हो ही जाता है।

सुमन्त्र के मुख से दशरथ के कुल की प्रतिष्ठा की बात सुनकर चन्द्रकेतु की भावना जाग जाती है। एक अत्यन्त भावुक बालक होने के कारण रणभूमि में, यह सोचकर उनका हृदय व्यग्र हो जाता है कि कुल में ज्येष्ठ महाराज रामचन्द्र के संतानहीन होने पर हमारे कुल की क्या प्रतिष्ठा है ? इस दुःख से हमारे तीन पितृजन (भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न) सन्ताप का अनुभव कर रहे हैं।[२]

चन्द्रकेतु के उक्त वचन की विशेषता बताने की आवश्यकता नहीं है। उसके विषय में सुमन्त्र का निम्नांकित कथन ही पर्याप्त होगा। चन्द्रकेतु के वचनों को सुनकर सुमंत्र कहते हैं—

'हृदयमर्मदारणान्येव चन्द्रकेतोर्वचनानि'।[३]

अर्थात् 'चन्द्रकेतु के वाक्य (वचन) हृदय के मर्मस्थलों को विदीर्ण कर देने वाले हैं।'

लव की भावुकता भी कुछ कम नहीं है। चन्द्रकेतु को देखकर एक ओर उनकी दृष्टि प्रफुल्लित है और दूसरी ओर रणप्रांगण का घोष सुनकर उनका वीरत्व जाग्रत है। उन्हें इसीलिए दुःख हो रहा है कि उनके हृदय में मिश्रित (वात्सल्य तथा वीर से मिश्रित) रस प्रतीत हो रहा है—

'लव—हन्त ! मिश्रीकृतक्रमो रसो वर्तते।[४]

नाटक के छठें अंक में पुष्पक विमान से उतरने पर चन्द्रकेतु को देखते ही राम का वात्सल्य प्रस्फुटित हो जाता है और वे चन्द्रकेतु से कहते हैं—

---

१ उत्तररामचरितम्, ५/२४
२. वही, ५/२५
३. वही, पृ० ३७९
४. वही, पृ० ३७९

'सूर्य वंश के चन्द्ररूप चन्द्रकेतो ! शीघ्र आओ और कसकर आलिंगन करो जिससे बरफ के टुकड़े के समान शीतल तुम्हारे अंगों से मेरे चित्त का ताप भी शान्त हो जाय।'[1]

वे (राम) स्नेह के आँसुओं के साथ चन्द्रकेतु का आलिंगन कर कुशल-क्षेम पूछते हैं। चन्द्रकेतु के आग्रह पर जब उनकी दृष्टि लव पर पड़ती है तो वे (राम) उनकी प्रशस्ति किये बिना नहीं रह पाते। इसी प्रकार लव भी राम के व्यक्तित्व के प्रभाव से प्रभावित हो जाते हैं। राम के हृदय में वात्सल्य स्नेह का जो प्रादुर्भाव होता है, उसको वे इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

'तत्किमयमेकपद एव मे दुःखविश्रामं ददात्युपस्नेहयति च कुतोऽपिनिमित्तादन्तरात्मानम् अथवा 'स्नेहश्च निमित्तसव्यपेक्ष' इति विप्रतिषिद्धमेतत्।'[2]

'तो क्या यह बालक (लव) सहसा ही मेरे दुःख को समाप्त कर रहा है तथा किसी (अज्ञात) कारण से अन्तःकरण को स्नेहयुक्त कर रहा है ? अथवा स्नेह (प्रेम) कारण की अपेक्षा करता है, यह कथन ठीक नहीं है।'

जब चन्द्रकेतु के द्वारा राम का परिचय दिया जाता है, तो लव उन्हें प्रणाम करते हैं और राम 'आयुष्मन् आओ आओ' यह कहकर बुलाते हैं और स्नेहाधिक्य के साथ लव का यह कहते हुये आलिंगन करते हैं कि वत्स अत्यन्त नम्रता दिखाने की आवश्यकता नहीं है, तुम दृढ़ता के साथ मेरा आलिंगन करो।[3] राम अंगस्पर्शजनित आनन्द से अत्यन्त आनन्दित होकर इन शब्दों में लव के अंगस्पर्श की प्रशंसा करते हैं—

परिणतकठोरपुष्करगर्भच्छदपीनमसृणसुकुमारः।
नन्दयति चन्द्रचन्दननिष्यन्दजडस्तव स्पर्शः॥[4]

'विकसित और परिपूर्ण अंगों वाले कमल के भीतर के पत्र की तरह परिपुष्ट, स्निग्ध और कोमल तथा चन्द्रमा और चन्दन के द्रव के समान शीतल तुम्हारा स्पर्श मुझे आनन्दित कर रहा है।'

सचमुच छोटे बच्चों के अंग का स्पर्श अत्यन्त आनन्दप्रद होता है। वह एक प्रकार से वात्सल्यरस का प्रधान अंग है। उसके लिये प्रत्येक सहृदय व्यक्ति सदा लालायित रहता है। राम को भी लव के अंग-स्पर्श से असीम आनन्द मिलता है।

ऐसे ही क्षणों में लव के बड़े भाई कुश भी भरत आश्रम से आ जाते हैं। लव द्वारा यह परिचय देने पर कि 'ये मेरे बड़े भाई आदरणीय कुश भरतऋषि

---

१. उत्तररामचरितम्, ६/८
२. वही, पृष्ठ ४१५
३. वही, पृष्ठ ४१८
४. वही, ६/१२।

के आश्रम से लौटे हैं' तब राम के हृदय में कौतूहल उत्पन्न हो जाता है और वे (राम) कुश को अपने पास बुलाने के लिये कहते हैं। राम को देखकर लव की भाँति कुश भी उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हो जाते हैं। कुश के अंगस्पर्श द्वारा अपने वात्सल्यस्नेह को तृप्त करने के लिये राम उत्कण्ठित हो जाते हैं।[1]

कुश का अंगस्पर्श राम के लिये कितना आनन्द देने वाला है, उसे राम के ही शब्दों में जानना उचित है। कुश का आलिंगन कर राम मन ही मन कहते हैं—

'सभी अंगों से क्षरित (निकला हुआ) प्रेम से उत्पन्न अपने शरीर के उत्तम अंश के समान, एक चैतन्य तत्त्व बाह्यदेश में प्रकट होकर विद्यमान के तुल्य, प्रगाढ़ आनन्द से क्षुभित हृदय के द्रव से सींचा गया यह बालक, दृढ़ आलिंगन करने पर मानों मुझे बरफ से सींच रहा हो।[2]

जब लव, कुश तथा चन्द्रकेतु के साथ राम वृक्ष की छाया में बैठ जाते हैं, तो वे लव और कुश के बारे में मन ही मन कहते हैं कि 'लव और कुश विनम्र हैं और उनका चलना, रुकना और बैठना आदि सभी क्रियायें उनके सम्राट् होने की सूचना दे रही हैं।'[3] वे दोनों बच्चों की शरीर-रचना, दृष्टि और वाणी सब की तारीफ करते हैं और ध्यान पूर्वक देखने पर, उन्हें उन दोनों बच्चों की केवल आकृति ही, उनके कुल की समानता नहीं रखती, अपितु ध्यान से देखने पर दोनों में सीता के अंगों तथा गुणों की समानतायें भी स्पष्ट रूप से दीखती हैं। अन्त में वे यह निष्कर्ष निकालते हैं—

ननु पुनरिव तन्मे गोचरीभूतमक्ष्णो—
रभिनवशतपत्रश्रीमदास्यं प्रियायाः।[4]

'निश्चय ही नवीन कमल के समान शोभायुक्त वह प्रियतमा सीता का मुख पुनः मेरे नेत्रों के समक्ष प्रकट सा हो गया है।'

यही नहीं, राम को 'उन बच्चों के श्वेत और स्वच्छ दाँतों की कान्ति से सुशोभित उनके होठ, कान, सब कुछ सीता से मिलते हैं, पर सौन्दर्य तो सीता के समान ही है।[5] उक्त सारी समानताओं को देखकर राम कुछ अनुमान लगाने के लिये भी विवश हो जाते हैं। वाल्मीकि ऋषि के निवास से युक्त वह वन और वहीं पर सीता का परित्याग, लव-कुश द्वारा जृम्भकास्त्र की प्राप्ति से चित्रदर्शन का स्मरण इन सारे प्रमाणों के साथ, वे (राम) एक ऐसे प्रमाण के विषय में

---

१. उत्तररामचरितम्, ६/२१ २. वही, ६/२२
३. वही, ६/२३ ४. वही, ६/२४
५. वही, ६/२७

सोचते हैं, जिससे इस बात की पुष्टि होने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है कि वे दोनों बच्चे सीता के ही हैं। वे उस ठोस प्रमाण के विषय में इस प्रकार सोचते हैं—

यमाविति च भूयिष्ठमात्मसंवादः। जीवद्‌द्वयापत्यचिह्नो हि देव्या गर्भिणीभाव आसीत्।[1]

अर्थात् 'ये दोनों जुड़वे भाई हैं, इससे भी बहुत कुछ बुद्धिगत संगति बैठ जाती है। सीता का गर्भिणी भाव दो सन्तानों का चिह्न वाला था।'

उक्त स्थल में राम के हृद्‌गद् भाव का आकलन और वर्णन वही कवि कर सकता है, जो दोनों में (आकलन और वर्णन में) समर्थ हो। सौभाग्य से भवभूति ऐसे ही कवि हैं।

राम की आँखों में आँसू भर जाते हैं और उनके मन में सीता की बहुत सी बातें भी छा जाती हैं। लव के द्वारा रोने का कारण पूछने पर राम अपनी व्यथा को कहते हैं। अनेक प्रकार के भाव उनके मन में उत्पन्न होते हैं, परन्तु वे लव और कुश के तटस्थ वचनों को सुनकर दूसरे प्रकार से उनसे पूछकर उनका विशेष परिचय जानना चाहते हैं। दोनों बालक रामायण कथा को संक्षेप में कह जाते हैं और पिता के कष्टों को याद कर उनका हृदय विगलित हो जाता है।

उस समय राम की विषय स्थिति हो जाती है, जब लव रामकथा के प्रसंग में, चित्रकूट पर्वत के मार्ग में, गंगाजल में बिहार करते समय, सीता को सम्बोधित कर वह श्लोक सुनाते है, जिसमें सीता के बैठने के लिये शिलाखण्ड का उल्लेख है। उसे सुनकर राम लज्जा, मन्द मुस्कान, स्नेह तथा करुणा से परिपूर्ण होकर यह कहते हैं—

'अति हि नाम मुग्धः शिशुजनो विशेषतस्त्वरण्यचरः।'[2]

'शिशुजन अत्यन्त सौम्य स्वभाव वाले होते हैं उनमें भी विशेष रूप से वनवासी शिशु।' राम का यह कथन अत्यन्त यथार्थ है, उसमें शिशु स्वभाव का सही स्वरूप व्यक्त है।

इसी बीच भगवती अरुन्धती महर्षि वसिष्ठ, माताओं और जनक की उपस्थिति होनी है। नेपथ्य से सूचना मिलती है कि कौसल्या आदि मातायें राम को देखकर मूर्छित हो गयी है।

सप्तम अंक में राम अभिनय देखने के लिये लक्ष्मण, चन्द्रकेतु, लव और कुश के साथ रंगशाला में उपस्थित होते हैं और लव-कुश को भी कुमार चन्द्रकेतु की भाँति आसन देने का आदेश देते हैं। इस स्थल में राम के हृदयस्थित अत्यधिक वात्सल्य स्नेह का बोध होता है।

---

१. उत्तररामचरितम्, षष्ठ अंक, पृष्ठ ४४२। २. वही, पृष्ठ ४५२

नाटक के अन्त में अरुन्धती के द्वारा राम और सीता का मिलन होता है और दोनों पुनरुज्जीवित जैसे हो जाते हैं। उसी समय कुश और लव के साथ वाल्मीकि भी उपस्थित होते हैं। महर्षि वाल्मीकि, कुश-लब से उनके पिता रामचन्द्र, चाचा लक्ष्मण, माता सीता और नाना जनक का परिचय कराते हैं। सीता के हृदय में एक ही साथ हर्ष, शोक और आश्चर्य भाव उदित हो जाता है और वे कहती हैं—

'कथं तातः कथं जातौ' (क्या पिता जी और दोनों पुत्र आ गये ?) उसी समय कुश और लव के मुख से भी 'हा पिता जी, हा माता जी और हा नाना जी !' ये सम्बोधन निकल पड़ते हैं। अब क्या पूछना है। 'राम, लक्ष्मण तथा सीता तीनों का चिरपिपासित वात्सल्य-स्नेह लालायित हो जाता है। राम-लक्ष्मण दोनों हर्षान्वित होकर 'पुत्रों तुम दोनों प्राप्त हो गये' कहकर अपने दोनों बच्चों का आलिंगन करते हैं और माता सीता, 'पुत्र कुश आओ, पुत्र लव आओ। दूसरे लोक (पाताल लोक) से आयी हुयी मुझ माता का आलिंगन करो' कहकर उन दोनों को आलिंगन हेतु बुलाती हैं—

'एहि जात कुश ! एहि जात लव ! चिरस्य मां परिष्वजेथां लोकान्तरागतां जननीम् ।'[1]

जिस प्रकार विप्रलम्भ से संयोग-शृंगार की पुष्टि होती है उसी प्रकार वियोग-वात्सल्य से संयोग वात्सल्य भी परिपुष्ट होता है। इतनी लम्बी कालावधि तक राम ओर सीता का जो वात्सल्य स्नेह, जीवित होते हुए भी, वियोग के कारण अकृतार्थ था, वह आज अपने ही आत्मा के प्रतिरूप अपने प्रिय पुत्र लव और कुश को पाकर सर्वथा चरितार्थ हो गया। राम और सीता दोनों धन्य हो गये। कुश और लव भी धन्य हो गये।

इस प्रकार विश्वप्रसिद्ध इस नाटक की सुखान्त समाप्ति होती है। भवभूति के उत्तररामचरित में शिशुक्रीडा, शिशुलीला आदि के लिये बहुत विस्तृत स्थान नहीं है, फिर भी उसमें शिशु स्वभाव एवं चेष्टा आदि के नितान्त भव्य तथा आकर्षक चित्र चित्रित हैं। यत्र-तत्र माता-पिता आदि के कथनों में शिशु रूप की भी सजीव झाँकी है। 'लव' एक ऐसा बालक है, जो प्रगल्भ, धृष्ट तथा वाक्पटु बालक मात्र का प्रतिनिधित्व करता है। वाल्मीकि आश्रम भी बालमण्डली, बालकों के झुण्ड का प्रतिनिधित्व करता है। अभिज्ञानशाकुन्तल में मात्र सर्वदमन का आकर्षक बालचित्र अंकित है। यहाँ तो लव, कुश तथा चन्द्रकेतु के साथ ही

१. उत्तररामचरितम्, सप्तम अङ्क, पृ० ४९२

बाल-मण्डली का भी अच्छा बिम्बन है। इतना अवश्य है कि शाकुन्तल में सर्वदमन एक शिशु है, पर यहाँ लव आदि आश्रम की शिक्षा प्राप्त कर सुशिक्षित वीर बालक हैं।

सन्तान-वात्सल्य की दृष्टि से उत्तररामचरित सर्वश्रेष्ठ नाटक है, इसमें संदेह नहीं है। कौशल्या, जनक, राम, सीता आदि के हृदयस्थित वात्सल्य नितान्त हृदयावर्जक, आकर्षक तथा मर्मस्पर्शी है। वस्तुतः 'उत्तररामचरित' में शाकुन्तल की अपेक्षा वात्सल्य की व्यंजना के लिये अधिक अवसर उपलब्ध हैं।

चराचर प्रकृति के प्रति मानवीय वात्सल्य का भी उत्तररामचरित में चित्रण हुआ है। वृक्ष, गज-शावक एवं मयूर के चित्र इसके प्रमाण हैं। शाकुन्तल में भी एतद्विषयक अनेक भव्य चित्र हैं। इतना अवश्य है कि शाकुन्तल में प्रकृति का मानवीकरण व्यापक तथा उदात्त है।

अब तक मानव-शिशुओं के प्रति मानव के वात्सल्य स्नेह की चर्चा की गयी है। अब थोड़ा उस वात्सल्य-स्नेह की चर्चा आवश्यक है, जो मानवीय चारदीवारी को तोड़कर मानवेत्तर जगत् (वृक्ष, पशु-पक्षी आदि) को भी अपने क्षेत्र में समेट लेता है। दूसरे शब्दों में चराचर जगत् उसकी परिधि में आ जाता है। तृतीय अंक में सीता जब पंचवटी प्रदेश में उपस्थित होती हैं तो वहाँ उनको एक युवा हाथी दृष्टिगोचर होता है। उसे देखकर राम और सीता दोनों का वात्सल्य भाव सचेतन हो जाता है। राम 'चिरंजीवी पुत्र (विजयी हो')' कहकर उसका अभिनन्दन करते हैं और सीता 'अहो ! मेरा पुत्र ऐसा हो गया है' कहकर पुलकित होती हैं।[1]

राम ने जब सीता को यह स्मरण दिलाया कि 'यह वही करिशावक है जिसके मृणालपल्लव के समान दन्तांकुर थे और जिसने तुम्हारे कर्णमूल से, लवलीलता के किसलय को खींचा था, वह अब युवावस्था को प्राप्त हो गया है।'[2] तो सीता भावविभोर हो जाती हैं और उस गज की लीलाओं को देखकर अपने वात्सल्य को तुष्ट करती हैं। वहीं पंचवटी में वासन्ती के द्वारा वह चंचल मयूर भी दृष्टिगोचर होता है, जिसे सीता ने पाला-पोसा था।[3] सीता का हृदय उत्कण्ठित हो जाता है और उनकी आँखों में आनन्द के आँसू भर जाते हैं। वे मात्र 'यह वही है। (एष) सः कहकर तथा राम 'पुत्र ! प्रसन्न रहो। आज हम बढ़ रहे हैं'—कहकर सन्तोष की सांस लेते हैं।[4] राम के सामने वनवास का वह दृश्य नाचने लगता है, जब भोली भाली सीता द्वारा पल्लव सदृश हाथों के तालों से वह (मयूर) नचाया जाता था। उसे पुत्र की तरह स्निग्ध मन से स्मरण कर रहे हैं—

---

१. उत्तररामचरितम्, सप्तम अंक, पृष्ठ २०५ २. वही, ३/१५

३. वही, ३/१८ ४. वही, पृष्ठ २१४

'सुतमिव मनसा त्वा वत्सलेन स्मरामि ।'[1]

पशु-पक्षी की बात तों दूर, वहाँ का वह वृक्ष भी दृष्टिगोचर हो जाता है जिसका पालन एवं संवर्धन सीता ने किया था और जो अब पुष्पित हो गया है। उसे देखकर सीता की आँखें स्नेहवश गीली हो जाती हैं।[2]

वह शिलातल भी सामने मिल गया, जहाँ बैठकर सीता मृगों को घास दिया करती थीं।[3] सारी पंचवटी सीता की अपनी ही तो है। उन्हीं के शब्दों में पशु-पक्षी तथा वृक्ष भी तो पुत्रतुल्य ही हैं—

'त एव जातनिर्विशेषा मृगपक्षिणः पादपाश्च'।[4]

उक्त सभी स्थलों में मानवेतर प्रकृति राम और सीता के वात्सल्य स्नेह की भाजन है। यह महाकवि भवभूति के भावपरिपूरित हृदय तथा कल्पना की विशेषता है कि उन्होंने वात्सल्य प्रेम को इतने विशाल क्षेत्र में प्रतिष्ठित कर दिया। 'उत्तररामचरित' के ये समस्त सन्दर्भ कालिदास के लोकविश्रुत नाटक अभिज्ञानशाकुन्तल का स्मरण दिला देते हैं, जहाँ चराचर प्रकृति मानव के वात्सल्य स्नेह को पाकर मानव जाति की ही अभिन्न अंग बन गयी थी। इन दोनों महाकवियों की उक्त विशेषतायें भी उनकी महत्ता एवं ख्याति में हेतुभूत हैं।

अन्त में इतना कहकर इस सन्दर्भ को समाप्त किया जाता है कि महाकवि भवभूति की भावप्रवणता, काव्यप्रतिभा तथा रससिद्धता के कारण उत्तररामचरित में चित्रित वात्सल्य अपनी भावमयता की पराभूमि में प्रतिष्ठित हो गया है। उसमें भावों का सजीव बिम्बन है जिसके साथ समस्त सहृदय समाज का भाव जुड़सा जाता है। वात्सल्य के दोनों पक्षों—वियोग एवं संयोग का इतना आकर्षक, तथा सजीव वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है।

---

१. उत्तररामचरितम्, ३/१९   २. वही, पृष्ठ २१६

३. वही, ३/२१   ४. वही, पृष्ठ २१९

षष्ठ अध्याय

प्रमुख गद्य एवं चम्पू-काव्यों में शैशव-चित्रण

- कादम्बरी और हर्षचरित में शैशव-चित्रण
- दशकुमारचरित में शैशव-चित्रण
- नलचम्पू में शैशव-चित्रण
- चम्पूरामायण में शैशव-चित्रण
- चम्पूभारत में शैशव-चित्रण

प्रमुख गद्य एवं चम्पू-काव्यों में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

कादम्बरी में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

बाणभट्ट का जीवन-वृत्त

यह प्रसन्नता की बात है कि महाकवि बाणभट्ट ने हर्षचरित के प्रथम तीन उच्छ्वासों एवं कादम्बरी के प्रारम्भिक पद्यों में अपना तथा अपने वंश का परिचय दिया है। तदनुसार बाणभट्ट के पूर्वज शोणभद्र (सोन) नदी के किनारे प्रीतिकूट नामक ग्राम में रहते थे। इनका गोत्र वात्स्यायन था। बहुत पहले ही से विद्याध्ययन और धर्माचरण के लिए इनका वंश विख्यात था। बाणभट्ट के पिता का नाम 'चित्रभानु' तथा माता का नाम 'राजदेवी' था। बाल्यावस्था में ही इनके माता-पिता का देहावसान हो गया। माता-पिता के मरने के बाद बाण अपनी विपुल सम्पत्ति के उत्तराधिकारी हुए। बाण का कुल ऐसा था जिस पर लक्ष्मी तथा सरस्वती दोनों की कृपा थी। बाणभट्ट ने अपने मित्रों के साथ देश के विभिन्न भागों की यात्रा की। उनके साहित्यिक मित्रों में लोकभाषा कवि 'ईशान' तथा प्राकृत कवि 'वायुविकार' आदि प्रमुख थे। भ्रमणकाल में उन्होंने विद्याध्ययन भी किया और अनेक विद्वानों से सम्पर्क भी किया। इस प्रकार वे पर्याप्त सांसारिक अनुभव, उदार विचार और विकसित बुद्धि के साथ अपने घर वापस आये।

तत्कालीन स्थाणीश्वरनरेश (थानेश्वर) श्री हर्षवर्धन से बाण के बारे में कुछ लोगों ने शिकायतें की थीं, जिससे वे बाण पर रुष्ट थे, परन्तु हर्षवर्धन के छोटे भाई श्रीकृष्ण के प्रयास से बाणभट्ट ने हर्षवर्धन की राजसभा में आश्रय प्राप्त कर लिया। बाण ने अपने अन्तिम जीवन के विषय में कुछ नहीं लिखा। एक किंवदन्ती के अनुसार बाण कादम्बरी को पूर्ण किये बिना दिवंगत हो गये, बाद में उनके पुत्र 'भूषणभट्ट' या 'पुलिन्दभट्ट' ने कादम्बरी को पूर्ण किया। बाण के बारे में अनेक किंवदन्तियाँ भी प्रचलित हैं।

श्री हर्षवर्धन के आश्रय में रहने के कारण बाण का स्थितिकाल ईसा की सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है। हर्षवर्धन का राज्याभिषेक ६०६ ईसवी में तथा उनका देहावसान ६४८ ईसवी में हुआ था। अतः बाणभट्ट का स्थितिकाल ७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में माना जा सकता है। अन्तरंग और बहिरंग प्रमाणों से भी बाण के उक्त स्थिति-काल की पुष्टि होती है।

कृतियाँ

बाण की निःसंदिग्ध गद्य रचनायें केवल दो हैं—(१) कादम्बरी एवं (२) हर्षचरित। इन दोनों के अतिरिक्त 'चण्डीशतक' तथा 'पार्वती-परिणय' को भी बाण की कृति माना जाता है। कुछ लोगों ने 'मुकुटताडितक' नामक नाटक को भी बाण की रचना माना है।[१]

कादम्बरी

किन्हीं विद्वानों का मत है कि कादम्बरी की कथावस्तु गुणाढ्य की बृहत्-कथा पर आधारित है। कादम्बरी 'कथा' नामक गद्य काव्य-भेद के अन्तर्गत आती है। इसके दो भाग हैं—पूर्व भाग तथा उत्तर भाग। पूर्व भाग समस्त ग्रंथ का दो तिहाई भाग है, जिसकी रचना बाण ने स्वयं की है। उत्तर भाग एक-तिहाई है। विद्वानों के अनुसार इसकी रचना बाण के दिवंगत होने पर, बाण के पुत्र भूषण-भट्ट (पुलिन्दभट्ट) ने की है। कादम्बरी में चन्द्रापीड तथा कादम्बरी एवं पुण्डरीक तथा महाश्वेता इन दो प्रणयी–युगलों की तीन-तीन जन्मों की प्रणय-कथा वर्णित है। अन्त में चन्द्रापीड का कादम्बरी के साथ तथा पुण्डरीक का महाश्वेता के साथ विवाह होता है और वहीं कथा समाप्त हो जाती है। इन चार प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त कादम्बरी में तारापीड, वैशम्पायन, शुकनाश, पुण्डरीक, कपिंजल, हंस आदि पुरुष पात्र, गौरी, तरलिका, विलासवती, मनोरमा आदि स्त्री पात्र भी आये हैं। कादम्बरी बाण की अनुपम रचना है। संस्कृत गद्यसाहित्य में उसका स्थान सर्वोच्च है। कादम्बरी के प्रमुख पात्रों की तीन-तीन जन्मों की प्रणयकथायें अंकित हैं। मुख्य कथा चन्द्रापीड और कादम्बरी की प्रेम-कथा है। पुण्डरीक और महाश्वेता की प्रणय कथा उसकी पूरक है। कादम्बरी का प्रधान रस शृंगार है। कादम्बरी जैसी वर्णन-विविधता अन्यत्र दुर्लभ है। बाण-पुत्र भूषणभट्ट का निम्नांकित कथन सर्वथा यथार्थ है।

'कादम्बरीरसभरेण समस्त एव, मत्तो न किञ्चिदपि चेतयते जनोऽयम् ॥'

बाणभट्ट का शब्दभण्डार अक्षय है। संस्कृत भाषा पर उनका अपूर्व अधिकार है। उनकी शैली पांचाली है। वे प्रकृति-चित्रण के महान् अनुरागी हैं। उनके काव्यों में भावपक्ष भी उच्च भूमि में प्रतिष्ठित है। जहाँ तक संस्कृत-साहित्य में उनके स्थान का प्रश्न है, उसके विषय में प्रख्यात साहित्यकार तथा संस्कृत-साहित्य के उद्‌भट विद्वान् एवं कवि डॉ० राजदेव मिश्र का निम्नांकित कथन सर्वथा समीचीन है—

---

१. डॉ० राजदेव मिश्र द्वारा सम्पादित 'कादम्बरी-महाश्वेतावृत्तान्त' की भूमिका।

'यदि उनकी सर्वातिशायिनी एवं सर्वव्यापिनी प्रतिभा को देखकर किसी ने 'बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम्' कहा तो अनुचित ही क्या ? गद्यकाव्य में ही नहीं, पूरे संस्कृत-साहित्य में, कालिदास के बाद, बहुश्रुत एवं सर्वतोमुखी प्रतिभा वाला कोई महाकवि हुआ तो वह बाणभट्ट ही। न केवल संस्कृत-साहित्य में, अपितु विश्व-साहित्य में बाणभट्ट निस्सन्देह उच्च स्थान पाने के योग्य हैं।'[1]

कादम्बरी में प्रकृत विषय 'शैशवचित्रण' अपने उदात्त रूप में अंकित है। बालचेष्टा, बाल-क्रीड़ा आदि के लिए तारापीड का कथन, सन्तानाभाव (पुत्राभाव) के कारण तारापीड एवं विलासवती की चिन्ता, वात्सल्यभाव के लिए वैशम्पायन का कथन, चन्द्रापीड तथा तारापीड का मिलन आदि द्रष्टव्य है। सम्प्रति प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

कादम्बरी में शैशव चित्रण की कई स्थितियाँ हैं—

१. शिशु-क्रीड़ा तथा शिशुचेष्टा आदि से सम्बद्ध।
२. शिशु के प्रति माता-पिता का वात्सल्य। वात्सल्य की भी दो स्थिति है—(१) संयोग वात्सल्य, (२) वियोग वात्सल्य।
३. शैशवावस्था से भिन्न (यौवनादि सम्बन्धी) अवस्था में स्थित सन्तान के प्रति माता-पिता का वात्सल्य।
४. सन्तान-प्राप्ति के लिए माता-पिता की लालसा तथा सन्तानाभाव के कारण दुःख।
५ मानवेतर प्राणियों के भी शैशव-चित्रण की स्थिति तथा अपने शिशु की रक्षा आदि के विषय में माता-पिता की चिन्ता एवं उनका अपनी सन्तान के प्रति वात्सल्य-प्रेम।

इस सन्दर्भ में एक बात को स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि काव्यविधा की दृष्टि से कादम्बरी के 'कथा' नामक गद्य-काव्य-भेद के अन्तर्गत आने के कारण उसमें शिशुचेष्टा आदि का वर्णन कथा के अन्तर्गत आया है।

राजा तारापीड सभी प्रकार के सांसारिक भोगों को भोगते हुए अपना जीवन बिता रहे थे, पर वे एक भोग से वंचित थे। वह यह कि उन्होंने पुत्र-मुख के दर्शन से जनित सुख को नहीं भोगा—

'एकं तु सुतमुखदर्शनमुखं न लेभे।'[2]

जैसे-जैसे यौवन व्यतीत हुआ, वैसे-वैसे विफलमनोरथ उनका पुत्राभाव-जनित दुःख भी बढ़ता गया—

---

१. डा० राजदेव मिश्र—'कादम्बरी-महाश्वेतावृत्तान्त' की भूमिका।
२ वही, पृ० १२८

'यथा यथा च यौवनमतिचक्राम तथा तथा विफलमनोरथस्यानपत्यताजन्मा वर्धतास्य सन्तापः ।'[1]

'विषयभोग की इच्छा से वे विरक्त से हो गये। सहस्रों राजाओं से सदा घिरे रहने पर भी अपने को उन्होंने असहाय माना, नेत्रवान् होते हुए भी स्वयं को अन्धा तथा भुवन का सहारा होने पर भी अपने को आलम्बनहीन माना।[2]

एक बार अपनी रानी विलासवती को शोक में मग्न देखकर राजा (तारापीड) ने उनसे दुःख का कारण बताने का अनुरोध किया—

'निवेदय देवि ! दुःखनिमित्तम् । कथ्यतां सुन्दरि ! शुचः कारणम् ।'[3]

रानी ने कोई उत्तर नहीं दिया। सदा साथ रहने वाली ताम्बूलकरङ्क-वाहिनी (मकरिका) ने राजा को उत्तर दिया—

'अद्य तु चतुर्दशीति भगवन्तं महाकालमर्चितुमितो गतया तत्र महाभारते वाच्यमाने श्रुतम्—'अपुत्राणां किल न सन्ति लोकाः शुभाः ।' पुंनाम्नो नरकात्त्रायते इति पुत्रः' इत्येतच्छ्रुत्वा भवनमागत्य परिजनेन सशिरः प्रणाममभ्यर्थ्यमानापि नाहारमभिनन्दति, न भूषणपरिग्रहमाचरति, नोत्तरं प्रतिपद्यते । केवलमविरल-बाष्पदुर्दिनान्धकारितमुखी रोदिति ।'[4]

आज चतुर्दशी की तिथि थी, इसी कारण महारानी भगवान् कालेश्वर का पूजन करने मन्दिर गयी थीं। वहाँ पर हो रही महाभारत की कथा में उन्होंने सुना कि 'पुत्रहीन प्राणी को स्वर्ग प्राप्त नहीं होता। (क्योंकि) पुं नाम के नरक से जो उबारता है, वही पुत्र कहलाता है।' यह सुनकर घर आने पर दासियों द्वारा प्रार्थना करने पर भी, न वे भोजन करती हैं, न आभूषण पहनती हैं और न हमारी किसी बात का उत्तर ही देती हैं। अविरल अश्रुधारा बहाती हुई, अपने मुख पर दुर्दिन जैसा अन्धकार करके बराबर रोया करती हैं।'

यह है सन्तानाभाव के दुःख से दुःखी राजा तारापीड एवं उनकी रानी विलासवती का दुःख। सचमुच सब सुखों के रहते हुए भी यदि सन्तानसुख नहीं है, तो सब सुख व्यर्थ है। इतना ही नहीं, सन्तानाभावजनित दुःख अति महान् होता है। उसको सहना बड़ा कठिन है। आज राजा और रानी उसी असह्य दुःख से दुःखी हैं।

राजा और रानी दोनों के दुःख का कारण एक ही था और वह था सन्तानाभाव (पुत्राभाव)। दुःखी रानी को देखकर तथा तरलिका के मुख से

---

१. कादम्बरी पूर्वार्द्ध, पृ० १२८-१२९ (पण्डित पुस्तकालय, काशी द्वारा प्रकाशित)

२. कादम्बरी, पूर्वार्द्ध पृ० १२९

३. कादम्बरी, पृ० १३१-१३२

४. कादम्बरी, पृ० १३२-१३३

रानी के दुःख का कारण जानकर राजा भी वेदनाक्रान्त हो गये। उस समय उनके मुख से निकला हुआ एक-एक शब्द मर्मस्पर्शी है। शोकपीड़ित होकर उन्होंने कहा—

'देवि ! किमत्र क्रियतां देवायत्ते वस्तुनि। अलमतिमात्रं रुदितेन। न वयमनुग्राह्याः प्रायो देवतानाम्। आत्मजपरिष्वङ्गामृतास्वादसुखस्य नूनमभाजनमस्माकं हृदयम्।'[1]

अर्थात्, 'देवि ! इस दैवाधीन वस्तु पर किया ही क्या जा सकता है ? बहुत रोना व्यर्थ है। (वस्तुतः हम लोग इस योग्य नहीं हैं कि देवता हम पर कृपा करें। वास्तव में हमारा हृदय पुत्र के आलिंगन रूपी अमृतमय स्वाद के सुख का पात्र नहीं है।'

रानी को आश्वस्त करते समय राजा तारापीड भी सन्तानाभाव-जनित अपने अपार दुःख को कहे बिना नहीं रह सके। उन्होंने निम्नांकित भावपूर्ण वचनों में अपनी दयनीय दशा का वर्णन किया—

'इत्येतानि मनोरथशतानि चिन्तयतोऽन्तःसन्तप्यमानस्य प्रयान्ति रजन्यः। मामपि दहत्येवायमहर्निशमनल इवानपत्यतासमुद्भवः शोकः। शून्यमिव मे प्रतिभाति जगत्। अफलमिव पश्यामि राज्यं। अप्रतिविधेये तु विधातरि किं करोमि ?'[2]

'ऐसी-ऐसी सैकड़ों अभिलाषाओं के चिन्तन से मन ही मन खिन्न होकर मैं बड़ी कठिनाई से रातें गुजारता हूँ। मुझे पुत्राभाव का सन्ताप आग की तरह रात-दिन जलाता रहता है। मुझे सारा संसार सूना-सूना दिखायी देता है और राज्य तक निष्फल प्रतीत होता है, किन्तु अप्रतिकार्य विधाता के विधान पर मैं कर ही क्या सकता हूँ।'

अनेक प्रकार से रानी विलासवती को सान्त्वना देने के बाद पुत्रवात्सल्यानन्द की कल्पना करते हुए वे कहते हैं कि 'देवि ! वह दिन कब आयेगा, जब पुत्र-जन्ममहोत्सव के उपलक्ष्य में आत्मविभोर मेरे परिजन मुझसे पूर्ण पात्र (नेग) ले जायेंगे और मैं नवोदित सूर्य तथा बालातप से जगमगाते आकाश की भाँति हल्दी से रंगे पीले वस्त्र पहनकर तथा गोद में पुत्र को लेकर आती हुई, महारानी को देखूँगा और आनन्दित होऊँगा—

'कदा मे तनयजन्ममहोत्सवानन्दनिर्भरो हरिष्यति पूर्णपात्रं परिजनः। कदा हरिद्राम्बरधारिणी सुतसनाथोत्सङ्गा द्यौरिवोदितरविमण्डला सबालातपा मामानन्दयिष्यति देवी।'[3]

---

१. कादम्बरी, पूर्वार्द्ध, पृ० १३३ (पण्डित पुस्तकालय, काशी द्वारा प्रकाशित)
२. कादम्बरी, पूर्व भाग, पृ० १३६ ३. वही, पृ० १३४

बालक की रक्षा के लिए उसके शरीर पर, बाल पर औषधियाँ लगा दी जाती हैं। उसके सिर के तालु पर भी घृत आदि डालकर उसके गले में गण्डा पहना दिया जाता है। ऐसे बच्चे दन्तविहीनावस्था में बिस्तर पर उतान लेटकर जब मन्द-मन्द मुस्कराते हैं तो बड़े आनन्ददायी लगते हैं। राजा ऐसे ही बच्चे को देखने के लिए लालायित होकर कहते हैं—

'कदा सर्वौषधिपिञ्जरजटिलकेशो निहितरक्षाघृतबिन्दूनि तालुनि विन्यस्तगौरसर्षपोन्मिश्रभूतिलेशो गोरोचनाचित्रकण्ठसूत्रग्रन्थिरुत्तानशयो दशनशून्यस्थिताननः पुत्रको जनयिष्यति मे हृदयाह्लादम्।'[1]

अर्थात्, 'सभी औषधियाँ लगाने से पीले तथा उलझे बालों वाले, जिसकी तालू पर अभिमंत्रित घृत की कतिपय बूंदें और सरसों मिली तनिक सी भस्म डाल दी गयी हो, जिसके गले में पड़े कण्ठसूत्र (गण्डे) की गाँठें गोरोचन से रंगी हुयी हों, जो उतान (चित्त) लेटा हो और अपने दन्तविहीन मुख से मन्द-मन्द मुसका रहा हो, ऐसा पुत्र कब मेरे हृदय में आनन्द का उल्लास उत्पन्न करेगा।'

छोटे बच्चे एक गोद से दूसरी गोद में घूमते रहते हैं, धूलिधूसरित होकर खेलते हैं, घुटने के बल पर चलते हुये इधर उधर दौड़ते हैं, घुंघरू युक्त करधनियों को पहने हुये पालतू हंसादि पक्षियों को पकड़ने के लिये दौड़ते हैं और बेचारी धायियाँ उन्हें पकड़ने हेतु उनके पीछे-पीछे दौड़ती हैं। इन सभी बिन्दुओं को केन्द्रित कर राजा कहते हैं—

'कदा गोरोचनाकपिलद्युतिरन्तःपुरिकाकरतलपरंपरासंवार्यमाणमूर्तिरशेषजनवन्दितो मङ्गलप्रदीप इव मे शोकान्धकारमुन्मूलयिष्यति चक्षुषोः। कदा च क्षितिरेणुधूसरो मण्डयिष्यति मम हृदयेन दृष्ट्या च सह परिभ्रमन्भवनाङ्गणम्। कदा केसरिकिशोरक इव संजातजानुचंक्रमणावस्थः संचरिष्यतीतस्ततः स्फटिकमणिभित्त्यन्तरितान्भवनमृगशावकाञ्जिघृक्षुः। कदान्तः पुरनूपुरनिनादसङ्गतान्गृहकलहंसकाननुसरन्कक्षान्तरप्रधावितः कनकमेखलाघण्टिकारयानुसारिणीमायासयिष्यति धात्रीम्।'[2]

'गोरोचन सदृश पीतवर्ण की दीप्ति से सम्पन्न रनिवास की महिलाओं के एक हाथ से दूसरे और तीसरे हाथ में बार-बार घूमता तथा सब लोगों से वन्दित एवं मङ्गलदीपसदृश सुन्दर पुत्र कब मेरी आँखों का अन्धकार दूर करेगा ? कब वह धूल से धूसरित होकर, इधर-उधर घूमता और हृदय तथा नेत्रों को तृप्त करता हुआ, घर के आँगन को सुशोभित करेगा ? कब वह घुटनों के बल चलने लायक

---

१. कादम्बरी, पूर्वार्द्ध भाग, पृष्ठ १३४–१३५

२. वही, पृष्ठ १३५

होकर स्फटिक मणि की दीवारों से बाहर दीखने वाले मृगशावकों को पकड़ने के लिये सिंह के बच्चे की भाँति दौड़ता फिरेगा? कब मेरा पुत्र रनिवास की स्त्रियों के पायलों की झनकार का अनुसरण करते हुये, पालतू कलहंसों के पीछे एक प्रकोष्ठ से दूसरे में दौड़कर, सोने की करधनी में लगे घुंघरुओं के शब्द के पीछे दौड़ती हुई अपनी धात्री को कष्ट देगा।'

राजा की उत्कट अभिलाषा है ऐसे पुत्र को देखने की 'जिसके कपोल कालागुरु की रेखाओं से चित्रित हों, धात्री के कोमल मुख से निकली डमरू की ध्वनि पर जो लुभा रहा हो, जो चन्दन की धूलि से धूसरित होकर धात्री की अँगुली पकड़ कर चलने का अभ्यास कर रहा हो, बालकपन के कारण माता के चरण रंगने से बचे महावर को कंचुकियों के मुख पर पोत रहा हो। मणिमय फर्श पर फिसल-फिसलकर गिरता हुआ अपनी परछायीं की ओर दौड़ रहा हो तथा हजारों हाथ बढ़ा-बढ़ा कर राजा लोग जिसके आगमन का अभिनन्दन कर रहे हों—

'कदा कृष्णागुरुपङ्कलिखितमदलेखालंकृतगण्डस्थलकः मुखडिण्डिमध्वनिजनितप्रीतिरूर्ध्वकरविप्रकीर्णचन्दनचूर्णधूलिधूसरः कुञ्चिताङ्गुलिशिखराङ्कुशाकर्षणविधूतशिराः करिष्यति मत्तगजराजलीलाक्रीडाः। कदा मातुश्चरणयुगलरागोपयुक्तशेषेण पिण्डालक्तकरसेन वृद्धकञ्चुकिनां विडम्बयिष्यति मुखानि। कदा कुतूहलचञ्चललोचनो मणिकुट्टिमेष्वधोदत्तदृष्टिरनुसरिष्यति स्खलद्गतिरात्मनः प्रतिबिम्बानि। कदा नरेन्द्रसहस्रप्रसारितभुजयुगलाभिनन्द्यमानागमनो भूषणमणिमयूखाकुलीक्रियमाणलोलदृष्टिरास्थानस्थितस्य मे पुरः सर्पिष्यति सभान्तरेषु।'[1]

राजा की इस वात्सल्यमयी परिकल्पना में शिशु स्वरूप, शिशु की क्रीडा-लीला एवं चेष्टा सभी का एक अनुपम चित्रण है। निश्चय ही यह वर्णन शिशु का एक बिम्ब सा खड़ा कर देता है। इसके द्वारा कवि की शैशव-विदग्धता का भी बोध होता है। ऐसा भव्य, सजीव एवं आकर्षक शैशव-चित्रण अन्यत्र नितान्त दुष्प्राप्य है। उक्त वर्णन निश्चय ही बाणभट्ट के उत्कृष्ट कल्पना वैभव का सच्चा उद्घोषक है।

राजा कभी स्वप्न दर्शन के माध्यम से, कभी काल्पनिक चित्र के माध्यम से, अपनी पुत्र विषयणी स्पृहा को तृप्त करते हुए अपना समय बिता रहे थे कि 'कुलवर्धना' नाम की एक दासी से रानी के आपन्नसत्त्वा होने का समाचार मिला। समाचार सुनते ही राजा के शरीर के सभी अंग मानो अमृत से सिक्त हो गये। आनन्दविभोर होकर वे गद्गद हो गये।[2]

---

१. कादम्बरी, पूर्व भाग, पृष्ठ १३५–१३६

२. कादम्बरी, पूर्वार्द्ध, पृष्ठ–१४२

अन्त में राजा का भाग्य-भास्कर उदित हो गया। वह शुभ घड़ी आ ही गयी, जब रानी विलासवती ने पावन दिन तथा शुभ घड़ी में, सबके हृदय को आनन्दित करने वाले पुत्ररत्न को वैसे ही जन्म दिया, जैसे मेघमाला मेघ की अग्नि को जन्म देती है—

'इरंमदमिव मेघमाला सकललोकहृदयानन्दकारिणं विलासवती सूतमसूत।'[1]

पुत्र-जन्म का समाचार सुनकर पूरा वातावरण हर्षोल्लास से व्याप्त हो गया। सारी प्रजा उल्लास से उन्मत्त होकर नाचने लगी। जन्ममहोत्सव उत्तरोत्तर वैसे ही बढ़ता गया जैसे चन्द्रोदय से समुद्र (बढ़ जाता है)—

'उन्मत्ता इव हर्षनिर्भराः प्रजाः प्रतिदिनमवर्धत चन्द्रोदयेनेव जलधिः कलकलमुखरो राजसूनोर्जन्ममहोत्सवः।'[2]

अब थोड़ा पुत्रोत्पत्ति के समाचार से राजा के हृदय की लालसावृधा पुत्र-दर्शनजनित उनके आनन्दातिरेक का आकलन अपेक्षित है।

पुत्र-जन्म का समाचार पाकर राजा उसके मुख का दर्शन करने के लिए लालायित हो गये। शुभ घड़ी में उन्होंने सूतिकागृह में जाकर विलासवती की गोद में सोये हुए उस आनन्ददायक पुत्र को देखा। उस शिशु की कान्ति से सूतिकागृह के दीपकों की दीप्ति मन्द पड़ गयी थी। उसमें महापुरुषों के सभी लक्षण दृष्टि-गोचर हो रहे थे।[3]

अपने ही आत्मा के प्रतिरूप उस शिशु को देखते ही राजा की क्या दशा हुई? इसका एक जीता-जागता चित्र बाणभट्ट ने खींचा है। कवि ने राजा के अन्तराल की उस वेदना को अच्छी प्रकार समझा है, जो पुत्राभाव के कारण उनके हृदय में उदित होकर उन्हें आहत कर रही थी और इसके साथ ही उसने (कवि ने) राजा की पुत्र-प्राप्ति की उस लालसा को भी अपने प्रातिभ चक्षु से दृष्टिगत कर लिया है जिसके कारण वह चिरकाल से पुत्रविषयक अनेक काल्पनिक चित्र खींच रहा था।

पुत्र को देखते ही राजा तारापीड के पूर्णतः खुले तथा निर्मिमेष नेत्रों की पलकें निश्चल हो गयीं। नेत्रों की पुतलियाँ लगातार बहने वाले आनन्दाश्रुओं में डूब गयीं। ऐसा प्रतीत होता था, जैसे राजा उस शिशु को प्रीतिभरे नयनों से पी रहा था, मानों मौन भाषा में उससे (अपने शिशु से) कुछ बातें कर रहा था अथवा उसका (शिशु का) स्पर्श कर रहा था—

---

१. कादम्बरी, पूर्वार्द्ध पृष्ठ–१४९

२. वही, पृष्ठ–१५०   ३. वही, पृष्ठ १५३

'विगतनिमेषनिश्चलपक्ष्मणा च मुहुर्मुहुः प्रमृष्टसंघटितानन्दबाष्पपटलप्लुततारकेण दूरस्फारितेन स्निग्धेन चक्षुषा पिबन्निवालपन्निव स्पृशन्निव मनोरथसहस्रप्राप्तदर्शनं सस्पृहं निरीक्षमाणस्तनयाननं मुमुदे ।'[1]

नवजात पुत्र को एक बार देखकर कोई भी पिता सर्वथा तृप्त नहीं हो सकता। वे राजा भी उसे बार-बार देखकर आनन्दित हुए। उन्होंने अपने को कृतकृत्य माना, क्योंकि हजारों मनौतियों के बाद उन्हें यह (पुत्र प्राप्तिरूप) सौभाग्य प्राप्त हुआ था।[2]

'विपद्, विपद् का तथा संपत् संपत् का अनुगमन करती है। 'विपद्विपदं संवत्संपदमनुबध्नाति'। यह लोकोक्ति उस समय सर्वांशतः चरितार्थ हो गयी, जब मंगलक ने मन्त्री शुकनास के भी पुत्ररत्न प्राप्ति का समाचार दिया। तब आनन्दित होकर राजा ने शुकनास को गले लगा लिया। मारे प्रेम के हँसते-हँसते शुकनास के दुपट्टे को पूर्णपात्र के रूप में छीन लिया और अति प्रसन्न मन से संवादवाहक मंगलक को भी बहुमूल्य पुरस्कार दिया। उसके बाद धूम-धाम से शुकनास के घर जाकर दुगुना उत्सव कराया।[3]

पुत्रोत्सव का आनन्द ही निराला होता है। सर्वत्र आनन्द का साम्राज्य छा गया। छठी रात्रि के कृत्य के बाद राजा ने शुभ मुहुर्त में करोड़ों गायें ब्राह्मणों को दान में दीं। राजा ने यह सोचकर कि 'उस समय स्वप्न में मैंने इसकी माता के मुखारविन्द में पूर्ण चन्द्र मण्डल को प्रविष्ट होते देखा था' उस बच्चे का 'चन्द्रापीड' यह नाम रखा। शुकनास ने भी अपने पुत्र का 'वैशम्पायन' नाम रखा। क्रमशः चूडाकरण आदि संस्कारों का सम्पादन कराया। इस प्रकार चन्द्रापीड की शैशवावस्था बीत गयी।[4] राजा तारापीड की व्यवस्थानुसार चन्द्रापीड ने सभी विद्यायें तथा कलायें प्राप्त कर लीं। व्याकरण, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा मल्लविद्या समेत धनुर्विद्या, संगीत, वाद्य आदि में कुशलता प्राप्त कर ली।[5]

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि अपने सन्तान के प्रति वात्सल्य आयु नहीं देखता। विद्याध्ययन समाप्त कर जब राजकुमार चन्द्रापीड घर लौटे तो, 'आओ आओ' (राजा) भावविभोर हो गये। उनके नेत्र आनन्द के आँसुओं से तर हो गये। समस्त शरीर रोमांचित हो गया। उनका (राजा का) प्रेमातिरेक

---

१. कादम्बरी, पूर्वार्द्ध, पृष्ठ १५३
२. कादम्बरी, पृ० १५३
३. वही, पृ० १५५–१५७
४. वही, पृ० १५७–५८
५. वही, पृ० १५९–१६०

देखकर ऐसा लग रहा था, जैसे चन्द्रापीड को चिपकाकर सी रहे हों, गाढ आलिंगन के द्वारा दो के भाव को मिटाकर एक ही रहे हों। जैसे स्नेहमयी दृष्टि से उन्हें पी से रहे हों। राजा ने वैशम्पायन को भी पुत्रवत् आलिंगित किया।[1]

पिता तारापीड के पुत्र-वात्सल्य के दर्शन के बाद उस माता (विलासवती) के अनुपम पुत्र-प्रेम की भी थोड़ी परख कर ली जाय, जो कितने दिनों से अपने लाड़ले को जी भर कर देखने के लिए अत्यन्त उतावली थी।

अपने प्रिय पुत्र (चन्द्रापीड) को देखते ही विलासवती ने उठकर, परिजनों की अपेक्षा किये बिना, अपने बेटे के आगमन का मंगलाचार किया। चिरकाल के बाद अपने पुत्र को साक्षात् उपस्थित देखकर उनके स्तनों में दूध की धारा उमड़ पड़ी, जैसे लगा कि उनके हृदय का पुत्र-स्नेह ही द्रवित होकर बाहर निकल आया। प्रेमार्द्र हृदय से अपने पुत्र के लिए हजारों कल्याणों की कामना करती हुयी उन्होंने चन्द्रापीड का माथा सूँघा और बहुत देर तक उन्हें अपनी छाती से चिपकाये रहीं। उन्होंने साथ में आये हुए वैशम्पायन को भी अपने वात्सल्यमय आलिंगन से कृतार्थ किया। उनके हृदय का स्नेह इतना बेहाल था कि उन्होंने फर्श पर बैठे हुए अपने बेटे को खींचकर अपनी गोद में बैठा लिया और बार-बार उन्हें छाती से लगाकर उनके मस्तक, कन्धे और हृदय पर हाथ फेरती रहीं। उस समय भाव-विह्वल होकर उन्होंने कहा—"वत्स ! तुम्हारे पिता का हृदय कितना कठोर है, जिन्होंने समस्त त्रैलोक्य के द्वारा लालनीय ऐसी आकृति को इतने लम्बे समय तक इतना क्लेश सहवाया, इतनी बड़ी अवधि तक तुम गुरुजनों का कठोर नियंत्रण कैसे सह सके होगे ?"

'वत्स, कठिनहृदयस्ते पिता येनेयमाकृतिरीदृशी त्रिभुवनलालनीया क्लेशमतिमहान्तमियन्तं कालं लम्भिता।'[2]

ये हैं माता-पिता के पुत्र-वात्सल्य के सजीव चित्र, जिन्हें प्राणिमात्र के हृदयगत गूढ़ातिगूढ भाव को जानने वाले बाणभट्ट ने चित्रित किया।

कादम्बरी के पूर्व भाग में महाश्वेता वृतान्त में, महाश्वेता की शैशवावस्था के अतिसंक्षिप्त चित्र की चर्चा की उपेक्षा नहीं की जा सकती। महाश्वेता अपने माता-पिता (हंस तथा गौरी) की अकेली पुत्री थी। उसके जन्म पर उसके पिता ने पुत्र महोत्सव से भी बड़ा महाश्वेता का जन्म महोत्सव मनाया और उसके रूप रंग के अनुसार ही उसका नाम 'महाश्वेता' रखा। वह समस्त गन्धर्व कुल की

---

१. कादम्बरी, पूर्वार्द्ध, पृ० १९६ २. वही, पृ० १९९

इतनी प्यारी थी कि उसने पितृ-भवन में वीणा की भाँति मधुर (तोतली) बोली बोलती हुयी, एक गन्धर्व से दूसरे और दूसरे से तीसरे की गोद में खेलती हुयी, निश्चिन्त भाव से अपनी शैशवावस्था बितायी।[1]

इस संदर्भ की यह विशेषता है कि इसमें पुत्री-जन्मोत्सव पुत्रजन्मोत्सव से भी अधिक सम्मानित है तथा उस सहज स्थिति का भी चित्रण है, जिसमें छोटे बच्चे को बारी-बारी से सभी लोग अपनी गोद में खेलाते हैं और बच्चा निश्चित होकर अपनी शैशवावस्था को बिताता है।

जैसा कि सर्वविदित है; वात्सल्य-स्नेह तथा प्रीतिकर शैशवावस्था मनुष्य में ही नहीं पायी जाती, बल्कि प्राणिमात्र में भी उसकी स्थिति होती है, प्राणी चाहे मनुष्य हो या पशु अथवा पक्षी। इस संदर्भ में वैशम्पायन तोता की शैशवावस्था और उसके प्रति उसके पिता के पुत्र-स्नेह की संक्षिप्त चर्चा कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

कादम्बरी के पूर्व भाग में पक्षि-शावकों की शैशवावस्था तथा उनकी चेष्टाओं का अति सजीव चित्रण है। साथ ही वैशम्पायन (नामक तोता) के पिता के कारुणिक वात्सल्य का भी मर्मस्पर्शी वर्णन है।

शालमली वृक्ष पर घोंसले बनाकर रहने वाले पक्षियों के पुत्रवात्सल्य की तब झलक मिलती है, जब वैशम्पायन जाबालि के आश्रम में वृत्तान्त सुनाता है। वह कहता है कि 'पक्षी दिनभर चारा चुगने के बाद शाम को घर आ जाते थे और अपने घोसलों में बैठे हुए बच्चों के लिए अपनी चोचों में विविध प्रकार के फलों के रस तथा धान की बालों के कण आदि लेकर उन्हें खिलाते और सब स्नेहों में श्रेष्ठ सन्तति स्नेहवश अपने पंखों में बच्चों को छिपाकर रात बिताते थे।[2]

वैशम्पायन की माता उसके जन्म लेते ही मर चुकी थी। उसके वृद्ध पिता, जिनके शरीर में वृद्धावस्था के कारण बहुत थोड़े पंख शेष रह गये थे, उनमें उड़ने का सामर्थ्य नहीं रह गया था, अपने पुत्र (वैशम्पायन) के प्रति वात्सल्यभाव के कारण, अन्य पक्षियों के घोसलों के नीचे गिरे धान के पुआलों में से चावलों की किनकियाँ चुनकर तथा वृक्ष की जड़ पर पड़े हुए तथा तोतों के कुतरे हुए फलों के टुकड़े उसे खिलाते थे और उसे खिलाकर बचे हुए आहार को स्वयं खाते थे।'[3]

दुर्भाग्यवश उस वन में हजारों भीलों की एक सेना घुसी। उनमें से एक भयानक तथा क्रूर वृद्ध भील शाल्मली वृक्ष के नीचे पहुँचा। कुछ देर रुकने के बाद

---

१. कादम्बरी, पूर्वार्द्ध, पृष्ठ २८७

२. कादम्बरी, पूर्वार्द्ध पृ० ५१–५२ ३. वही, पृ० ५२-५३

वह एक-एक करके तोतों के बच्चों को घोसलों से निकाल-निकाल कर और उन्हें-मार-मारकर नीचे फेंकने लगा, जैसे फल तोड़-तोड़कर नीचे फेंक रहा हो। शुक-शावक बहुत छोटे-छोटे थे। उनमें उड़ने का सामर्थ्य नहीं था। गर्भ के समान उनके रंग लाल थे और वे सेमर के फूल के समान थे। कुछ बच्चों के पंख निकल आये थे, जो कमल के मुलायम पत्तों के समान थे। कुछ के सिर स्वतः हिल रहे थे, मानो वे शिरःकम्प के व्याज से उस भील के क्रूर कर्म को नकार रहे थे।[1]

यह सब देखकर वैशम्पायन के वृद्ध पिता का हृदय दहल गया। उन्हें आत्मरक्षा का कोई उपाय नहीं सूझा, फिर भी स्नेहातिरेकवश उन्होंने अपने नवजात पुत्र (वैशम्पायन) को अपने पंखों में छिपा लिया और अपनी गोद में समेटकर बैठ गये। भील (बहेलिया) ने वैशम्पायन के पिता को घोसले से खींच-कर एवं उन्हें मारकर नीचे पटक दिया। जैसी कि छोटे बच्चों की स्वाभाविक क्रियायें होती हैं, उनके अनुसार शिशु वैशम्पायन अपनी गर्दन अपने पिता के पैरों के बीच में रखकर उनकी गोद में घुसा था। उसे वह भील न देख सका, परिणाम-स्वरूप वह भी अपने पिता के साथ जमीन पर गिर गया। सूखे पत्तों पर गिरने के कारण वैशम्पायन के प्राण पखेरू बच रहे। सूखे पत्तों के समान उसका रंग होने के कारण बहेलिया उसे न देख सका। छोटे-छोटे परों के सहारे वह इधर-उधर लुढ़कता हुआ, एक तमाल वृक्ष की जड़ में इस प्रकार घुस गया, जैसे उसे एक दूसरे पिता की गोद मिल गयी हो।[2]

जैसी की नवजात शिशुओं की स्थिति होती है, वह वैशम्पायन भी प्यास के कारण एक सरोवर की ओर खिसक कर जाने लगा। उसके पंख पूरी तरह नहीं निकले थे तथा उसे चलने का अभ्यास भी नहीं था, अतः उसके पैर लड़खड़ा जाते थे। वह मुँह के बल गिर जाता था। गिरने पर दूसरे पंख की सहायता से कुछ सँभल जाता था। साँसे फूलने लगती थीं। उसका शरीर धूलि से धूसरित हो गया था।[3]

उक्त सभी बिन्दुओं को केन्द्रित कर विचार करने पर यह कहना असंगत नहीं है कि कादम्बरी में शैशव-रूप, शिशुक्रीड़ा-लीला-चेष्टा आदि का सांगोपांग चित्रण है। तारापीड के मुख से पुत्र-लालसा के प्रसंग में जो कुछ निकला है उसमें बालक के स्वरूप आदि का कोई भी भाग शेष नहीं है। उसी प्रकार वात्सल्य के दोनों पक्षों (संयोग तथा वियोग) का भी सांगोपांग चित्रण है। वस्तुतः कादम्बरी

---

१. कादम्बरी, पूर्वार्द्ध, पृ० ६९ २. वही, पृ० ७०–७२
३. वही, पृ० ७२–७३

का शैशवचित्रण बिम्बित होकर आँखों के सामने नाचने लगता है। उसमें शिशु-सम्बन्धी कोई भी अंश नहीं छूटता। जैसे लगता है कि कवि शैशव विज्ञान का विशेष मर्मज्ञ है। कथा के माध्यम से नवजात शिशु और उसकी बाल्यावस्था का इतना सजीव एवं बिम्बग्राही वर्णन कादम्बरी के अतिरिक्त और कहाँ मिलेगा? साथ ही वात्सल्य के संयोग और वियोग का इतना भावमय यथार्थ चित्र अन्यत्र कहाँ प्राप्त होगा? शिशु स्वरूप क्रीड़ा एवं चेष्टा आदि के विषय में बाणभट्ट की कल्पना यथार्थ को भी पराभूत कर देती है। चन्द्रापीड के शिशुरूप आदि के वर्णन में जैसे समस्त बालजगत् का स्वरूप आदि बिम्बित एवं सजीव हो गया है। सन्तानाभावजनित तारापीड तथा विलासवती की वेदना में आहत वात्सल्य का कौन सा रूप शेष रह गया है? और पुत्रप्राप्ति तथा उसके संयोग से जनित उन दोनों के आनन्दसागर में हर्षोल्लास की कौन सी लहरी बाकी रह गयी है? सच-मुच बाणभट्ट के द्वारा चित्रित शिशु-सम्बन्धी उक्त सभी चित्र शैशवचित्रण एवं वात्सल्य की अनुपम थाती बनकर चिरकाल तक सरसजनों के चित्त को आप्लावित करते रहेंगे।

हर्षचरित में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

बाणभट्ट की दूसरी गद्यकृति 'हर्षचरित' है। यह ग्रन्थ गद्यकाव्य के 'आख्यायिका' नामक भेद के अन्तर्गत आता है। संस्कृत-साहित्य में यह सबसे प्राचीन उपलब्ध आख्यायिका है। हर्षचरित में कुल आठ उच्छ्वास हैं। प्रारम्भ के तीन उच्छ्वासों में बाणभट्ट की संक्षिप्त जीवनी है। चतुर्थ उछ्वास में प्रभाकर वर्धन और उनकी पत्नी यशोमती का वर्णन है। उसी उच्छ्वास में प्रथम पुत्र राज्यवर्धन की जन्मकथा अति विस्तार के साथ वर्णित है। पंचम उच्छ्वास में राजकुमारों की विजय-गाथा का चित्रण है। षष्ठ उच्छ्वास में राज्यवर्धन के लौटने और पिता द्वारा हर्ष को राज्य देकर स्वयं छुटकारा पाने का वर्णन है। सप्तम उच्छ्वास में श्रीहर्ष के दिग्विजय का रोचक वर्णन है। अष्टम उच्छ्वास में हर्षवर्धन एक शबर योगी की सहायता से अपनी बहन राजश्री को खोजने का प्रयास करते हैं। चिता पर चढ़ने के लिए आरूढ़ अपनी बहन राज्यश्री को समझा-बुझाकर उसे दिवाकरमित्र के आश्रम में ले आते हैं।[1]

'हर्षचरिन' में आख्यायिका के लक्षणानुसार प्रतिपाद्य का प्रतिपादन किया गया है। जहाँ तक शैशव-चित्रण का प्रश्न है, वह भो अपने उदात्त स्वरूप में हर्ष-

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४२०-२२ तक।

चरित में चित्रित है। हर्षचरित में प्रभाकरवर्धन का पुत्रप्रेम अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में अंकित है। हर्षवर्धन को देखकर उनके हृदय में पुत्रवात्सल्य का जैसे सागर सा उमड़ पड़ता है।

हर्षवर्धन जब मृत्यु शय्या पर पड़े अपने पिता प्रभाकरवर्धन को देखने के लिए आते हैं तो वे (पिता) समीपस्थ अपने पुत्र हर्षवर्धन को देखकर अपनी बाहों को फैलाकर प्रेमपूर्वक उन्हें बुलाने लगते हैं, आने पर उन्हें (हर्ष को) कसकर छाती से लगा लेते हैं। उस समय वे इतना आनन्दित हो जाते हैं कि मानो अमृत रस के सरोवर में डुबकी लगा रहे हों, मानो हरिचंदन-रस-प्रश्रवण (झरने) में स्नान कर रहे हों, मानो हिमालय के द्रव से लिप्त हो रहे हों, उस समय प्रेम-विह्वल होकर पुत्र के अंगों से अपने अंगों तथा उसके कपोल से अपने कपोल को मिलाकर अपलक नयनों से देखते रहे।[1] भावविभोर होकर उन्होंने अपने पुत्र से कहा—

'पुत्र, तुम कृश हो गये हो····· वत्स, मैं जानता हूँ कि तुम पितृप्रिय हो और तुम्हारा हृदय अत्यन्त कोमल है।'[2] राजा को अपने प्रिय पुत्र की दुर्बलता नितान्त पीड़ित कर रही है, यद्यपि वे रुग्ण हैं फिर भी उनके पुत्र का कष्ट उन्हें और दग्ध कर रहा है। जैसे तीक्ष्ण शस्त्र की भाँति पुत्र की दुर्बलता उन्हें काट रही है—

'वत्स ! कृशोऽसि······उद्दामदाहज्वरदग्धोऽपि दह्ये खल्वहमधिकतरमनेनातुष्मदाधिना। निशितमिव शस्त्रं तक्षणोति मां त्वदीयस्तानिम्ना।'[3]

उपर्युक्त उदाहरण से राजा के प्रगाढ़ पुत्रवात्सल्य का बोध होता है। पिता का हृदय अपनी सन्तान के प्रति अतीव कोमल, सदय, भावपूर्ण तथा निष्काम होता है। वह (पुत्र) उसके लिये सर्वस्व होता है। पिता चाहे दुःखी से दुःखी हो, रुग्ण से रुग्ण हो, वह सब कुछ सह लेता है पर अपने पुत्र के क्लेश या दुःख को नहीं सह पाता। राजा प्रभाकरवर्धन इसी प्रकार के पिता हैं जो अपने पुत्र से वे कहते हैं—

'मेरा सुख, राज्य, वंश, परलोक तथा प्राण तुममे स्थित है······तुम्हारे सदृश लोगों की पीडा भुवनतल को पीड़ित करती है······तुम्हारे जीवन से ही मैं कृतार्थ हूँ और अब जीवन के प्रति अभिलाषारहित हूँ।'[4]

---

१. हर्षचरितम्, ५/२४ २. वही, ५/२४

३. वही, ५/२४ ४. वही, ५/२४

छन्दों और अलंकारों के प्रयोग में त्रिविक्रमभट्ट अत्यन्त कुशल हैं। श्लेष के प्रयोग में उनकी समता करने वाले विरले ही कवि होंगे। उनका शब्द-भण्डार असीम है। उनकी भाषा व्याकरण से सर्वथा संस्कृत है। उनके काव्यों में जीवन के मधुर पक्ष का विशेष रूप से उद्‌घाटन हुआ है।

कृतियाँ

त्रिविक्रमभट्ट की रचना के रूप में दो चम्पू काव्य चर्चित हैं—(१) नल-चम्पू (२) मदालसाचम्पू। मदालसाचम्पू में मदालसा तथा कुवलयाश्व की प्रणय-कथा अंकित है। उसकी कथा का आधार मार्कण्डेय पुराण है। इन दो ग्रन्थों के अतिरिक्त 'इन्द्रराज-प्रशस्ति' को भी उनकी रचना के रूप में मान्य किया गया है।

नलचम्पू

चम्पू साहित्य में 'नलचम्पू' का विशेष स्थान है। इसका दूसरा नाम 'दमयन्तीकथा' भी है। कवि ने प्रत्येक उच्छ्‌वास के अन्त में दमयन्तीकथा ही उल्लेख किया है। सम्पूर्ण नलचम्पू सात उच्छ्‌वासों में विभक्त है। इसकी कथावस्तु महाभारत के वनपर्व से ली गयी है, कवि ने उसे एक बृहद् रूप प्रदान किया है। पूरा नलचम्पू एक से एक उत्कृष्ट कल्पनाओं से परिपूर्ण है। उसमें श्लेष के अनेक भव्य रूप दृष्टिगोचर होते हैं। उसमें नल और दमयन्ती का जीवन-वृत्त काव्यात्मक रूप में चित्रित है।

यद्यपि इस चम्पूकाव्य में अनेक पात्रों का गुम्फन है, परन्तु उसमें लोक-पालों (इन्द्र, कुबेर आदि) को छोड़कर प्रायः अन्य सभी पात्र नल अथवा दमयन्ती से किसी न किसी रूप (सेवक-सेविका आदि के रूप) में सम्बद्ध हैं। दमयन्ती के पिता भीम एवं उनकी माता प्रियङ्गुमंजरी भी विशेष पात्रों में हैं।

नलचम्पू में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण—

नलचम्पू के तृतीय उच्छ्‌वास में भीम और प्रियङ्गुमंजरी एक साथ बैठे थे। उनकी दृष्टि चंचल भ्रमरों द्वारा चुम्बित मंजरी पर पड़ती है। उसी समय वहाँ उन्हें एक ऐसी बानरी दिखायी देती है, जो एक बच्चे को नीचे पेट में चिपकायी है और दूसरे को अपनी पीठ पर लादे है।[1] तब उनके अन्तस्तल में अतृप्त वात्सल्य भाव प्रस्फुटित हो जाता है और सन्तानहीनता के कारण हृदय असह्य वेदना से उद्विग्न हो जाता है—

'कालमेकमुदरदेशलग्नमयपरमपि पृष्ठप्रतिष्ठितमुद्वहन्तो कापि कपिकुटु-म्बिनी दृष्टिपथमवातरत्।'

---

१. नलचम्पू, तृतीय उच्छ्‌वास, पृ० १२९

'तां चावलोक्य चैतस्यास्पदमकरोत्तयोरनपत्ययोर्विषमविषादवेदना-व्यतिकरः ।'[१]

'उसे (बानरी को) देखकर उन सन्तानहीन दम्पतियों के चित्त में असह्य वेदना के संस्पर्श ने घर कर लिया ।'

आरा से काटने जैसे दुःख का अनुभव करते हुए उन दोनों का मन, विशाल राज्य, परिजन तथा अपने प्राणों से भी हटने लगा । उनके मन में यह कष्टकर भाव उत्पन्न हुआ कि 'सन्तान से हीन इस आधिपत्य से क्या लाभ ?'

'किमनेनाधिपत्येनापत्यशून्येन' ।[२]

इस प्रकार सन्तान-हीनता के दुःख से दुःखी दम्पत्ति अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे, कि राजा (भीम) के लिए उनकी प्राणों से भी अधिक प्रिय पत्नी ने गर्भ धारण किया—

'पत्युः प्राणप्रिया प्रियंगुमञ्जरी गर्भं बभार' ।[३]

गर्भ का समय पूरा होने पर प्रियंगुमंजरी ने, भीम द्वारा किये गये पुण्य-कर्मों के अनुरूप, विख्यात कन्यारत्न को उसी तरह जन्म दिया, जिस तरह पृथ्वी पुण्य तीर्थ को उत्पन्न करती है—

'प्रभासंयोगिविख्यातं योग्यं नालस्यकर्मणः ।
पृथ्वीव पुण्यतीर्थं सा कन्यारत्नमजीजनत् ।।[४]

'यह बड़ी होकर खिली हुई कुमुदिनी की तरह मुख को उज्ज्वल बनायेगी ।' मानों इस आशा से दसों दिशायें प्रसन्न हो गयी । उसके भावी गुणों से भयभीत होकर चन्द्र आदि देव मानो उसे नमस्कार करने लगे । अपनी कान्ति के अपहरण के भय से स्वर्ग में अप्सरायें नाचनें लगीं । सुगन्धित हवायें चारों ओर घूमने (बहने) लगीं । मानो वे इस बात का पता लगा रही हैं कि क्या इसके सदृश कोई और भी कन्या उत्पन्न हुई है ।'[५]

इतना ही नहीं 'आनन्द के अमन्द प्रवाह में अन्य समस्त कार्यक्रमों को छोड़कर संसार उस जन्मोत्सव में जैसे अमृत-पान करके आनन्द-मग्न हो गया—

अमन्दानन्दनिष्यन्दमपास्तान्यक्रियाक्रमम् ।
जगज्जन्मोत्सवे तस्याः पीतामृतमिवाभवत् ।।[६]

---

१. नलचम्पू, तृतीय उच्छ्वास, पृष्ठ १३०　　२. वही, पृष्ठ १३०
३. वही, पृष्ठ १६९　　४. वही, ३/२४
५. वही, ,, ३/२५　　६. वही, ३/२५

सम्पूर्ण विश्व में आनन्द का सागर उमड़ पड़ा। जन्मोत्सव का आनन्द पुत्र और कन्या के भेद-भाव को मिटा देता है। इसीलिए दमयन्ती के जन्म पर भी वैसा ही आनन्द हुआ, जैसा कि पुत्रजन्म पर होता है। चूँकि बहुत दिनों के बाद प्रशंसनीय आधार रूप कन्यारत्न प्राप्त हुआ है, इसलिये उस समय मानो 'रूपसम्पत्ति हँसने लगी, सौन्दर्य-लक्ष्मी खिल उठी, स्त्री में अधिष्ठित शुभ लक्षणों की अधिष्ठात्री देवी मानो नाच उठीं, कान्ति-समूह की शोभा मानो कलकल ध्वनि करने लगी।' यह सब इसलिये हुआ कि उस कन्यारत्न का रूप-वैभव, लावण्य, शुभ लक्षण तथा कान्ति-कलाप (कान्ति-समूह) अपने आप में बेजोड़ थे—

'चिरकालोपलब्धश्लाघ्याधारतया हसितमिव रूपसम्पदा, विकसितमिव लावण्यलक्ष्म्या, प्रवृत्तमिव समस्तस्त्रीलक्षणाधिदेवतया, कलकलितमिव कान्ति-कलापश्रिया।'[1]

इतना ही नहीं, दमयन्ती जैसी कलाकृति का निर्माण कर ब्रह्मा का शिल्प-परिश्रम प्रशंसनीय बन गया।[2]

चूँकि भीम को वह कन्या दमनक मुनि के वर (आशीर्वाद रूप) से प्राप्त हुई थी, यह सोचकर राजा भीम ने अपनी कन्या का नाम 'दमयन्ती' रखा—

'जनेश्वरो वरप्रदानमनुस्मृत्य दमनकमुनेः 'दमयन्ती' इति नाम प्रतिष्ठित-वान्।'[3]

धीरे-धीरे उस कन्यारत्न के पल्लव-सदृश कोमल अंग बढ़ने लगे। देदीप्य-मान स्वर्ग की भाँति सुन्दर आँगन के फर्श पर वह घुटने के बल चलने लगी, चलती हुई वह अपनी शिशुलीलायें भी दिखाने लगी। उसकी बाल-लीला को देखकर समस्त परिजन हँसते थे। शैशवोचित उसकी बाल-लीला से तो उसके पिता अत्यन्त प्रसन्न होते थे। वह जब तोतली बोली बोलती थी, तब कुन्द-कली जैसे उसके छोटे-छोटे दाँत खिल जाते थे, यह देखकर माता आश्चर्यचकित हो जाती थीं।[4]

बच्चों का सर्वप्रथम क्रीड़ास्थल, न निर्मित क्रीड़ा का मैदान होता है और न सुसज्जित क्षेत्र। उनका प्रथम एवं प्रिय क्रीड़ास्थल धूलिपूर्ण स्थल ही बन जाता है। शिशु दमयन्ती ऐसे स्थल में ही रेणु-क्रीड़ा करने लगी। शैशवकाल में भी उसकी प्रौढ़ावस्था विचित्रता उत्पन्न कर रही थी—

अपि रेणुकृतक्रीडं नरेऽणुक्रीडयान्वितम्।
तस्याः प्रौढं शिशुत्वेऽपि वयो वैचित्र्यमावहत्॥[5]

---

१ नलचम्पू, तृतीय उच्छ्वास, पृष्ठ १७३ गद्यांश
२. वही, ३/२६ ३. वही, पृ० १७४
४. वही, पृष्ठ १७४ गद्यांश ५. वही, ३/२७

इस प्रकार शिशु दमयन्ती के अपूर्व लावण्य, मनोहारिणी बाललीलाओं, उसके घुटने के बल चलने, तोतली बोली बोलने आदि शिशु क्रियाओं तथा खेल-कूद में धूलि-धूसरित होने आदि के वर्णन के बाद कवि ने उसकी शिक्षा-दीक्षा, कला-निपुणता, व्यवहार-कुशलता आदि का अत्यन्त चित्ताकर्षक चित्रण किया है।

अपने माँ-बाप का प्यार पाकर उस (दमयन्ती) ने स्वेच्छया आहार-विहार करती हुई; अपने शैशवावस्था को बिताया। तदनन्तर उसकी शिक्षा-दीक्षा प्रारम्भ हुई। उसने सभी पुण्य कर्मों में निपुणता प्राप्त कर ली। निपुणता की प्राप्ति में पिता का निर्देश, गुरुजन का उपदेश, साधु तथा वृद्ध जनों की संगति एवं बुद्धि का विकास सहायक था।[१]

उक्त वातावरण तथा अद्भुत प्रतिभा का परिणाम यह हुआ कि दमयन्ती शैशवावस्था के समाप्त होते ही वीणावादन में निपुण, वंशानुकूल आचरण करने में धीर, द्यूतविधान में कुशल, सारिकाओं को खिलाने में निपुण, काव्यालोचन में कुशाग्रबुद्धि तथा अनाथों की चिकित्सा करने में चतुर हो गयी।[२]

अधिक क्या कहा जाय, कोई भी ज्ञान, कला, काव्यादि ऐसा नहीं था, जिसमें उसका प्रवेश न हो—

न तत्काव्यं न तन्नाट्यं न सा विद्या न सा कला।
यत्र तस्याः प्रबुद्धाया बुद्धिर्नैव व्यजृम्भत ॥[३]

'दमयन्ती की प्रज्ञा का स्फुरण सर्वत्र हुआ, चाहे वह काव्य हो या नाट्य, कोई विद्या हो या कला।'

उक्त प्रकार से शिशु दमयन्ती का यथार्थ एवं आह्लादकर चित्र खींचकर कवि ने काव्य-पाठकों के भी हृदय को अपनी ओर खींचने का सफल प्रयास किया है। अब तो दमयन्ती ने सर्वतोभावेन शैशवावस्था पारकर यौवनावस्था में प्रवेश कर लिया।

नलचम्पू के चतुर्थ उच्छ्वास में एक स्थल शैशव-चित्रण के लिए उपलब्ध होता है, जब दमयन्ती के पूछने पर हंस नल का परिचय देने के सन्दर्भ में, नल की उत्पत्ति का वर्णन करता है। निषध देश के राजा वीरसेन एक महान् वीर और यशस्वी राजा थे। उन्होंने सन्तान-प्राप्ति के लिए भगवान् शंकर को प्रसन्न कर मनोनुकूल वर प्राप्त कर लिया। कुछ समय के बाद उनकी प्रधान पत्नी (राजमहिषी) ने गर्भ धारण किया—

---

१. नलचम्पू, तृतीय उच्छ्वास, पृष्ठ १७५ गद्यांश
२. वही, पृष्ठ १७५   ३. वही, तृतीय उ०, २८

हर्षवर्धन की माता यशोमती का पुत्रवात्सल्य भी अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त है। उन्होंने तो अपनी संतानों को अपना सर्वस्व लुटा दिया है। उनका यह कहना कि 'बेटा, तुमने तो मेरे दूध के साथ मानो मेरा हृदय ही पी लिया—

'वत्स ! स्तन्येनैव सह त्वया पीतं मे हृदयम्।'

उनके पुत्र स्नेहसम्बन्धी मर्म का प्रकाशन करता है। सचमुच माता अपने बच्चे को केवल दूध ही नहीं पिलाती, प्रत्युत वह दूध के माध्यम से उसे अपने स्नेह को पिला देती है। दूध तो धायी भी पिलाती है, पर वह स्नेह नहीं पिला सकती।

उपर्युक्त दोनों संदर्भों में माता एवं पिता के पुत्र-वात्सल्य का जीता-जागता सहज चित्र खींचा गया है। यह बाणभट्ट की काव्य-प्रतिभा एवं कल्पना-वैभव की विशेषता है कि उन्होंने इस प्रकार का चित्र खींचा है।

दशकुमारचरित में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

दण्डी का जीवनवृत्त

दण्डी के जीवनवृत्त के विषय में 'अवन्तिसुन्दरीकथा' से कुछ ज्ञात होता है। उसके अनुसार 'मनोरथ' भारवि के मध्यम पुत्र थे और उनके (मनोरथ के) सबसे छोटे पुत्र वीरदत्त थे। वीरदत्त की पत्नी का नाम गौरी था। यही गौरी तथा वीरदत्त दण्डी के माता-पिता थे। दोनों की मृत्यु दण्डी के बचपन में ही हो गयी। माता-पिता के मरने के बाद वे कुछ दिन कांची में ही निराश्रय होकर रहे और तत्पश्चात् पल्लव-नरेश की सभा में रहने लगे। दण्डी का उक्त तथाकथित जीवन-वृत्त सन्देह के घेरे में है। जहाँ तक दण्डी के स्थितिकाल का प्रश्न है, वह भी विवादग्रस्त है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अनेक तर्क देकर दण्डी का स्थिति-काल सातवीं शताब्दी के अन्त तथा आठवीं के प्रारम्भ में माना है।[1]

रचनायें

राजशेखर के कथनानुसार दण्डी के तीन प्रबन्ध (ग्रन्थ) हैं—

'त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः'

इन तीनों ग्रन्थों में 'काव्यादर्श' नामक अलंकारशास्त्र का ग्रंथ निःसंदिग्ध रूप से दण्डी की रचना है। दूसरी रचना के रूप में 'दशकुमारचरित' का नाम लिया जाता है, जिसका मूलग्रन्थ 'अवन्तिसुन्दरीकथा' को माना जाता है। तीसरे ग्रंथ के रूप में 'दण्डिद्विसंधान' नामक महाकाव्य है।[2]

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ४३२-३४

२. वही, पृष्ठ ४३५–३६

दशकुमारचरित

'दशकुमारचरित' के विभिन्न संस्करणों की विवेचना करने पर इस ग्रन्थ के तीन खण्ड सिद्ध होते हैं। भूमिका, मूलग्रन्थ तथा पूरकभाग, जिनमें कुल १४ उच्छ्वास है। मूलग्रन्थ के आठ उच्छ्वासों में केवल आठ कुमारों के विचित्र वर्णन हैं। 'दशकुमारचरित' इस नाम की सार्थकता सिद्ध करने के लिए भूमिका (पूर्वपीठिका) में अन्य दो कुमारों के चरित को जोड़ दिया गया है। 'दशकुमारचरित' एक घटना-प्रधान ग्रन्थ है। पुष्पपुरी का राजा राजहंस पराजित होकर जंगल में चला जाता है। वहीं उससे राजवाहन-नामक पुत्र उत्पन्न होता है। उसके मंत्रियों को भी पुत्र उत्पन्न होते हैं। बड़े होने पर यात्रा के सन्दर्भ में चले जाते हैं।

दशकुमारचरित में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

'दशकुमारचरित' की पूर्वपीठिका के प्रथम उच्छ्वास में राजा राजहंस तथा उनके मंत्रियों (सुमति, सुमंत्र आदि) के पुत्रों के जन्म का वर्णन है।

राजा मानसार द्वारा पराजित होकर राजा 'राजहंस' तपस्वी वामदेव के पास गये और उनसे शत्रु का उन्मूलन कर, पुनः राज्य-प्राप्ति की इच्छा प्रकट की। इसीलिए उन्होंने तपस्या के विचार को सामने रखा। मुनिवर ने उनसे तपस्या के विचार को छोड़ देने का अनुरोध किया और उन्हें इस प्रकार आश्वस्त किया—

'सखे, शरीरकार्श्यकारिणा तपसालम्। वसुमतीगर्भस्थः सकलरिपुकुलमर्दनो राजनन्दनो नूनं संभविष्यति, कञ्चन कालं तूष्णीमास्स्व।'[1]

आकाशवाणी ने भी 'सत्यमेतत्'—'यह सच है', कहकर तपोधन की बात का समर्थन किया।

सौभाग्य से मुनिवर की वाणी सत्य हुयी और गर्भ के पूरा होने पर वसुमती ने, शुभ मुहुर्त में, सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त, एक पुत्र को जन्म दिया। तदनन्तर राजा ने सुविज्ञ पुरोहितों के द्वारा नवजात बालक का जातकर्म संस्कार कराया और उसका नाम 'राजवाहन' रखा।

'ततः सम्पूर्णगर्भदिवसा वसुमती सुमुहूर्ते सकललक्षणलक्षितं सुतमसूत। ब्रह्मवर्चसेनं तुलितवेधसं पुरोहितं पुरस्कृत्य कृत्यविन्महीपतिः कुमारं सुकुमारं जातसंस्कारेण बालालंकारेण च विराजमानं राजवाहननामानं व्यधत्त।'[2]

---

१. दशकुमारचरितम्, प्रथम उच्छ्वास, पृष्ठ २७

२. वही, प्रथम उच्छ्वास, पृष्ठ २७-२८

यह सुखद संयोग रहा कि उसी समय राजा के चार मंत्रियों को भी पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुयी। मन्त्री सुमति से प्रमति, सुमित्र से मित्रगुप्त और सुमन्त्र से मंत्रगुप्त तथा सुश्रुत से विश्रुत नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। राजहंस का पुत्र राजवाहन अपने मित्र मंत्रिपुत्रों के साथ खेलता हुआ दिनानुदिन बढ़ने लगा।[1]

आगे प्रथम उच्छ्वास के अन्त में कवि ने कुमार राजवाहन की शिक्षा-दीक्षा का वर्णन किया हैं। राजकुमार या कुमारों की बाल-क्रीड़ा का चित्रण नहीं है। केवल यही वर्णित है कि कुमारमण्डल के साथ बालक्रीड़ा करता था, नाना प्रकार की सवारियों के चढ़ने में निपुण राजवाहन ने क्रमशः चौल एवं उपनयन आदि संस्कारों को प्राप्त किया—

'एवं मिलितेन कुमारमण्डलेन सह बालकेलिरनुभवन्नधिरूढानेकवाहनो राजवाहनोऽनुक्रमेण चौलोपनयनादिसंस्कारजातमलभत।'[2]

उसके बाद राजवाहन ने समस्त लिपियों एवं भाषाओं का ज्ञान, अंगों सहित वेदों का ज्ञान, काव्य, नाटक आदि में निपुणता, संगीत तथा अस्त्र-शस्त्र आदि के कौशल को प्राप्त किया।

जैसा कि सर्वविदित हैं, पिता अपने पुत्र को सब विद्याओं तथा कलाओं आदि में निपुण देखकर, अति प्रसन्न होता है। पिता राजहंस भी अपने पुत्र राजवाहन (तथा अन्य कुमारों) को देखकर 'मैं शत्रुओं से अजेय हो गया' यह कहकर परम आनन्द को प्राप्त हुए —

'तत्तदाचार्येभ्यः सम्यग्लब्ध्वा यौवनेन विलसन्तं कुमारनिकटं निरीक्ष्य महीवल्लभः सः 'अहं शत्रुजनदुर्लभ' इति परमानन्दममन्दमविन्दत।'[3]

जैसा कि ऊपर उल्लिखित है, राजवाहन के साथ मंत्री सुमन्त्र के पुत्र मंत्रगुप्त, सुमित्र के पुत्र मित्रगुप्त, सुश्रुत के पुत्र विश्रुत एवं सुमति के पुत्र प्रमति की उत्पत्ति का उल्लेख मात्र हुआ है। इसी प्रकार मिथिलेश प्रहारवर्मा के पुत्रद्वय उपहार वर्मा तथा अपहार वर्मा एवं रत्नोद्भव के पुत्र पुष्पोद्भव तथा अर्थपाल और सोमदत्त नामक पुत्रों की उत्पत्ति का भी उल्लेख है। उत्तरपीठिका के अष्टम उच्छ्वास में एक अष्टवर्षीय बालक का उल्लेख हुआ है। विश्रुत के अनुसार वह भूखप्यास से अति व्याकुल था। विश्रुत ने उसे पानी देकर उसकी पिपासा की तथा लकुच वृक्ष के फल खिलाकर उसकी बुभुक्षा की शान्ति की।[4]

---

१. दशकुमारचरितम्, प्रथम उच्छ्वास, पृ० २८

२. वही, प्रथम उच्छ्वास, पृ० ४६

३. वही, प्रथम उच्छ्वास, पृष्ठ ४८

४. वही, उत्तरपीठिका, अष्टम उच्छ्वास, पृष्ठ १–२

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि उक्त सभी सन्दर्भों में बालकों की उत्पत्ति का उल्लेख मात्र है। केवल राजवाहन के संस्कार तथा विद्याध्ययन आदि का विशेष उल्लेख किया गया है। बालक्रीड़ा आदि का कोई चित्र-विशेष कहीं अंकित नहीं है। केवल एक सन्दर्भ का उल्लेख कर देना आवश्यक है, जिसमें पुत्र वात्सल्य का एक संक्षिप्त चित्र चित्रित हैं।

पूर्वपीठिका के चतुर्थ उल्लास में जब पुष्पोद्भव की १६ वर्षों बाद पिता रत्नोद्भव तथा माता सुवृत्ता से भेंट हुई, तो उसने अपनी माता को दण्डवत् प्रणाम किया और अपनी सारी कहानी सुनायी। पिता विकसितवदन तथा आश्चर्यचकित हो गये। परिचय होने पर माता-पिता दोनों ने एक दूसरे को पहचान लिया। दोनों (माता-पिता) ने 'पुष्पोद्भव' को गले लगा लिया। दोनों के नेत्रों से इतने आनन्दाश्रु प्रवाहित हुए कि वह (पुष्पोद्भव) आँसुओं से भींग गया। दोनों ने अपने पुत्र का माथा सूँघा।

इस प्रसंग में रत्नोद्भव तथा सुवृत्ता का पुत्र-वात्सल्य नितान्त मर्म-स्पर्शी तथा सजीव है। उनकी आँखों से प्रवाहित होने वाले आँसुओं ने उनके हृदयगत पुत्र-वात्सल्य को प्रकाशित कर दिया। चिरकाल के बाद प्राप्त अपने बच्चों का माथा सूँघकर दोनों ने अपने पुत्र-प्रेम को कृतार्थ किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि शैशवचित्रण में दण्डी की सहजतः प्रवृत्ति नहीं थी। राजवाहन की उत्पत्ति के बाद उसके माता-पिता आदि के आनन्द का वर्णन किया जा सकता था। इसी प्रकार उसकी बालचेष्टा, बालक्रीड़ा एवं बाललीला आदि का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता था, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। सम्भवतः वे सभी कुमारों की विस्तृत गाथा के वर्णन के प्रति अधिक उत्सुक थे।

नलचम्पू में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

त्रिविक्रमभट्ट का जीवनवृत्त

यह सुखद संयोग है कि त्रिविक्रमभट्ट का जीवनवृत्त सर्वथा अज्ञात नहीं है। उनके द्वारा नलचम्पू में किये गये उल्लेख तथा अन्य प्रमाणों से उनके जीवनवृत्त को प्रकाश में लाने में सुगमता होती है। नलचम्पू के प्रथम उच्छ्वास में किये गये उल्लेख के अनुसार त्रिविक्रमभट्ट के पिता का नाम 'नेमादित्य' तथा पितामह का नाम 'श्रीधर' था। उनके गोत्र का नाम शांडिल्य था। वे मानखेट के राष्ट्रवंशी राजा इन्द्रराज तृतीय के प्रमुख सभापण्डित थे। इन्द्रराज तृतीय का राज्याभिषेक ९१५ ई० में हुआ था। अतः उसी समय के लगभग त्रिविक्रमभट्ट का स्थितिकाल मानना ठीक होगा।

प्रश्न है, वह अपने उदात्त रूप में प्राप्त होता है। बालरूप राम, लक्ष्मण, भरत एवं शत्रुघ्न का स्वरूप, उनकी बालक्रीड़ायें आदि किसके मन को हर नहीं लेती ? इस ग्रन्थ में संयोग-वात्सल्य और वियोग-वात्सल्य भी अपने भव्य रूप में चित्रित हैं।

'चम्पूरामायण' के बालकाण्ड में राजा दशरथ की तीनों रानियों के द्वारा गर्भधारण से लेकर रामादि की उत्पत्ति और उनकी वाल्यावस्थाजनित क्रीड़ाओं-लीलाओं का काव्यमय वर्णन है।

कौशल्या के गर्भ से जब विष्णु के अवतार राम का जन्म (प्रादुर्भाव) हुआ तो, उस समय सूर्य, मंगल, गुरु, शुक्र तथा शनि नामक पाँच ग्रह उच्च स्थानों में थे। चन्द्रमा और बृहस्पति समान स्थान में विराजमान थे। तिथि नवमी, लग्न कर्क, नक्षत्र पुनर्वसु था और सूर्य मेष राशि में थे। राम का जन्म क्या हुआ, मानो समस्त राक्षस रूपी समिधा को जलाने के लिए एक अद्भुत तथा अभूतपूर्व तेज (राम नामक) ही पवित्र अयोध्यापुरी रूप मन्थन काष्ठ से उत्पन्न हो गया। वह तेज क्या था ? वह तो रामनाम से विख्यात भगवान् का साक्षात् रूप (अवतार) ही था। अतः यह कहना समीचीन है कि वाल्मीकि की वाणी को अमर बनाने वाले राम नामक भगवान् ने ही रघुवंश को अलंकृत किया—

अथ रामाभिधानेन कवेः सुरभयन् गिरः।
अलंचकार कारुण्याद्रघूणामन्वयं हरिः ॥[1]

रामजन्म के अनन्तर दक्षिण, आहवनीय तथा गार्हपत्य इन तीन नामों से प्रख्यात अग्नि के समान तेजस्वी और अपने गुणों से जेष्ठ भ्राता राम का अनुकरण करने वाले तीन भाई (भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न) भी उत्पन्न हुये। उन तीनों में विनयशील भरत की उत्पत्ति कैकेयी से तथा लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न की उत्पत्ति सुमित्रा से हुयी—

तमेनमन्वजायन्त त्रयस्त्रेताग्नितेजसः।
अग्रजस्यानुकुर्वन्तस्तैस्तैर्लोकोत्तरैर्गुणैः ॥
भरतस्तेषु कैकेय्यास्तनयो विनयोज्ज्वलः।
अन्यौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रायां कृतोदयौ ॥[2]

ये चारों राजकुमार लोकानुग्रह में प्रवीण भगवान् के चार हाथों की तरह दिनानुदिन बढ़ने लगे—

एते ववृधिरे वीरा ब्रह्मक्षेमाय दीक्षिताः।
लोकानन्दमुकुन्दस्य चत्वार इव बाहवः ॥[3]

---

१. बालकाण्ड. श्लोक ३० २. वही, श्लोक ३१–३२
३. वही, श्लोक ३३

कुछ समय के बाद महर्षि विश्वामित्र ने अपने यज्ञ की रक्षा के लिए जब दशरथ से लक्ष्मण सहित राम की याचना की—

'राजन्, भवतस्तनयेन विनयाभिरामेण रामेण शरासनमित्रेण सौमित्रिमात्र-परिजनेन क्रियमाणक्रतुरक्षो रक्षोदुरितमुत्तीर्य कृतावभृथो भवितुमभिलषामीति ।[1]

'राजन् ! आपके सुपुत्र विनयशाली राम केवल धनुष-बाण लेकर लक्ष्मण के साथ हमारे यज्ञ की रक्षा करें, इस प्रकार हम राक्षसकृत उपद्रवों से मुक्ति पाकर यज्ञान्तस्नान करके निश्चिन्त होना चाहते हैं ।'

इस प्रकार महर्षि के कर्णकटु वचनों को सुनकर पुत्र पर अटूट प्रेम रखने वाले दशरथ का हृदय चोट से आहत सा हो गया—

'एतदाकर्ण्य कर्णपरुषं महर्षिभाषितमतिमात्रपुत्रवात्सल्यात्कौसल्याजानिः सशल्यान्तःकरणोऽभूत् ।[2]

राजा दशरथ को पुत्रों की प्राप्ति बहुत क्लेशमय विलम्ब से हुई थी, अतः उनके हृदय में उनके प्रति अथाह वात्सल्यप्रेम भरा था । विशेषकर राम तो, उनके प्राण ही थे । उन्होंने अनेक प्रकार से विश्वामित्र से अनुनय-विनय भी किया, पर विश्वामित्र की याचना में कोई परिवर्तन नहीं हुआ । अपने गुरु वसिष्ठ के कहने पर राजा दशरथ को विश्वामित्र की अभिलाषा पूर्ण करनी ही पड़ी और उन्होंने जाने की अनुमति दे दी ।[3]

कुछ समय बीतने पर दशरथ ने जब सभी बातों का विचार कर और अपने प्रिय पुत्र राम में राज्यरक्षा रूप भार के वहन करने की क्षमता को देखकर उनका (राम का) राज्याभिषेक करने की अपनी इच्छा प्रकट की, तो सारी प्रजा उस समाचार से आनन्दविभोर हो गयी और दिग्दिगन्तर में हर्षजनित कोलाहल सुनाई पड़ने लगा—

आनन्दबाष्पविसरो वदने प्रजाना–
मार्विर्बभूव मकरन्द इवारविन्दे ।
रामस्य कान्तिमभिषेकदिने भवित्रीं–
प्रक्षाल्य चक्षुरिव वीक्षितुमादरेण ।।[4]

'कमलकोश में पराग की तरह प्रजाजन की आँखों में आनन्दाश्रु प्रवाह छलक उठा, मानो प्रजाजन अभिषेक के अवसर पर बढ़ी हुई राम के मुख की शोभा को भरपेट देखने के लिए अपनी-अपनी आँखों को (अश्रुजल से) धोकर साफ कर लेना चाहते हों ।'

---

१. बालकाण्ड, पृष्ठ ४० का गद्यांश २. वही, पृ० ४१

३. वही, पृष्ठ ४२ । ४. अयोध्याकाण्ड, श्लोक ४

अयोध्या में राज्याभिषेक के समाचार से एक आनन्द का स्रोत सा फूट पड़ता है। सारी मातायें, लक्ष्मण के सहित सम्पूर्ण प्रजाजन जब आनन्द के सागर में निमज्जित हो रहे थे, तो उसी समय कैकेयी ने पूर्व प्रदत्त दो वरों की याचना की। एक वर में भरत का राज्याभिषेक और दूसरे वर में मुनिवेश राम का वनवास।[1]

कैकेयी द्वारा याचित वरों के श्रवण मात्र से राजा दशरथ का हृदय अत्यन्त सन्तप्त हो गया। उनके कानों में वे दोनों वर ऐसे गूँजने लगे जैसे आग में तपाये गये ताम्र निर्मित बर्छे। वे (वर) मानो कानों को चीर कर उनके हृदय में प्रविष्ट हो गये, जिससे राजा का हृदय पुटपाक के समान जलने लगा।[2]

राम जैसे प्रियपुत्र के वियोग की बात सुनते ही, सन्तप्यमान राजा दशरथ के हृदय की चेतना, उसी तरह बाहर निकल गयी, जिस प्रकार दावाग्नि की लपटों से ग्रस्त वननिकुंज से निकल कर मृगी बाहर भाग जाती है।[3]

राम दशरथ के प्राण के समान प्रिय पुत्र थे। उनके बिना उनकी वही स्थिति थी, जो प्राण के बिना शरीर की होती है। उनका अधोलिखित कथन उनके अनुपम पुत्र-वात्सल्य का निःसंदिग्ध प्रमाण है—

> वत्सं कठोरहृदये नयनाभिरामं
> रामं विना न खलु तिष्ठति जीवितं मे।
> धातुर्बलादुपयमस्त्वयि जातपूर्वः
> कैकेयि मामुपयमं नयतीति मन्ये ॥[4]

'हे कठोरहृदये कैकेयि, राम जो सभी का प्यारा है, उसके बिना मेरा जीना असम्भव है—यह निश्चित है। इसलिये तुमको जिद्द छोड़ देनी चाहिये। अगर इस स्थिति को जानकर भी तुम नहीं बदलती हो तो, मानना होगा कि भाग्यवश तुम्हारे साथ हमारा जो 'उपयम' (विवाह) हुआ था, वही आज मुझे उपयम अर्थात् यम के समीप ले जा रहा है।'

दशरथ के इस प्रकार कहने पर भी कैकेयी के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और उसने जब यह कहा कि 'यदि आप राज्याभिषेक की तैयारी नहीं रोकेंगे, तो मैं आपके सामने ही विष खाकर मर जाऊँगी।'[5] कैकेयी के उक्त हठ को सुनकर दशरथ अत्यन्त शोक-सन्तप्त होकर कहने लगे—

---

१. अयोध्याकाण्ड, श्लोक ११ २. वही, श्लोक १२
३. वही, श्लोक १३ ४. वही, श्लोक १५
५. वही, श्लोक २० उत्तरार्द्ध।

नैवापमात्मजसुखान्यहमप्यनार्ये
नैवापमम्बु भरतेन न मे प्रदेयम् ।।[1]

अर्थात्, तुम्हारे इस कुकृत्य ने मुझे इस बुढ़ापे में पुत्र-सुख का भोग नहीं करने दिया। जो तुमने किया तो किया, परन्तु देखना तुम्हारे इस क्रूर आचरण से मर्माहत होकर में मर जाऊँ, तो भरत हमारा और्ध्वदैहिक कार्य (श्राद्ध) आदि न करें।'

दशरथ के इस वचन में जो क्रोध का अस्तित्व दिखायी देता है, उसके मूल में उनके प्रताड़ित पुत्र-वात्सल्य की वेदना है। भरत भी उनके पुत्र हैं और उनके प्रति भी उनका स्नेह वात्सल्यमय ही है, किन्तु दशरथ के मर्म को कैकेयी के क्रूर निर्णय ने इतना आहत कर दिया है कि वे उस प्रकार का बचन बोल रहे हैं। यहाँ दशरथ के कथन का मात्र इतना ही अभिप्राय है कि वे राम के वियोग में अपने प्राणों की रक्षा नहीं कर पायेंगे।[2]

राम ने कैकेयी की बातों को सुनकर अपने पिता की उपस्थिति में यह कहा कि 'यदि भरत के राज्याभिषेक का समाचार पिता जी के मुख से सुनने को मिलता तो, मेरे लिये अत्यन्त प्रियकर होता।' राम की उक्त बातों को सुनते ही दशरथ मूर्छित होकर, उसी प्रकार पृथ्वी पर गिर पड़े. जिस प्रकार वज्राहत पर्वत, वनाग्नि के मध्य जलने वाला वृक्ष और इन्द्र पद के भ्रंश से दुःखी नहुष गिर पड़ते हैं।[3]

अब तक दशरथ के वियोग-वात्सल्य का आकलन किया गया, उस पुत्र-वात्सल्यमयी कौसल्या के विदीर्ण हृदय का भी अनुशीलन कर लेना समीचीन है, जिन्होंने अपनी कोख से राम को जन्म दिया था और जो अपने पुत्र के राज्याभिषेक के समाचार से आनन्द के सागर में निमज्जन कर रही थीं।

वनवास हेतु कैकेयी की आज्ञा पाकर, जब राम ने अपनी माता के भवन में जाकर, उन्हें राज्याभिषेक के रुक जाने और अपने वनवास की सूचना दी, तो उनकी दशा विचित्र हो गयी। उनका हृदय विदीर्ण हो गया, ऐसा प्रतीत होने लगा कि जैसे किसी ने उनके कानों में विष से बुझा बाण घुसा दिया हो। वे पृथिवी पर सहसा गिर पड़ीं और विलाप करने लगीं—

सैतदाकर्ण्य विदीर्णहृदवा विषदिग्धमुखशिलीमुखविद्धश्रवणयुगलेव सहसा निपत्य विललाप।[1]

---

१. अयोध्या काण्ड, श्लोक २१ का उत्तरार्द्ध
२. वही, श्लोक २१
३. वही, श्लोक २६
४. वही, पृष्ठ १३१ गद्यांश

'अतिक्रामति तु कियत्यपि समये संपन्नसत्त्वा समपद्यत रूपवती ।'[1]

समय आने पर, अति प्रसन्न रानी रूपवती ने सुन्दर ग्रहों के उचित स्थान पर स्थित होने पर, उचित दिन और शुभ मुहूर्त में प्रातःकाल, राजवंश को तृप्त कर देने वाले पुत्ररत्न को उसी प्रकार उत्पन्न किया, जिस प्रकार अपनी लाल किरणों से उल्लसित कर देने वाले सूर्यमण्डल को आकाश, विद्युत्-विकास को उमड़ती हुई मेघमाला तथा विस्तृत अग्नि को अरणि (लकड़ी) उत्पन्न करती है ।[2]

पुत्र के जन्म से सूर्यवंशी राजा वीरसेन तथा उस नगर की ऐसी शोभा हुई कि स्वर्ग में रहने वाले देवता और स्वर्ग दोनों मानो जीत लिये गये—

> सांशुकोन्नतवंशस्य तस्य राज्ञः पुरस्य च ।
> बभूव लक्ष्मीः सा कापि यया स्वर्गोऽपि निर्जितः ।।[3]

पुत्रोत्पत्ति के समय सुसज्जित नगर की शोभा स्वर्ग से भी अधिक बढ़ गई और नवीन वंशाकुर की प्राप्ति से राजा भी अधिक महिमाशाली हो गये ।

पुत्रोत्पत्ति की खुशहाली में दान के रूप में मोतियों के हार को पाकर आबाल वृद्ध उनसे (हारों से) सुसज्जित हो गये ।[4]

नवजात राजकुमार इतना कान्तिमान् था कि उसने अपने भास्वर तेज से प्रसूति-गृह के दीपकों को भी निस्तेज कर दिया—

> अलङ्कृतनिशान्तेन तरुणारुणरोचिषा ।
> प्रदीपानां प्रभा तेन प्रभातेन यथा जिता ।।[5]

राजकुमार नल की उत्पत्ति उस काल में हुई थी, जब राजतन्त्र था । राजा देवता की भाँति पूज्य था । उन दिनों पुत्रोत्पत्ति से मात्र राजवंश ही नहीं प्रभावित होता था, बल्कि सभी लोग प्रभावित हो जाते थे । बहुत दिनों के बाद राजवंश ने नवीन अंकुर (पुत्र) धारण किया यह जानकर राजलक्ष्मी ने मानो स्वाँस लिया । प्रेमी लोग प्रसन्न हो उठे । नागरिक लोग नाचने लगे । बन्धु लोग प्रसन्न हो गये । द्वेषी लोग विदीर्ण हो गये । आकाश में मंगल बाजे बज उठे । अत्यन्त गाढे पराग बरसाते हुए फूलों की वृष्टि से आकाश चितकबरे रङ्ग का हो गया । दिगङ्गनाओं का मुखकमल खिल उठा । अत्यन्त सुखद एवं सुगन्धित वायु ने अपना विलास प्रदर्शित किया ! बन्दी बनाये गये शत्रुओं की पत्नियों ने स्वच्छन्दता का अनुभव किया । याचक लोग धनवान् जैसे हो गये ।[6]

---

१. नलचम्पू, चतुर्थ उच्छ्वास, पृष्ठ १९३
२. वही, पृष्ठ १९४
३. वही, ४/१०
४. वही, ४/११
५. वही, ४/१२
६. वही, पृष्ठ १९६–१९७

उस नवजात शिशु का अमित प्रभाव था—

अवृष्टिनष्टधूलीकमशरन्निर्मलाम्बरम् ।
अपीतमत्तलोकं च जगज्जन्मोत्सवेऽभवत् ॥[१]

उसके जन्मोत्सव में 'संसार वर्षा के बिना ही धूलिहीन हो गया। बिना शरत् काल आये ही आकाश निर्मल हो गया। बिना मदिरा पीये ही सब लोग मतवाले हो गये। यह सब उस नवजात शिशु का प्रभाव था।

राजकुमार का लालन-पालन होते जब छः दिन बीत गये और प्रसूति-दोष समाप्त हो गया, तो ब्राह्मणों ने शुभ दिन में उसका 'नल' यह सार्थक नाम रखा। यह नाम इसलिये रखा गया कि वह साधुओं की धर्म सम्पत्ति को नहीं लेगा क्योंकि 'नल' शब्द की व्युत्पत्ति से यही अर्थ निकलता है—'न लास्यति धर्म-धनान्येष साधुभ्यः।'

वह बालक इतना महान् और भाग्यशाली था कि उस बालक को चक्रवर्ती सम्राट् की रेखायें सेवक की तरह अलङ्कृत कर रही थीं अर्थात् उसके शरीर में चक्रवर्ती सम्राट् के लक्षण विद्यमान थे। जिनसे ज्ञात होता था कि वह समुद्रान्त पृथ्वी का विकास करेगा और सम्पूर्ण भूमण्डल पर शासन स्थापित करेगा।[२]

इस प्रकार वे राजकुमार उत्तरोत्तर शारीरिक विकास को प्राप्त करने लगे और यथासमय उनका चूडान्त संस्कार सम्पन्न हुआ। निमित्त मात्र के लिए अध्यापकों का अवलम्बन लेकर सम्पूर्ण पवित्र विद्याओं के सागर को अनायास ही पार कर लिया—

विरचितचूडाकरणादिसंस्कारक्रमश्च प्राप्ते विद्याग्रहणकाले निमित्तमात्री-कृतोपाध्यायः स्वयमेव समस्तानवद्यविद्याम्भोनिधः परं पारमवाप ॥[३]

उक्त सन्दर्भ को सन्दर्भित कर यदि सम्यक् विचार किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि कवि ने जिस प्रकार दमयन्ती का शैशव-चित्रण किया है, उस प्रकार उसने नल का शैशव-चित्रण नहीं किया है। 'नल राजकुमार हैं और भविष्य में चक्रवर्ती सम्राट् बनने वाले हैं', इस विन्दु को दृष्टिगत कर कवि ने उनके प्रभावतिशय तथा उत्पत्तिजनित हर्षोल्लास में ही अपनी रुचि दिखायी है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, वात्सल्य स्नेह अपने सन्तान के आयु की सीमा से नहीं बँधता। राजा वीरसेन ने सर्वगुण-सम्पन्न अपने युवापुत्र नल को मंगल-भूषण तथा वस्त्र पहना कर सिंहासन पर बैठा दिया और पुत्र-स्नेह के कारण स्वयं हाथ में स्वर्णदण्ड लेकर प्रतिहारी का कार्य सम्पन्न किया।[४]

---

१. नलचम्पू, ४/१३
२. वही, चतुर्थ उल्लास, पृष्ठ १९७
३. वही, पृष्ठ १९८
४. वही, पृष्ठ २३१

उक्त स्थल में अनेकानेक सेवकों एवं सहायकों के बावजूद अपने पुत्र राजकुमार नल के राज्याभिषेक के समय राजा वीरसेन द्वारा प्रतिहारी के दायित्व का वहन, उनके पुत्रवात्सल्यप्रेम की पराकाष्ठा का द्योतक है।

वियोग-वात्सल्य के एक सन्दर्भ को उद्धृत करना असमीचीन न होगा। जब राजा वीरसेन ने अपने पुत्र नल का राज्याभिषेक कर दिया, तब उनके मन में, सपत्नीक वानप्रस्थ आश्रम में जाने की अभिलाषा हुयी। उन्होंने अपने प्रिय पुत्र से भावविभोर होकर जो कुछ कहा वह निस्सन्देह उनके असीम पुत्र स्नेह का परिचायक है। उन्होंने कहा—'वत्स यदि तुम्हें दुःख न लगे तो कुछ कहूँ, यह कहकर उन्होंने अपनी इच्छा प्रकट की। उन्होंने कहा कि अब उनके लिए मृगमैत्री, जटाधारण तथा साधु-सान्निध्य आदि ही अभिप्रेत है, अलंकार, बन्धुबान्धव आदि नहीं।' इसके बाद उन्होंने 'हे चिरञ्जीविन्! तुम्हें देखा, पूछा, आलिंगित किया, क्षमा किया तथा अभद्र बातें भी कहीं', यह कहकर राजकुमार नल को अपनी गोद में बैठा लिया।' उस समय आँखों से अजस्र आँसू बहने के कारण उनके वक्षःस्थल भींग गये थे। बार-बार रोमांच होने के कारण अपनी कण्टकित भुजाओं से कसकर उन्होंने अपने बेटे का आलिंगन किया। उस समय उनकी दशा अत्यन्त दयनीय हो गयी और नल के शिर को सूँघकर पत्नी के साथ वन चले गये।[1]

उक्त सन्दर्भ का एक ऐसा सजीव बिम्ब आँखों के सामने नाचने लगता है जिसमें मानो पिता का पुत्र के प्रति वियोग-वात्सल्य ओत-प्रोत हो। यह सब कुछ कविवर त्रिविक्रम भट्ट की काव्यात्मक प्रतिभा और लोकोत्तर कल्पना-वैभव का ही प्रभाव है। शिशु-क्रीडा आदि के लिये नलचम्पू में विशेष अवसर न होने पर भी वात्सल्य का सजीव चित्रण नितान्त आनन्दकर तथा प्रभावशाली है।

चम्पूरामायण में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

भोज का जीवनवृत्त—

धारानरेश राजा भोज मालवा के परमारवंशीय प्रसिद्ध क्षत्रिय थे। उनके पिता का नाम सिन्धुराज था। भोजराज अपने पिता सिन्धुराज की मृत्यु के पश्चात् सिंहासन पर आरूढ़ हुये। उनके ताम्रपत्रों और दानपत्रों में उनकी अनेक उपाधियों ('परमभट्टारक', 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर', 'मालवनरेश' आदि) का उल्लेख हुआ है। उन्होंने अपनी राजधानी उज्जैन से हटाकर धारा में स्थापित की थी। इसलिये उन्हें 'धारेश्वर' भी कहा जाता है। उन्हें कविराज की पदवी से भी विभूषित किया गया है। यह उपाधि उन्हें इसलिये मिली थी कि

१ नलचम्पू, चतुर्थ उल्लास, पृष्ठ २३५।

वे विविध शास्त्रों के पारङ्गत विद्वान् होने के साथ ही, उच्च कोटि के कवि भी थे। साथ ही वे कवियों और विद्वानों के आश्रयदाता भी थे। उनकी दानवीरता तथा विद्वत्प्रियता के विषय में अनेक दन्तकथायें प्रचलित हैं।

भोजनामधारी अनेक व्यक्तियों का भी उल्लेख मिलता है। अनेक प्रमाणों के आधार पर यह माना जाता है कि वे ग्यारहवीं शताब्दी में विराजमान थे। अनेक विद्वानों ने भोज का राज्यारोहण दस सौ दस ई० के लगभग तथा उनके शासन की अवधि दस सौ बासठ ईसवी तक मानी है।[1]

ग्रन्थ

भोज का पाण्डित्य अनेक विषयों से सम्बन्धित था, इसलिए उन्होंने ज्योतिष, वैद्यक, दर्शन, धर्मशास्त्र, व्याकरण, अलङ्कारशास्त्र एवं चम्पूकाव्य पर अनेक पुस्तकों की रचना की। उनका 'समराङ्गणसूत्रधार' (शिल्पशास्त्र), सरस्वतीकण्ठाभरण, (अलङ्कारशास्त्र), शृंगारप्रकाश (अलङ्कारशास्त्र) तथा चम्पूरामायण (चम्पू) आदि ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं।

चम्पूरामायण

'चम्पूरामायण' 'चम्पू' नामक काव्यविधा के अन्तर्गत परिगणित है। गद्य-पद्यमयी रचना को चम्पू कहा जाता है।[2] चम्पूरामायण की कथा का मूल स्रोत वाल्मीकि-रामायण है। यद्यपि रामायण को आधार बनाकर ही चम्पूरामायण का प्रणयन हुआ है, तथापि रचयिता ने अपनी मौलिकता बनाये रखी है। यही कारण है कि चम्पू-रामायण और वाल्मीकिरामायण में साम्य और वैषम्य दोनों प्राप्त होता है। चम्पूरामायण में कुल छः काण्ड हैं—

१. बालकाण्ड	२. अयोध्याकाण्ड
३. अरण्यकाण्ड	४. किष्किन्धाकाण्ड
५. सुन्दरकाण्ड	६. युद्धकाण्ड

चम्पूरामायण में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

चम्पूरामायण का काव्यात्मक चमत्कार उत्कृष्ट कोटि का है। अलङ्कारों के प्रयोग, रसभाव की व्यंजना तथा चरित्र-चित्रण आदि की दृष्टि से यह काव्य-जगत् की उच्च भूमि में प्रतिष्ठित है। चम्पू-काव्य में उसके रचयिता की मौलिकता के दर्शन होते हैं। जहाँ तक चम्पूरामायण में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण का

---

१. डॉ० करुणालाल श्रीवास्तव : चम्पूरामायण का साहित्यिक परिशीलन, पृष्ठ २३

२. 'गद्यपद्यमयी वाणी चम्पूरित्यभिधीयते।'—दण्डी।

माता कौसल्या के कष्ट का आकलन इस दृष्टि से करना समीचीन होगा कि अपने प्रिय पुत्र के राज्याभिषेक को देखने के लिये उनका जो हृदय उल्लास से भर गया था और युवराज की माता बनकर जो एक अपूर्व आनन्द एवं कल्पना के झूले पर झूल रही थीं, उससे तो वे वंचित हो ही गयीं, दूसरे उनको अब अपने प्राण-प्रिय पुत्र का असह्य वियोग भी सहने की नौबत आ गयी। वस्तुतः उनके शोकसन्तप्त हृदय को उनकी जैसी विषम स्थिति में पड़ने वालीं माँ ही समझ सकती है।

चम्पूरामायण मे वह प्रसंग भी बेहद मार्मिक है, जब सुमन्त्र राम, लक्ष्मण तथा सीता को वन में छोडकर, अकेले अयोध्या में लौटते हैं। यूँ तो अकेले सुमन्त्र को देखकर, सारी अयोध्या बिलखने लगी, पर राम, लक्ष्मण और सीता से रहित सुमन्त्र को देखकर दशरथ की अजीब स्थिति हो गयी, वे पुनः चेतनाहीन हो गये। किसी प्रकार सुमित्रा और कौसल्या के द्वारा होश में आने पर उन्होंने गद्गद कण्ठ से सुमन्त्र से बार-बार यह पूछना प्रारम्भ कर दिया—'राम कैसे गये' सीता ने क्या कहा? और लक्ष्मण का क्या समाचार हैं?[1] सुमन्त्र के हृदय की भी बड़ी विचित्र स्थिति थी। उन्होंने किसी प्रकार धैर्य धारण कर दशरथ को सब कुछ सुनाया। परिणाम जो होना था, वही हुआ। अपने पुत्र-वात्सल्य की रक्षा करते हुये दशरथ ने पुत्रवियोग में अपने प्राणों का परित्याग कर दिया।

मुनिशापक्कतोत्पत्तिर्विपत्तिनिष्प्रतिक्रिया।
ततो दशरथायाशु दिदेश दशमीदशाम्॥[2]

इस प्रकार उन्होंने पुत्र-वात्सल्य के आदर्श को एक उच्च भूमि पर आसीन कर दिया।

शैशव-चित्रण की दृष्टि से उक्त विवेचन का मूल्यांकन करने पर यह सहजतः कहा जा सकता है कि चम्पू रामायण में मात्र राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न के संक्षिप्त वचनों के अतिरिक्त शिशु-क्रीड़ा आदि के लिये विशेष स्थान नहीं है। पर उसमें वियोग-वात्सल्य के अति भव्य चित्र चित्रित हैं। रामवनगमन एवं वन से सुमन्त्र के आने के दो स्थल ऐसे हैं, जिनमें वियोग-वात्सल्य का चित्रण उत्कृष्ट भूमि पर प्रतिबिम्बित है।

चम्पूभारत में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण

अनन्तभट्ट का जीवनवृत्त

चम्पूभारत के रचयिता अनन्तभट्ट के जीवनवृत्त के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। परम्परया यह सुना जाता है कि अनन्तभट्ट, 'भागवत-

---

१. अयोध्या काण्ड, पृष्ठ १६८ गद्यांश २. अयोध्या काण्ड ५९

चम्पू' के रचयिता अभिनव कालिदास के प्रतिस्पर्धी थे। उन्हीं की प्रतिस्पर्धा में अनन्तभट्ट ने भी 'भागवतचम्पू' और 'चम्पूभारत' की रचना की थी। यदि इस लोकप्रचलित कथा को आधार बनाया जाय तो अभिनव कालिदास तथा अनन्त भट्ट दोनों समकालिक सिद्ध होते हैं। अभिनव कालिदास का समय ग्यारहवीं शताब्दी माना जाता है। अतः अनन्त भट्ट का भी स्थिति-काल ग्यारहवीं शताब्दी में माना जा सकता है। अनन्तभट्ट रचित 'चम्पूभारत' से मालाबार निवासी नारायण भट्टात्रि ने अपने निबन्धों में बहुत से उदाहरणों को उद्धृत किया है तथा मानवेद ने 'भारतचम्पू' पर टीका लिखी है। मानवेद का समय सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। अतः अनन्त भट्ट भी १६ वीं शताब्दी के पूर्व रहे होंगे, ऐसा कहा जा सकता है। इन सब तथ्यों को ध्यान में रखकर अनन्त भट्ट का समय ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास मानने में कोई कठिनाई नहीं है।[1]

कृतियाँ

अनन्त भट्ट की दो कृतियाँ प्रकाश में आयी हैं, वे हैं—

१. भारतचम्पू या चम्पूभारत

२ भागवतचम्पू

चम्पूभारत—

चम्पूभारत एक विशालकाय चम्पू ग्रन्थ है। इसमें कुल १२ स्तबक हैं, जिनमें महाभारत की कथा संक्षिप्त रूप में काव्यात्मक ढंग से वर्णित है। इनमें कुल १०४१ श्लोक तथा २०० से अधिक गद्यखण्ड हैं। इसमें पाण्डवों के जन्म से लेकर, कौरवों के साथ होने वाली घटनाओं सहित राजसूय यज्ञ के पश्चात् युधिष्ठिर के राज्यारोहण का वृत्तान्त काव्यात्मक शैली में वर्णित है। चम्पूभारत की शैली वैदर्भी है। इसमें पदे-पदे कल्पना एवं काव्य-प्रतिभा के दर्शन होते हैं। अलंकारों का भी सम्यक् प्रयोग हुआ है।

चम्पूभारत में वात्सल्य एवं शैशव चित्रण—

चम्पूभारत के प्रथम स्तबक में पाण्डु-पुत्रों के जन्म का वर्णन करने के बाद कवि ने उनके शैशव का भी अत्यन्त चारु चित्रण किया है। इसी स्तबक में पाण्डु की दो पत्नियों (रानियों) कुन्ती और माद्री का भी वर्णन है। अनपत्यताजनित व्यथा से व्यथित पाण्डु की उक्ति भी मार्मिक है।

---

१. डॉ० छविनाथ त्रिपाठी : चम्पूकाव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन, पृष्ठ ११७-११८

एकबार शिकार करने के सन्दर्भ में पाण्डु ने एक पुरुष मृग को मार दिया। वस्तुतः वह 'किन्दम' नामक एक तपस्वी (ऋषि) था। मारे जाने पर पुरुष का रूप धारण कर उसने कहा कि वह 'किंदम' नामक ऋषि है। उसने शाप दिया कि 'तुम जब रतिपरायण होगे, तभी तुम्हारे प्राण छूट जायेंगे। इस शाप से दुःखी होकर पाण्डु अपनी दोनों रानियों 'कुन्ती' तथा 'माद्री' के साथ वन में रहने लगे। वहीं पाँचों पाण्डवों का जन्म हुआ।

अनपत्यता (निःसन्तानता) मनुष्य के लिये अत्यन्त दुःखदायी होती है। राजा पाण्डु भी उस दुःखदायी अनपत्यता से नितान्त पीडित थे। एक दिन उन्होंने दुःखी होकर अपनी पत्नी कुन्ती से कहा कि 'यद्यपि मैं सारी पृथिवी का अधिपति हूँ तथापि मुझे अपने में पूर्णता का ज्ञान नहीं हो रहा है। मनुष्य सन्तान से ही पूर्ण होता है। वेद-वचनों से भी यही बात प्रमाणित होती है। उन्होंने अपना यह दुःख प्रकट किया कि सन्तान के अभाव में उनका वंश भी उन्हीं तक अस्तित्व में रहेगा। पुत्रहीन व्यक्ति द्वारा अनुष्ठित श्रौत-स्मार्त कर्म फलप्रद नहीं होते।'[1]

सन्तानहीन व्यक्ति का हृदय सदा अपनी सन्तान को अपना प्यार उड़ेलने के लिए उतावला रहता है। उसकी दृष्टि में सबसे बड़ा भाग्यशाली वह है, जो हाथ में रखे हुये खिलौने के प्रति हँसकर समाकृष्ट होने वाले पुत्र का शिर सूँघ कर अपना प्रेम प्रकट करता है—

> अहं किमम्बा किमभीष्टतापदे तवेति मातुर्धुरि तातपृच्छया।
> प्रलोभतुल्यं प्रवदन्तमर्भकं मुदा हसञ्जिघ्रति मूर्ध्नि पुण्यभाक्॥[1]

'अजी बालक तुम मुझको अधिक प्यार करता है अथवा अपनी माता को? पिता द्वारा माता के सामने, इस प्रकार पूछे जाने पर, लड़का जिसके हाथ में अधिक लुभावना पदार्थ देखता है, उसी के विषय में अपना मन्तव्य प्रकट करता है। इस पर हँसता हुआ पुण्यत्मा पिता अपने पुत्र का शिर सूँघकर अपना प्रेम प्रकट करता है। ऐसा पिता धन्य है।

उक्त श्लोक में राजा पाण्डु की उक्ति में, न केवल उनका बल्कि समस्त सन्तानहीन प्राणी की, सन्तान प्राप्ति-विषयक लालसा की व्यंजना, साथ ही पुत्र का शिर सूँघकर अपना प्रेम प्रकट करने तथा अपूर्व सुख की प्राप्ति करने की स्पृहा का प्रकाशन है। राजा पाण्डु की उक्ति कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

---

१. चम्पूभारत, प्रथम स्तबक, श्लोक ३१, ३२ तथा ३३। २. वही, १/३४

चम्पू' के रचयिता अभिनव कालिदास के प्रतिस्पर्धी थे। उन्हीं की प्रतिस्पर्धा में अनन्तभट्ट ने भी 'भागवतचम्पू' और 'चम्पूभारत' की रचना की थी। यदि इस लोकप्रचलित कथा को आधार बनाया जाय तो अभिनव कालिदास तथा अनन्त भट्ट दोनों समकालिक सिद्ध होते हैं। अभिनव कालिदास का समय ग्यारहवीं शताब्दी माना जाता है। अतः अनन्त भट्ट का भी स्थिति-काल ग्यारहवीं शताब्दी में माना जा सकता है। अनन्तभट्ट रचित 'चम्पूभारत' से मालाबार निवासी नारायण भट्टात्रि ने अपने निबन्धों में बहुत से उदाहरणों को उद्धृत किया है तथा मानवेद ने 'भारतचम्पू' पर टीका लिखी है। मानवेद का समय सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। अतः अनन्त भट्ट भी १६ वीं शताब्दी के पूर्व रहे होंगे, ऐसा कहा जा सकता है। इन सब तथ्वों को ध्यान में रखकर अनन्त भट्ट का समय ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास मानने में कोई कठिनाई नहीं है।[१]

कृतियाँ

अनन्त भट्ट की दो कृतियाँ प्रकाश में आयी हैं, वे हैं—

१. भारतचम्पू या चम्पूभारत

२ भागवतचम्पू

चम्पूभारत—

चम्पूभारत एक विशालकाय चम्पू ग्रन्थ है। इसमें कुल १२ स्तबक हैं, जिनमें महाभारत की कथा संक्षिप्त रूप में काव्यात्मक ढंग से वर्णित है। इनमें कुल १०४१ श्लोक तथा २०० से अधिक गद्यखण्ड हैं। इसमें पाण्डवों के जन्म से लेकर, कौरवों के साथ होने वाली घटनाओं सहित राजसूय यज्ञ के पश्चात् युधिष्ठिर के राज्यारोहण का वृत्तान्त काव्यात्मक शैली में वर्णित है। चम्पूभारत की शैली वैदर्भी है। इसमें पदे-पदे कल्पना एवं काव्य-प्रतिभा के दर्शन होते हैं। अलंकारों का भी सम्यक् प्रयोग हुआ है।

चम्पूभारत में वात्सल्य एवं शैशव चित्रण—

चम्पूभारत के प्रथम स्तबक में पाण्डु-पुत्रों के जन्म का वर्णन करने के बाद कवि ने उनके शैशव का भी अत्यन्त चारु चित्रण किया है। इसी स्तबक में पाण्डु की दो पत्नियों (रानियों) कुन्ती और माद्री का भी वर्णन है। अनपत्यताजनित व्यथा से व्यथित पाण्डु की उक्ति भी मार्मिक है।

---

१. डॉ० छबिनाथ त्रिपाठी : चम्पूकाव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन, पृष्ठ ११७-११८

एकबार शिकार करने के सन्दर्भ में पाण्डु ने एक पुरुष मृग को मार दिया। वस्तुतः वह 'किन्दम' नामक एक तपस्वी (ऋषि) था। मारे जाने पर पुरुष का रूप धारण कर उसने कहा कि वह 'किंदम' नामक ऋषि है। उसने शाप दिया कि 'तुम जब रतिपरायण होगे, तभी तुम्हारे प्राण छूट जायेंगे। इस शाप से दुःखी होकर पाण्डु अपनी दोनों रानियों 'कुन्ती' तथा 'माद्री' के साथ वन में रहने लगे। वहीं पाँचों पाण्डवों का जन्म हुआ।

अनपत्यता (निःसन्तानता) मनुष्य के लिये अत्यन्त दुःखदायी होती है। राजा पाण्डु भी उस दुःखदायी अनपत्यता से नितान्त पीडित थे। एक दिन उन्होंने दुःखी होकर अपनी पत्नी कुन्ती से कहा कि 'यद्यपि मैं सारी पृथिवी का अधिपति हूँ तथापि मुझे अपने में पूर्णता का ज्ञान नहीं हो रहा है। मनुष्य सन्तान से ही पूर्ण होता है। वेद-वचनों से भी यही बात प्रमाणित होती है। उन्होंने अपना यह दुःख प्रकट किया कि सन्तान के अभाव में उनका वंश भी उन्हीं तक अस्तित्व में रहेगा। पुत्रहीन व्यक्ति द्वारा अनुष्ठित श्रौत-स्मार्त कर्म फलप्रद नहीं होते।'[1]

सन्तानहीन व्यक्ति का हृदय सदा अपनी सन्तान को अपना प्यार उड़ेलने के लिए उतावला रहता है। उसकी दृष्टि में सबसे बड़ा भाग्यशाली वह है, जो हाथ में रखे हुये खिलौने के प्रति हँसकर समाकृष्ट होने वाले पुत्र का शिर सूँघ कर अपना प्रेम प्रकट करता है—

> अहं किमम्बा किमभीष्टतापदे तवेति मातुर्धुरि तातपृच्छया।
> प्रलोभतुल्यं प्रवदन्तमर्भकं मुदा हसञ्जिघ्रति मूर्ध्नि पुण्यभाक्॥[2]

'अजी बालक तुम मुझको अधिक प्यार करता है अथवा अपनी माता को? पिता द्वारा माता के सामने, इस प्रकार पूछे जाने पर, लड़का जिसके हाथ में अधिक लुभावना पदार्थ देखता है, उसी के विषय में अपना मन्तव्य प्रकट करता है। इस पर हँसता हुआ पुण्यत्मा पिता अपने पुत्र का शिर सूँघकर अपना प्रेम प्रकट करता है। ऐसा पिता धन्य है।

उक्त श्लोक में राजा पाण्डु की उक्ति में, न केवल उनका बल्कि समस्त सन्तानहीन प्राणी की, सन्तान प्राप्ति-विषयक लालसा की व्यंजना, साथ ही पुत्र का शिर सूँघकर अपना प्रेम प्रकट करने तथा अपूर्व सुख की प्राप्ति करने की स्पृहा का प्रकाशन है। राजा पाण्डु की उक्ति कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

---

१. चम्पूभारत, प्रथम स्तबक, श्लोक ३१, ३२ तथा ३३। २. वही, १/३४

सन्तान द्वारा प्रयुक्त 'तात' यह सम्बोधन भी पिता के हृदय में एक अलौकिक हर्ष का जनक होता है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य भी है कि बच्चों के उक्त प्रकार के सम्बोधन में अनुपम आनन्द मिलता है। सन्तान के अभाव में 'तात' इस सम्बोधन से वंचित होने से दुःखी राजा (पाण्डु) की वेदना देखिये—

> कदापि तातशब्दस्य कल्पभूमिरुहामिव।
> नार्थीभवितुमर्हामि नरवाहनसंनिभः ॥[1]

'जिस प्रकार मैं कभी कल्पवृक्ष के आगे याचक नहीं हो सकता, उसी प्रकार 'तात' शब्द से पुकारा भी नहीं जा सकता। (मैं सर्वथा शोचनीय हूँ)'।

उन्हें (राजा पाण्डु को) इस बात का भी दुःख है कि सन्तति के अभाव में पिण्डोदक-क्रिया के लुप्त होने से पितरलोक उसी प्रकार उनकी निन्दा करेगा, जिस प्रकार श्रान्त पथिक छायाविहीन वृक्ष की निन्दा करता है।[2]

दुर्वासा ऋषि के वरदान के फलस्वरूप रानी कुन्ती ने धर्मराज (यम) के प्रसंग से धर्मराज युधिष्ठिर को, वायु के साथ प्रसंग से शत्रुभयंकर भीम को, इन्द्र के साथ प्रसंग करके अतिधीर अर्जुन को जन्म दिया। इसी प्रकार पाण्डु की दूसरी रानी माद्री ने मन्त्र प्रयोग द्वारा अश्विनी कुमार के सम्पर्क से नकुल और सहदेव नामक जुड़वे पुत्रों को जन्म दिया—

> धर्मात्प्राप युधिष्ठिरं पवनतो भीमं च भीमं द्विषां
> जिष्णोर्जिष्णुमतीव धृष्णुमनघा कुन्ती मुनेर्विद्यया।
> अन्या सापि तथैव तत्र नकुलं रूपास्पदं गीष्पतेः
> सच्छात्रं सहदेवमप्यजनयन्नासत्ययोरन्तिकात् ॥[3]

'पति की आज्ञा पालने के कारण नियोगजन्य पाप से अस्पृष्टा कुन्ती ने दुर्वासा द्वारा उपदिष्ट मंत्र के प्रभाव से धर्मराज के साथ प्रसङ्ग करके धर्मराज को और वायु के साथ प्रसङ्ग करके शत्रु-भयङ्कर भीमसेन को एवं इन्द्र के साथ प्रसङ्ग करके अतिधीर अर्जुन को जन्म दिया। पाण्डु की दूसरी रानी माद्री ने भी कुन्ती द्वारा बताये गये उसी मन्त्र के द्वारा अश्विनीकुमार को बुलाकर उनके साथ प्रसङ्ग किया, जिससे उनके अति सुन्दर तथा बृहस्पति के समान बुद्धिमान् नकुल और सहदेव नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुये।'

पुत्रोत्पत्ति के वर्णन के पश्चात् कवि ने पृथिवी लोक तथा ऊर्ध्वलोक में होने वाले अपूर्व उल्लास, गायन-वादन, पुष्प-वर्षण का उल्लेख किया है। पाँचों पाण्डु-

---

१. चम्पूभारत, प्रथम स्तबक ३६

२. चम्पूभारत, १/३५   ३. वही, १/४६

पुत्रों की उत्पत्ति के समाचार से मर्त्यलोक में ही नहीं, देवलोक में भी उत्सव होने लगे, अप्सराओं के साथ देवता भी प्रसन्न होकर नृत्य करने लगे, पृथिवी पर पुष्प-वृष्टि होने लगी। सर्वत्र सुखद वायु बहने लगा। इस प्रकार पूरा चराचर जगत् आनन्दमय हो गया।[1]

पाण्डुपुत्रों का जन्म वन में हुआ था। वन में धायी नहीं मिल सकती, बाजे नहीं बज सकते थे, उन्हें सुलाने के लिये झूले का प्रबन्ध नहीं हो सकता था, परन्तु उनके पालन-पोषण में प्रकृति ने तथा ऋषिपत्नियों ने साथ दिया। वे पाँचों राजकुमार वन में पड़ोसी ऋषिपत्नियों का दूध पीते थे, मधुर शब्द करने वाले वेणुओं की ध्वनि को सुनते थे और वल्कल पर सोते थे—

> तपस्विनीनां स्तनपायिनस्ते दरक्वणत्कीचकदत्तकर्णाः ।
> वने दिनान्ते वसुधेन्द्रपुत्रा वल्केषु निद्रासुखमन्वभूवन् ।।[2]

भूख जब लग जाती है तब बड़ा क्या छोटा, सभी खाने के लिये उतावले हो जाते हैं। उन्हें संसार में कुछ नहीं अच्छा लगता—'बुभुक्षितं न प्रतिभाति किंचित्'। छोटे बच्चों की तो बात ही नहीं पूछनी है। उन्हें भूख भी अधिक लगती है और वे भूख लगने पर शीघ्र ही अधीर भी हो जाते हैं। वे अपनी माता का स्तनपान करने के लिये उतावले हो जाते हैं। यह प्रवृत्ति केवल मानव में ही नहीं, प्राणिमात्र में पायी जाती है। यहाँ तो बड़ी विषम समस्या है। पुत्र तीन और स्तन मात्र दो। सबसे बड़ी बिडम्बना तो यह है कि उन तीन बच्चों में 'भीम' जैसा महान् बुभुक्षु पुत्र भी हैं, जिसका नाम ही वृकोदर है। उन तीन का दूध पीने की स्पर्धा में परस्पर लड़ना स्वाभाविक है। उनके झगड़ने पर माँ कुन्ती कैसे उनके झगड़ने का समाधान करती है, वह अधस्तन श्लोक में अत्यन्त सुन्दर ढंग से वर्णित है। किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये बच्चों का स्पर्धामूलक कलह भी तो प्रीतिकर ही होता है—

> क्षुत्पीडया स्तनरसे कलहं शिशूनां
> कुन्ती तदा शमयितुं कुचकुम्भयुग्मे ।
> एकं युधिष्ठिरधनञ्जययोश्च भाग-
> मेकं समीरणसुतस्य च संविभेजे ।।[1]

'कुन्ती के तीनों लड़के जब भूख की पीड़ा से स्तनपान में झगने लगे, तब कुन्ती ने अपने दोनों स्तनों का बँटवारा करके उनका झगड़ना छुड़ाया। उसने बड़े

---

१. चम्पूभारतम्, १/४७-५२ २. वही, १/५४

३. वही, १/५५

और छोटे युधिष्ठर तथा अर्जुन के लिये एक स्तन दिया और पूरा एक स्तन भीम के हिस्से में जाने दिया, क्योंकि भीम की भूख बड़ी थी, यदि उसे अधिक भाग नहीं मिलता तो कलह शान्त नहीं हो सकता था ॥'

पाँचों पाण्डुपुत्रों में भीम सबसे बड़े भीमकाय थे। उनके उतान होकर सोने का कितना मनोहर चित्रण है। इस वर्णन से बच्चे का एक स्वाभाविक तथा आकर्षक चित्र आँखों के सामने नाचने लगता है—

निशाचीः समं बाल्ये निर्याद्धुमिव कौतुकी।
उत्तानशयने मुष्टिमुदग्रां मारुतिर्दधौ ॥[1]

'बालक भीम शय्या पर चित लेटे हुए हैं, उनकी मुट्ठियाँ बँधी तथा ऊपर की ओर उठी हुयी हैं, वह ऐसी लगती हैं मानों वे राक्षसों के साथ युद्ध के लिये इस बाल्यावस्था में उत्कण्ठित हो, वे मुट्ठी बाँधकर राक्षसों को डरवा रहे हो।'

कुछ दिन बीतने पर युधिष्ठिर आदि पाँचों बच्चे हाथ और जानु के बल पर पृथिवी पर चलने लगे। उनके इस प्रकार के चलने की बाल-क्रिया को सामने रखकर कवि कल्पना करता है कि मानो वे बच्चे पृथिवी को माता समझ कर अपने पैर से उसे छूना नही चाहते। पृथिवी इसलिये उनकी माता है, क्योंकि उन बच्चों के पिता (राजा पाण्डु) की वह (पृथिवी) पत्नी है—राजा को पृथिवी का पति कहा ही जाता है—

पद्भिरात्मपितृयोषिति भूमौ स्पर्शनं परिहरन्त इवैते।
जानुभिः करसरोजसहायैश्चङ्क्रमं चमदकुर्वत बालाः ॥[2]

उक्त श्लोक में शिशु पाण्डवों की घुटने के बल चलने की बाल-क्रिया का सहज और आकर्षक वर्णन है। उनके इस प्रकार पृथिवी पर चलने की क्रिया सबके मन को चमत्कृत कर देती है।

शरीर से स्थूल, परिपुष्ट एवं नटखट शिशु अतीव मनोहर लगते हैं। उन्हें वात्सल्यभाववश सभी लोग अपनी गोद में लेकर आनन्दित होना चाहते हैं। इसी भाव को लेकर स्थूलकाय एवं चपल बालक भीम को तापसियों द्वारा गोद में लिये जाने का वर्णन कितना स्पृहणीय है?

आदाय भीममतिमांसलमुत्तमाङ्गेऽप्याघ्राय जानुकृतचङ्क्रममाश्रमान्ते।
बाहालतैव वहनाद्विरराम शश्वत्कौतूहलं न तु कदाचन तापसीनाम् ॥[3]

---

१. चम्पूभारतम्, १/५६
२. वही, १/५७ ३. वही, १/५८

'तापस ललनायें भीम को जो बड़ा स्थूल तथा बलवान् लड़का था, गोद में लेती थीं, उसका शिर चूमती थीं, ऐसा करने में उन तापस स्त्रियों के हाथ (गोद लेने में बोझिल भीम के भार से) भले ही थक जाते थे, परन्तु उस सुघड़ बालक को गोद में लेने से उनका मन नहीं भरता था।'

बालकों में अनुकरण करने की सहज प्रवृत्ति होती है। उनकी निगाहें अपने अभिभावक माँ-बाप तथा अपने समीप में रहने वाले प्रत्येक प्राणी के क्रिया-कलाप पर पड़ती रहती है। वे जब कभी कोई अवसर पाते हैं, अनुकरण करने लगते हैं। बाँस की लाठी पकड़ कर चलती हुयी तापसियों को बालक भीम ने कई बार देखा होगा, तो वे क्यों नहीं उनकी लाठी लेकर चल सकते हैं ? लाठी लेकर चलने वाले बालक भीम को लक्ष्य बनाकर कवि की उत्प्रेक्षा कितनी अनूठी है—

वृद्धतापसपुरःप्रसारितं वेणुदण्डमवलम्ब्य शैशवे।
भावयन्निव गदापरिग्रहं भाविनं पवनभूश्चचार सः ॥[1]

'बूढे तपस्वियों द्वारा अपने आगे रखी गयी बाँस की लाठी थामकर जब वायु-पुत्र भीम, अपनी बाल्यावस्था में चलते थे, तब ऐसा प्रतीत होता था मानो वह लोगों को सूचना दे रहे हों कि मैं कभी गदा ग्रहण करने वाला होऊँगा। बूढ़े की लाठी पकड़ कर भीम के चलने से लोग उनके गदा कुशल होने की उम्मीद करते थे।

धूलि-धूसरित होना बच्चों का सहज स्वरूप है। खेल के प्रति जन्मजात आकर्षण होने के कारण धनी-गरीब सभी के बच्चे बचपन में पूरे तन-मन से खेलते हैं। वे खेलने-कूदने में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि उनको शरीर के धूलि से धूसरित होने की कोई परवाह नहीं होती। बच्चों का यह स्वरूप मनोमुग्धकारी होता है। प्रत्येक प्राणी उक्त रूप में शिशुओं को देखकर अतीव आनन्दित हो जाता है। पाँचों पाण्डु-शिशुओं के धूलिकणमण्डित शरीर का कितना चित्ताकर्षक चित्रण है—

मुनिसुतैरविशेषजुषो वने मुहुरमी नवशैशवकेलिषु।
मलिनतामनयन्त कलेवरं मदकलाः कलभा इव धूलिभिः ॥[2]

'सर्वांशतः मुनि-पुत्रों के समान पाँचों पाण्डव, बाल्योचित नये-नये खेलों के प्रसङ्ग में धूल से अपने काय को उसी प्रकार मलिन बना लिया करते थे, जैसे मस्त हाथी के बच्चे अपनी देह पर धूल उछाल लिया करते हैं।'

---

१. चम्पूभारतम्, १/५९ २. वही, १/६०

कविवर अनन्तभट्ट सामुद्रिक विद्या के भी सुविज्ञ पण्डित थे। उन्हें यह ज्ञात है कि राजाओं के पैरों के तलवे में ध्वज-छत्र-वज्र के चिह्न अंकित होते हैं। पाण्डु-पुत्रों के पैरों के नीचे भी ऐसे साम्राज्य-सूचक चिह्न थे। वे चिह्न पृथिवी पर पड़े उनके पैरों के निशानों से ज्ञात होते थे। एतद्विषयक कवि की सूक्ष्मदृष्टि द्रष्टव्य है—

तत्र तत्र मृदुपांसुषु पाण्डोः पुत्रपादतलविन्यसनेन।
छत्रकेतुकुलिशैः स्फुटरेखैश्चित्रवत्यभवदाश्रमभूमिः॥[1]

'कोमल धूलि राशि पर पाण्डु शिशुओं के पैरों के रखने से, पड़े हुये छत्र-केतु तथा वज्र के चिह्नों से वह आश्रम-भूमि भर गयी थी। उन चिह्नों से उनके साम्राज्य की सूचना मिल रही थी।'

शिशुओं की मन्द-मुस्कान तथा मुस्कराने के समय उनके विवृत मुखों से लार का गिरना नितान्त स्वाभाविक है। पाण्डु के छोटे-छोटे बच्चों के उक्त प्रकार के स्वरूप को देखकर कवि की कितनी अनूठी कल्पना है—

लीलास्मितैः सृक्वियुगाद्गलद्भिर्लालाजलानां पृषतैर्बृहद्भिः।
बाला दधुस्ते हृदि मौक्तिकानां माला धुतोल्लेखनरन्ध्रसूत्राः॥[2]

पाण्डुबालकों के मन्द मुस्कान के समय जो लार टपकती थी, उसकी बूंदें मोती के समान धवल थीं। उनके साथ स्मित हास की आभामयी किरणों का जब मेल होता था तो वे मुक्ता माला का रूप धारण कर लेती थीं अर्थात् उस समय उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता था, मानों वे बच्चे वर्तुलाकार मोती की मालायें पहने हैं।

तोतली बोली (अस्फुट वाणी) शिशुओं की ऐसी अमूल्य थाती है कि उसको सुनने के लिये माँ-बाप के अतिरिक्त अन्य लोग भी लालायित रहते हैं। बच्चे जब आपस में टूटी-फूटी बोली में अपने भाव का प्रकाशन करते हैं तो वह अतीव आह्लादकर होता है। पाँचों पाण्डु-बच्चों में केवल 'भीमसेन' ऐसे हैं जिनके नाम का आधा भाग (अर्थात् भीम) भी उच्चारित होकर सम्पूर्ण अपेक्षित अर्थ (भीम=डराने वाला) को प्रकट कर देता है। परन्तु अन्य नामों, युधिष्ठिर, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव, में ऐसी स्थिति नहीं है। उनमें से किसी की भी स्थिति ऐसी नहीं है, जिनका उन बच्चों द्वारा उच्चारण किया गया आधा भाग अभीष्ट अभिप्राय की सम्यक् पूर्ति कर पाता। यह बच्चों का स्वभाव है कि वे अपनी

---

१. चम्पूभारतम्, १/६१   २. वही, १/६२

तोतली बोली में अधूरे नाम या अन्य किसी शब्द रूप का उच्चारण कर सम्बोधित करते हैं। पाण्डु के बच्चे भी आपस में, एक दूसरे का अधूरा नामोच्चारण, अपनी तोतली बोली में करते हैं—

अत्यन्तबाल्यादमृतायिताभिरन्योन्यमर्धोक्तिभिराह्वयत्सु ।
स भीमसेनोऽजनि पाण्डुपुत्रेष्वर्धोक्तनामापि च पूर्णनामा ।।[1]

छोटे-छोटे बच्चों का जब समूह उपस्थित होता है तो वे परस्पर मिल कर खेलने के उपाय एवं साधनों का संग्रह करते हैं। उस प्रकार का उनका समवेत प्रयास बहुत लुभावना होता है। वन में पाण्डु के बच्चे भी मुनियों के बच्चों से मिलकर लताओं के तनों को तीन-चार बार लपेट कर झूला बनाते। लीजिये इस सन्दर्भ को कवि के शब्दों में वर्णित देखिये—

तैरादराद्वनलतासु दृढ़ीकृतासु दोलाविधेः परिचितस्य महर्षिपुत्रैः ।
पर्यायलब्धमसकृत्पवमानसूनोरारोहणं द्रुतमभूदवसानभूमिः ।।[2]

'मुनिपुत्रों के साथ मिलकर पाण्डुपुत्र लताओं को बारी-बारी से तीन-चार बार लपेटकर, उसी का झूला बनाते थे और उसी पर चढ़कर प्रेमपूर्वक झूलते थे। जब शिशु भीम की बारी आती थी, तब उनके चढ़ते ही वह झूला टूट जाता था।'

इस श्लोक में शिशु भीम के शरीर का भारीपन द्योतित होता है। यह भी एक ऐसे क्रीडाशील बालवृन्द का सजीव बिम्ब है, जिसमें कोई स्थूलकाय (भीम जैसा) शिशु भी सम्मिलित हो।

पाँचों पाँण्डुपुत्रों में भीम और अर्जुन की भिन्न एवं विशेष स्थिति थी। भीम जहाँ स्थूलकाय अल्पबुद्धि वाले बलवान् थे, अर्जुन वहीं सुगठित शरीर वाले अभिमानी बलवान् थे। इन दोनों के वास्तविक स्वरूप को प्रकाशित करने के लिये बच्चों द्वारा हाथी पर आरोहण करने को, कवि अनन्त भट्ट के शब्दों में देखना आवश्यक है –

भीमेन दन्तयुगले विधृतं यमन्ये वन्येभमारुरुहुरद्रिनिभं सगर्भ्याः ।
शुण्डां प्रगृह्य विजयः स्वयमेव मानी तं लीलया रदपथेन समारुरोह ।।[3]

'सभी बच्चों को चढ़ने के लिये दाँत को पकड़कर तथा हाथी को निश्चल बनाकर यदि भीम ने अपनी शक्तिमत्ता का परिचय दिया तो, अभिमानी वीर अर्जुन ने भीम की सहायता के बिना सूँड़ के माध्यम से ही हाथी की पीठ पर आरोहण कर अपने वीरता-मण्डित स्वाभिमान का भी परिचय दे डाला।'

---

१. चम्पूभारतम्, १/६३
२. वही, १/६५ ३. वही, १/६६

उक्त प्रकार से खेलने-कूदने एवं बाललीला करते हुये उन पाँच पाण्डु-पुत्रों को देखकर कुन्ती बहुत आनन्दित होती थीं। विशेष रूप से उनके हृदय को माद्री के जुड़वा पुत्र नकुल और सहदेव ने प्रफुल्लित किया।[१]

जब वे पाँचों बच्चे कुछ बड़े हुए तो, शास्त्र विधि के अनुसार उनका उपनयन संस्कार हुआ। उनका शरीर रमणीय यौवन से पूर्ण हुआ, उनका शिर विनय से नम्र हुआ तथा उन्होंने सारी कलाओं में कौशल प्राप्त कर लिया। परिणामस्वरूप उनका यश सागर के पार और स्वर्गलोक के भी ऊपर फैल गया।

उक्त शैशव चित्रण को पृष्ठभूमि में रखकर विचार करने पर, यह कहना सर्वथा समीचीन है कि चम्पूभारत में शैशव-चित्रण महत्त्वपूर्ण स्थान को प्राप्त है। उसमें शिशु-जगत् की प्रायः वे सभी क्रियायें जैसे मातृ-स्तन-पान करने, घुटनों के बल चलने, तोतली बोली बोलने, खेल-कूद में संलग्न रहने से शरीर के धूलि-धूसरित होने तथा बारी-बारी से झूला-झूलने एवं हाथी पर चढ़ने आदि, इस चम्पूकाव्य में सजीव रूप से चित्रित हैं। अनन्तभट्ट द्वारा चित्रित किये गये बाल्य जीवन की क्रियायें और लीलायें आँखों के सामने एक बिम्ब सा खड़ा कर देतीं हैं। इससे उनकी दो विशेषताएँ प्रकाश में आती हैं। पहली यह कि वे शिशु-मनोविज्ञान तथा बालसुलभ क्रियाओं-लीलाओं-क्रीड़ाओं के मर्मज्ञ हैं। दूसरी यह कि वे वास्तविक रूप में बालस्वरूप एवं बालोचित क्रिया-कलाप आदि को चित्रित करने में नितान्त पटु हैं। निस्सन्देह चम्पूभारत का यह शैशव-चित्रण संस्कृत-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

---

१. चम्पूभारतम्, १/६४

सप्तम अध्याय

उपसंहार

- शैशव-चित्रण का मूल्याङ्कन
- तुलनात्मक विवेचन
- निष्कर्ष

उपसंहार

वात्सल्य एवं शैशव चित्रण का मूल्यांकन

संस्कृत-वाङ्मय का काव्यभाग अपनी सभी विधाओं से परिपूर्ण है। सामान्य रूप से काव्य का वर्गीकरण कई दृष्टियों से किया जाता है, जैसे आकार की दृष्टि से, बन्ध की दृष्टि से, भाषा की दृष्टि से, अर्थ-रमणीयता की दृष्टि से, इन्द्रियग्राह्यता की दृष्टि से तथा प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से। इन सभी वर्गीकरण के आधारों में इन्द्रिय-ग्राह्यता के आधार पर काव्य के दो भेद होते हैं। १. दृश्य, २. श्रव्य। दृश्य को ही 'नाट्य' अथवा 'रूपक' या 'रूप' भी कहते हैं। संस्कृत के महाकवियों ने काव्य के दोनों भेदों को अपनी प्रशस्य रचनाओं से मण्डित किया है। उनमें चर-अचर-जगत् का बाह्य और आभ्यन्तर स्वरूप अंकित है। मानव सभी प्राणियों में श्रेष्ठ है। अतः उसका तो सम्पूर्ण जीवन ही काव्यों में चित्रित है। शैशवावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक का समग्र मानवीय जीवन संस्कृत काव्यों में बिम्बित सा है। जहाँ तक शैशवावस्था के चित्रण का प्रश्न है, उसने भी संस्कृत काव्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। शिशु के प्रति प्राणिमात्र के हृदय में, एक अपूर्व वात्सल्य-स्नेह होता है, चाहे प्राणी मनुष्य हो अथवा पशु या पक्षी। मानव चूँकि ज्ञानवान् प्राणी है, इसलिये उसके समक्ष मात्र वर्तमान ही नहीं रहता, अपितु अतीत और भविष्य भी रहता है। वह संतान-प्राप्ति के लिये लालायित भी रहता है। सन्तान को प्राप्त कर वह कितना आनन्द-विभोर होता है, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। वह सन्तान-प्राप्ति के लिये चेष्टा करता है तथा उसकी प्राप्ति हो जाने पर एक अलौकिक आनन्द की प्राप्ति करता है। वह अपने शिशु की क्रीडाओं, लीलाओं तथा चेष्टाओं को देख-देखकर असीम सुख पाता है। शिशु का संयोग जहाँ उसके लिये आनन्ददायक होता है, वहीं उसका वियोग दुःखदायी भी होता है। इन सारी बातों की पृष्ठभूमि में वात्सल्य एवं शैशवचित्रण, संस्कृत काव्यों में स्थान पा सका है।

प्रथम अध्याय

शोध-प्रबन्ध को कुल सात अध्यायों में विभाजित करके विचार किया गया है। 'विषय-प्रवेश' नामक प्रथम अध्याय, एक प्रकार से, शोध-प्रबन्ध की पृष्ठ-भूमि के रूप में प्रस्तुत है। प्रथम खण्ड में 'शिशु' तथा उसके पर्यायवाची 'अर्भक', 'पृथुक', 'शावक', 'बाल', 'दारक', 'कुमार' आदि शब्दों की व्युत्पत्ति देकर उनके

व्युत्पत्तिलभ्य अर्थों पर प्रकाश डाला गया है। इसी सन्दर्भ में 'सन्तान' और 'अपत्य' शब्द का भी विचार किया गया है। साथ ही शैशव, शिशुत्व तथा बाल्य इन समानार्थक शब्दों की वैयाकरण-मीमांसा की गयी है। तदनन्तर सम्पूर्ण मानव-जीवन की विभिन्न अवस्थाओं को दृष्टिपथ में लाया गया है। साथ ही धर्मशास्त्रों में मानव के लिये निर्धारित १६ संस्कारों की भी चर्चा की गयी है और संस्कारों के लिये निर्धारित आयु की भी मीमांसा की गयी है। शैशवावस्था की आयु-सीमा निर्धारित करने का भी प्रयत्न किया गया है।

'शिशु' और 'बाल' ये दो शब्द ऐसे हैं, जो समानार्थक रूप से वाङ्मय में प्रयुक्त हुये हैं। यत्र-तत्र इन दोनों की आयु सीमा के विषय में कुछ कहा गया है, परन्तु इससे कोई निर्णयात्मक निष्कर्ष नहीं निकलता।[1] वस्तुतः 'बाल' भी समानार्थक ही है। वैजयन्ती कोशकार ने 'शिशुत्वं शैशवं बाल्यम्' कहकर 'शिशु' और 'बाल' को समानार्थक माना है।

उक्त सभी बातों को दृष्टि में रखकर हमने शैशवावस्था को १६ वर्ष की आयु तक मान्य किया है और यह स्पष्ट किया है कि उत्पत्ति से लेकर विद्यारम्भ के पूर्व तक शैशव की पूर्वावस्था है और विद्यारम्भ से लेकर १६ वर्ष की आयु तक उसकी परावस्था है।[2] इस बिन्दु को भी प्रकाश में लाया गया है कि माता-पिता और गुरुजन की दृष्टि में, सन्तान चाहे जिस किसी अवस्था की हो, वह उनके सामने वात्सल्यस्नेह की भाजन ही होती है। उत्तररामचरित में अरुन्धती ने तरुणी सीता के लिये 'शिशु' शब्द का प्रयोग किया है।

जहाँ तक संस्कृत काव्यों में 'शिशु' अथवा उसके समानार्थक शब्दों के प्रयोग का प्रश्न है, उनमें 'अर्भक' 'शिशु' 'बाल' 'कुमार' 'दारक' आदि शब्दों का प्रयोग बहुलता से हुआ है, परन्तु 'पोत' 'पाक' 'पृथुक' 'डिम्भ' आदि शब्दों के प्रयोग की स्थिति अत्यन्त नगण्य है।

प्रथम खण्ड के द्वितीय भाग के अन्तर्गत 'शिशु' के विविध विकासों तथा उनको प्रभावित करने वाले तत्त्वों पर विशद प्रकाश डाला गया है। विकास को भी मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया गया है। एक शिशु का गर्भकालीन विकास और दूसरा जन्म ग्रहण के बाद का विकास। गर्भकालीन विकास में माता के आहार, व्यसन, स्वास्थ्य आदि को मुख्य प्रभावकारी तत्त्व माना गया है। जहाँ तक बच्चे के संस्कार का प्रश्न है उसके लिये माता के आचार-विचार तथा संगति को भी प्रभावकारी तत्त्वों में परिगृहीत किया गया है। गर्भकाल में मुख्य रूप से गर्भस्थ शिशु का शारीरिक तथा क्रियात्मक विकास होता है और उस पर

---

१. द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ, प्रथम अध्याय   २. द्रष्टव्य, वही, प्रथम अध्याय

भी माता के प्रभाव को स्पष्ट किया गया है। गर्भस्थ शिशु के विकास-विचार के बाद नवजात शिशु के शारीरिक, क्रियात्मक, बौद्धिक, भाषागत, सामाजिक, नैतिक आदि विकास तथा उसके प्रभावकारी तत्त्वों की विशद विवेचना की गयी है।[1]

प्रथम खण्ड के तीसरे भाग 'बालक-बालिका के शिशुत्व की एकता एवं विभिन्नता' के अन्तर्गत प्रथम अध्याय में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि गर्भस्थ शिशु चाहे बालक हो या बालिका, उसका शारीरिक विकास समान रूप से होता है, परन्तु लिंगभेद के कारण उनमें विभिन्नता भी होती है। शिशु में जब बोध की स्थिति हो जाती है तो उनमें भेद की स्थिति भी स्पष्टतः परिलक्षित होने लगती है। यह कहा जा चुका है कि बालक-बालिकाओं में कई बातों में परस्पर समानता होने पर भी, उनमें यौन अथवा सामाजिक कारणों से भिन्नता भी होती है।[2]

'काव्य में शैशव चित्रण की भावात्मक पृष्ठभूमि' नामक द्वितीय खण्ड के अन्तर्गत कवि-सृष्टि (काव्य) को ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा श्रेष्ठ बताकर, काव्य-प्रयोजन पर अति संक्षिप्त प्रकाश डालते हुए, इस तथ्य का प्रकाशन किया गया है कि काव्य में प्राणिमात्र में श्रेष्ठ मानव के समग्रजीवन का चित्र प्रस्तुत होता है। शैशव-जीवन उसका अपवाद नहीं हो सकता। शिशु अथवा सन्तान के प्रति उसके माता-पिता आदि का सहज आकर्षण, ममता तथा वात्सल्यस्नेह होता है। वह उसके संयोग में सुखी और वियोग में दुःखी होता है। यह स्थिति समान रूप से मानव, पशु तथा पक्षी आदि में पायी जाती है। अतः भावमय काव्य में शैशव-चित्रण की भावात्मक पृष्ठभूमि अपने आप बन जाती है। सन्तान के प्रति, विशेषतः पुत्र के प्रति, मानव के अतिशय लगाव के और भी अनेक (पितृ-ऋण से मुक्ति, वंशपरम्परा के कायम रहने की स्थिति) कारण हैं। उस पर शोध-प्रबन्ध में विशेष रूप से विवेचनात्मक चर्चा की गयी है। चूँकि संस्कृत काव्यशास्त्रियों की दृष्टि में आनन्द (रस) काव्य का मुख्य प्रयोजन है और उसका पूरा अंग-प्रत्यंग भावात्मक है, अतः शैशव की भावात्मक स्थिति पर भी कवियों की दृष्टि गयी है। फलतः वात्सल्य रस के प्रसंग में अनेक शैशवचित्र काव्यों में चित्रित किये गये हैं। शोध-प्रबन्ध के अन्तर्गत जहाँ-जहाँ काव्यों में शैशव-प्रसंग आया है, वहाँ-वहाँ उक्त भावात्मक रूप के भी दर्शन होते हैं। यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि संस्कृत-काव्यों में शैशव-चित्रण की भावात्मक पृष्ठभूमि अपने भव्य-रूप में दिखाई देती है।

---

१. द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ, प्रथम अध्यायपृष्ठ २२

२. वही, पृष्ठ १४–१६

'वात्सल्य रस तथा शैशव-चित्रण' इस तृतीय खण्ड के अन्तर्गत 'रस' शब्द की व्युत्पत्ति, उसके अर्थ एवं रस-निष्पत्ति पर प्रकाश डालते हुये मम्मट के अनुसार रस के स्वरूप को प्रस्तुत किया गया है। साथ ही रस के अंग--विभाव, अनुभाव आदि तथा रस-संख्या एवं सभी रसों के स्थायी भाव आदि को स्पष्ट करते हुये नौ रसों के अतिरिक्त भक्ति तथा वात्सल्य रस को भी विचार का विषय बनाया गया है। वात्सल्य-रस के चिन्तन-प्रसंग में 'वत्स', 'वत्सल' एवं 'वात्सल्य' शब्द को भी मीमांसित किया गया है तथा साहित्यदर्पणकार के अनुसार वात्सल्य रस की परिभाषा और उदाहरण देकर यह स्पष्ट किया गया है कि रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत के साथ ही रघुवंश, शाकुन्तल आदि संस्कृत के काव्यों में वात्सल्य रस को स्थान मिला है। वात्सल्य रस की उक्त प्रतिष्ठा समीचीन ही है। क्योंकि वात्सल्य रस का पूरा ढाँचा ही शैशव-जीवन पर खड़ा है। अत: शैशव-चित्रण के सन्दर्भ में वात्सल्य रस की उपस्थिति सर्वथा समीचीन, संगत तथा सहज है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि संस्कृत-काव्यों में वात्सल्य रस के संयोग की अपेक्षा, उसका वियोग पक्ष अधिक समादृत हुआ है। यहाँ एक और तथ्य का उल्लेख कर देना समीचीन है, वह है मानव के हृदय में सन्तान-हीनता-जनित दुःख और सन्तान-प्राप्ति की उत्कट लालसा। इसका भी चित्रण संस्कृत काव्यों में उदात्त रूप में हुआ है। इन सब बातों पर प्रथम अध्याय के तृतीय खण्ड के अन्तर्गत विवेचनात्मक तथा समीक्षात्मक प्रकाश डाला गया है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अन्त में वात्सल्य रस विषयक आचार्यों के विभिन्न मतों का उल्लेख भी किया गया है।

द्वितीय अध्याय

उपजीव्य काव्यों में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण शीर्षक वाले द्वितीय अध्याय में उपजीव्य काव्य के रूप में वाल्मीकीय रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागबत को लिया गया है। वाल्मीकिरामायण में सर्वप्रथम सन्तानाभाव के कारण दशरथ के दुःख के वर्णनानन्तर दशरथ के चारों पुत्रों की उत्पत्ति तथा जन्मोत्सव आदि पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है और यह बताया गया है कि वाल्मीकिरामायण में शिशु-लीला, क्रीडा आदि के लिये विशेष स्थान नहीं है। उसमें कतिपय मार्मिक प्रसंग अवश्य हैं, जिनमें अपेक्षानुसार वात्सल्य के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का अति चारु उद्घाटन हुआ है। उन प्रसंगों में दो-तीन का उल्लेख कर देना प्रासंगिक है। रामराज्याभिषेक के अवसर पर कैकेयी द्वारा माँगे गये राम-वनवास रूप वर के कारण पूरी अयोध्या में कुहराम सा मच जाता है। माता कौसल्या एवं दशरथ, उनमें भी दशरथ के आहत वात्सल्य-स्नेह का जितना अच्छा प्रकाशन

रामायण में हुआ है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। विश्वामित्र द्वारा राम की याचना के अवसर पर भी दशरथ के व्यथित वात्सल्य-स्नेह का अच्छा उद्घाटन हुआ है। इसी प्रकार राम आदि को छोड़कर लौटे सुमन्त्र को देखकर दशरथ का शोक उद्भूत हो जाता है। राम की भाँति सीता के प्रति कौसल्या और दशरथ के वात्सल्य स्नेह की स्थिति भी वैसी ही है। निस्सन्देह रामायण कथा का वरयाचन तथा राम-वन-गमन सन्दर्भ नितान्त भावात्मक है और उसमें करुण-वात्सल्य का अतीव सजीव चित्र चित्रित है। वियोग अथवा करुण-वात्सल्य का उक्त चित्र सम्पूर्ण संस्कृत काव्य-जगत् की निस्सन्देह अनुपम थाती है।

इस अध्याय के 'महाभारत में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण' नामक दूसरे भाग में महाभारत के स्वरूप तथा वैशिष्ट्य के वर्णनानन्तर कौरव-पाण्डवों की उत्पत्ति की वर्णना की गयी है। यद्यपि महाभारत में सन्तानोत्पत्ति के अनेक प्रसंग हैं, परन्तु उनमें से कौरवों, पाण्डवों तथा शकुन्तला के पुत्र सर्वदमन को सन्दर्भित किया गया है। कौरवों के जन्म प्रसंग में एक बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है, वह यह कि सौ पुत्रों को पाकर भी गान्धारी की सन्तान-प्राप्ति विषयक लालसा संतृप्त नहीं हो पाती। अतः वे एक पुत्री की कामना करती हैं। उनकी इस कामना की पृष्ठभूमि में दौहित्र और जामाता हैं। यह सन्दर्भ अपने आप में इसलिये महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि संस्कृत में पुत्री के प्रति वात्सल्यस्नेह के तो, शकुन्तला, दमयन्ती, महाश्वेता तथा पार्वती आदि के वर्णन-प्रसंगों में, अनेक उदाहरण मिलते हैं, परन्तु कन्या-प्राप्ति की कामना से सम्बन्धित सन्दर्भों का अभाव है।

इसी अध्याय में कैकेयी और पाण्डवों के नामकरण आदि संस्कारों का उल्लेख करते हुए, उनकी विविध बाल-क्रीडाओं का विशद वर्णन है और बाल क्रीडाओं के प्रति दर्शकों आदि के आकर्षण में भीमसेन प्रमुख कड़ी के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं, इसको भी दर्शाया गया है। बालक्रीडा के सन्दर्भ में बालकों की चपलता आदि के दर्शन तो होते हैं, पर उनके किसी हानिकारक सुनियोजित षड्यन्त्र के दर्शन नहीं होते। परन्तु बालकौरव-पाण्डव-क्रीडा के प्रसंग में भीम को विनष्ट करने सम्बन्धी दुर्योधन का षड्यन्त्र भी अपने आप में अकेला है। भीम के लापता होने पर कुन्ती का वियोग-वात्सल्य अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ है।

इसी अध्याय में शकुन्तला के पुत्र सर्वदमन के शैशव-जीवन को भी विचार पथ पर लाया गया है। जिनकी क्रीडा के उपकरण पशुओं के बच्चे हैं और सभी पशुओं के बच्चों का दमन करने के कारण उनका 'सर्वदमन' यह नाम भी सार्थक है। यहीं पर धर्मपुत्री शकुन्तला के प्रति वीतरागी महर्षि कण्व के वात्सल्य स्नेह की भी चर्चा की गयी है। शकुन्तला विषयक कण्व का दिव्य एवं अलौकिक स्नेह भी सहृदयों के द्वारा सदा स्मरण किया जायेगा।

उक्त प्रसंगों के अतिरिक्त द्रौपदी के पाँच पतियों से, पाँच पुत्रों के जन्म आदि का वृत्तान्त आया है। परन्तु उनकी नगण्य स्थिति को समझकर उनकी चर्चा मात्र की गयी है।

श्रीमद्भागवत में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण शीर्षकमूलक तृतीय भाग में श्रीमद्भागवत में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण की स्थिति पर विचार किया गया है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के द्वितीय अध्याय में बन्दीगृह में देवकी के गर्भ से भगवान् श्रीकृष्ण का जन्म (प्राकट्य) होता है। जन्म लेते ही उस बालक का जो स्वरूप वसुदेव के सामने दृष्टि-गोचर हुआ, उससे उनके हृदय में एक अपूर्व आश्चर्यमय आनन्द का प्रादुर्भाव हुआ। आश्चर्य इसलिये कि उनका नवजात पुत्र अद्भुत रूप से युक्त था और आनन्द इसलिये कि वे अब अवतारी पुत्र के पिता बन गये थे। पिता वसुदेव तथा माता देवकी ने उस बालावतार की हाथ जोड़कर वन्दना की और उस बालक ने उन दोनों लोगों से अपने प्रति निरन्तर पुत्रभाव और ब्रह्मभाव रखने के लिए कहा। पुत्र तो हो गया, पर उसके माता-पिता के सामने कंस से उसकी रक्षा का भार उपस्थित हो जाता है। इसी प्रकार वसुदेव ने नन्द के यहाँ अपने इस नवजात शिशु को छोड़कर उनकी नवजात कन्या को ले लिया। यह प्रसंग नितान्त मार्मिक तथा हृदयस्पर्शी है। अपनी चिरप्रतिक्षित सन्तान कृष्ण को पाने पर वसुदेव एवं देवकी के हृदय में जो एक अपूर्व वात्सल्य स्नेह का भाव उमड़ा, वह राक्षस कंस के भय से नितान्त आहत हुआ। इस सन्दर्भ में करुणवात्सल्य का अत्यन्त भावमय चित्र चित्रित है, जो अपने आप में बेजोड़ है। श्रीमद्भागवत में नन्द के यहाँ महान् पुत्रोत्सव हुआ, जिसकी विवेचना इस अध्याय में की गयी है। श्रीकृष्ण के पहले उत्पन्न बलराम के जन्म-प्रसंग पर भी प्रकाश डाला गया है और आगे श्याम और बलराम दोनों की शिशु-क्रीड़ाओं, चेष्टाओं का काव्यात्मक वर्णन किया गया है। जहाँ तक बालकृष्ण का प्रश्न है, उनके माध्यम से श्रीमद्भागवत में जिस प्रकार का बालस्वभाव, क्रीड़ा, लीला का वर्णन दशम स्कन्ध में मिलता है, वह संस्कृत-साहित्य का ही नहीं, अपितु विश्व-साहित्य का अप्रतिम अध्याय है। इसका विवेचन इस अध्याय में किया गया है। साथ ही श्रीकृष्ण की उन अद्भुत और अलौकिक लीलाओं को भी सन्दर्भित किया गया है जो श्रीमद्भागवत में वर्णित है।

श्रीमद्भागवत का वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण निस्सन्देह अनुपम है। बाल-लीला के लिये तो वह सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य में अकेला है। श्रीमद्भागवत में बाललीला के वर्णन की जिस परम्परा का श्रीगणेश हुआ है, वह संस्कृत के अतिरिक्त ब्रजभाषा, हिन्दी आदि के साहित्य में भी गतिशील हुई है। इससे बढ़कर

श्रीमद्भागवत के बालवर्णन का सही मूल्यांकन और क्या हो सकता है कि उसके द्वारा प्रारम्भ की गयी परम्परा का परवर्ती साहित्य में अतिशय समादर हुआ।

तृतीय अध्याय

तृतीय अध्याय के अन्तर्गत भास, कालिदास एवं अश्वघोष के काव्यों के वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण को विचारणीय बनाया गया है। इसीलिये इस अध्याय का नाम 'भास, कालिदास एवं अश्वघोष के काव्यों में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण' रखा गया है। इसको चार भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम भाग में भास के मात्र दो नाटकों 'बालचरित' तथा 'प्रतिमानाटक', द्वितीय भाग में कालिदास के दो महाकाव्यों, 'रघुवंश' तथा 'कुमारसम्भव', तृतीय में कालिदास के नाटकों, 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय' तथा 'अभिज्ञानशाकुन्तल' तथा चतुर्थ में अश्वघोष के दो महाकाव्यों 'बुद्धचरित' एवं 'सौन्दरनन्द' को विवेचनीय बनाया गया है।

तृतीय अध्याय में 'भास' के नाटकों में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण नामक प्रथम खण्ड में भास के 'बालचरित' का प्रथमतः विचार किया गया है। इसमें कृष्ण की लीलाओं का विशेष रूप से वर्णन है। कृष्णजन्म, नन्द के संरक्षण में उनको देने, कृष्ण द्वारा कालिय नाग सहित राक्षसों के दमन, कंसवध आदि की घटनायें विवेचित की गयी हैं। श्रीमद्भागवत की भाँति यहाँ भी कंस के भय से पुत्रवती देवकी तथा पुत्रवान् वसुदेव के वात्सल्य को करुणा से ओत-प्रोत रूप में प्रकाशित किया गया है। नवजात शिशु कृष्ण के प्रति देवकी-वसुदेव का प्रवाहित वात्सल्य समुद्घाटित होकर किस प्रकार सहृदय के हृदय को रससिक्त करता है, इसको भी बताया गया है। इस नाटक में बाल्यावस्था में अवस्थित कृष्ण की जो लीलायें हैं, वे अत्यन्त अद्भुत तथा आश्चर्यकर हैं। थोड़ी अवस्था बढ़ने पर कृष्ण के द्वारा कंस का वध एक महत्त्वपूर्ण घटना है, जिसके कारण वे समाज में अत्यन्त समादर के भाजन बनते हैं। बालचरित का श्रीगणेश तथा समापन दोनों वात्सल्य भाव से ओत-प्रोत है। भास के दूसरे नाटक 'प्रतिमानाटक' में बालक्रीड़ा आदि के लिये कोई स्थान नहीं है, पर उसमें रामवनगमन के अवसर पर दशरथ का मर्मभेदी करुण वात्सल्य निश्चित ही महत्त्वपूर्ण है।

'कालिदास के महाकाव्यों में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण' नामक द्वितीय भाग में प्रथमतः 'कुमारसम्भव' को वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण की विवेचना का विषय बनाया गया है। उसमें भी पहले हिमालय की पुत्री पार्वती के जन्म तथा जन्म से होने वाले उनकी माता मैना व पिता पर्वतराज (हिमालय) के आनन्द का उल्लेख करते हुए पार्वती की शिक्षा-दीक्षा की विवेचना की गयी है। कुमारसम्भव

का दूसरा स्थल कुमार 'कार्तिकेय' की उत्पत्ति है, जहाँ उनको माता पार्वती का वात्सल्यानन्द पराकाष्ठा पर पहुँचता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शंकर-पार्वती का वात्सल्यानन्द नितान्त स्पृहणीय है। इसी के अनुरूप पुत्रोत्सव भी है, जिसमें समस्त चराचर जगत् भाग लेता है। कुमार कार्तिकेय के बालरूप, बालस्वभाव, बालक्रीड़ा तथा लीला का जितना सजीव एवं बिम्बग्राही चित्रण कुमारसम्भव में है, वह अन्यत्र निश्चय ही दुर्लभ है। कुमारसम्भव में भी पार्वती का वात्सल्य मानवेतर बालवृक्षों को भी अपने कृपा का भाजन बनाता है।

कुमारसम्भव के बाद रघुवंश के वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण को विचार-पथ पर लाया गया है। सन्तानाभाव की दशा में दिलीप की सबसे बड़ी चिन्ता यह है कि पुत्र के अभाव में पितृऋण से मुक्ति कैसे मिले? नन्दिनी की सेवा से उन्हें 'रघु' नामक पुत्र की प्राप्ति हुई। कवि ने दिलीप के आनन्द को अति संक्षिप्त ढंग से वर्णित किया है। आगे के पुत्रोत्पत्ति प्रसंगों में दशरथ के चार पुत्रों का प्रसंग महत्वपूर्ण है, जिनका सक्षेप मे ही सही, कवि ने उल्लेख किया है। एक बात उल्लेखनीय है कि कवि ने राम, लक्ष्मण तथा भरत-शत्रुघ्न की परस्पर घनिष्ठ प्रीति का भी उल्लेख किया है। सर्वांशतः विचार करने पर रघुवंश में शैशव-चित्रण की कोई स्थिति नहीं बनती, इसको स्पष्ट किया गया है।

'कालिदास के नाटकों में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण' नामक तृतीय भाग में कालिदास के नाटकों को परिगृहीत किया गया है। उनमें से 'मालविकाग्निमित्र' में शैशव-चित्रण की कोई स्थिति नहीं है। विक्रमोर्वशीय में कुमार 'आयु' को देखकर पुरुरवा और उर्वशी के हृदय में उत्पन्न वात्सल्य स्नेह का उल्लेख किया गया है, पर उसमें भी शैशव-चित्रण की कोई स्थिति नहीं है, इस तथ्य का प्रकाशन किया गया है।

जहाँ तक 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का प्रश्न है, इसमें उक्त दोनों नाटकों की अपेक्षा शैशव और वात्सल्य चित्रण के लिए विशेष अवसर है। शाकुन्तल में सन्तानाभाव के कारण दुष्यन्त के दुःख, बालक सर्वदमन की सिंहशावक के साथ बालक्रीड़ा, उसके प्रति दुष्यन्त-शकुन्तला के वात्सल्य-स्नेह, शकुन्तला की विदायी के समय कण्व के करुण वात्सल्य आदि का अत्यन्त सुन्दर विवेचन दृष्टिगत किया गया है। सर्वदमन के दर्शन से दुष्यन्त के हृदय में जिस प्रकार का वात्सल्य-स्नेह जागता है, उसका प्रकाशन शाकुन्तल में जिन शब्दों में किया गया है, वह अत्यन्त आह्लादकर है। इसी प्रकार शकुन्तला के प्रति कण्व का वात्सल्य भी अतिशय चारु है। वस्तुतः वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण की दृष्टि से शाकुन्तल का

सप्तम अंक नितान्त महत्त्वपूर्ण है। मानवेतर प्राणियों तथा अचर प्रकृति के प्रति वात्सल्य की दृष्टि से शाकुन्तल का चतुर्थ अंक नितान्त महनीय हैं, इन सभी तथ्यों का विवेचन चतुर्थ अध्याय में किया गया है।

अश्वघोष के महाकाव्यों में वात्सल्य एवम् शैशव-चित्रण' नामक चतुर्थ भाग में सर्वप्रथम 'बुद्धचरित' में शैशव-चित्रण की स्थिति पर विचार किया गया है और विचार करके यह बताया गया है कि उसमें राजा शुद्धोदन की पत्नी माया के गर्भ से, उनके पार्श्व भाग से एक पुत्र का जन्म होता है, जो जन्म लेते ही सात पग चलकर अलौकिक तथा भव्यवाणी का उद्घोष करता है। वहीं से उसके माता-पिता के हृदय में जो वात्सल्य सम्बन्धी आनन्द है, नाना शंकाओं से आपूरित हो जाता है और उस प्रकार की स्थिति पुत्र सिद्धार्थ के संन्यास ग्रहण करने तक बनी रहती है। बुद्धचरित में करुण-वात्सल्य के लिये भी अच्छा अवसर है। एतदर्थं बुद्ध का गृहत्याग, बुद्ध को छोड़कर लौटे हुए कन्थक के आगमन के प्रसंग द्रष्टव्य हैं। यह कहा जा सकता है कि यद्यपि बुद्धचरित में बालसुलभ क्रीड़ाओं, लीलाओं आदि के लिये कोई विशेष स्थान नहीं है, पर वात्सल्य के दोनों पक्षों संयोग तथा वियोग को सम्मान मिला है। उसमें पुत्रानन्द की जगह धर्मानन्द की प्राप्ति भी हुई हैं। 'सौन्दरनन्द' में सुन्दर की उत्पत्ति का प्रसंग मात्र चर्चित है।

चतुर्थ अध्याय

'कालिदास के परवर्ती प्रमुख महाकाव्यों में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण' नामक चतुर्थ अध्याय में भट्टि के 'भट्टिकाव्य', कुमारदास के 'जानकीहरण' माघ के 'शिशुपालवध', श्रीहर्ष के 'नैषधीयचरित' को लिया गया है। भट्टिकाव्य में दशरथ के चारों पुत्रों की उत्पत्ति और उनके संस्कार की चर्चा मात्र है। इतना अवश्य है कि उसमें विश्वामित्र द्वारा राम की याचना, राम वनगमन तथा वन से सुमन्त्र का लौटना, ये तीन प्रसंग ऐसे हैं जिसमें करुण वात्सल्य अथवा वियोग वात्सल्य का अच्छा परिपाक हुआ है। कुमारदास के 'जानकीहरण' में बालक राम के सुन्दर स्वरूप का वर्णन अत्यन्त प्रीतिकर है। छोटे-छोटे चार दाँतों, धूल-धूसरित कपोलों तथा मिटे हुए अंजन का टीका से युक्त राम का रूप, बालक स्वरूप का एक सजीव चित्र प्रस्तुत कर देता है। उसमें दशरथ के चारों बेटों की पारस्परिक स्पर्धा का भी भव्य निदर्शन है। इस प्रकार पितृप्रेम और बालस्पर्धा की दृष्टि से 'जानकी-हरण' का शैशवचित्रण नितान्त महनीय है।

माघ के 'शिशुपालवध' में श्लेष के माध्यम से प्रातः-संध्या के वर्णन प्रसंग में बालिका का और सूर्योदय के वर्णन-प्रसंग में बालोचित क्रियाओं से युक्त बालक का चित्र आँखों के सामने नाचने लगता है। 'नैषधीयचरित' में भी बालचित्रण के

लिए कोई अवसर नहीं। हंस के विलाप में करुण वात्सल्य और पक्षिशावकों का चित्र अवश्य उभड़ता है। बिल्हण के 'विक्रमाङ्कदेवचरित' में पुत्राभाव की व्यथा से व्यथित आहवमल्लदेव की हार्दिक पीड़ा का अच्छा दिग्दर्शन हुआ है। पुत्र की प्राप्ति पर राजा का आनन्द सीमा का उल्लंघन कर जाता है। इस महाकाव्य में बाल विक्रमादित्य की बालसुलभ क्रीड़ा, लीला और चेष्टा का अच्छा प्रकाशन हुआ है। सचमुच विक्रमादित्य के शैशव-चित्रण और वियोग-वात्सल्य की दृष्टि से 'विक्रमांकदेवचरित' महत्त्वपूर्ण है।

पञ्चम अध्याय

'कालिदास के परवर्ती नाटकों में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण' नामक पञ्चम अध्याय में शूद्रक के 'मृच्छकटिक' हर्षवर्धन के 'नागानन्द' तथा भवभूति के 'मालतीमाधव', 'महावीरचरित' तथा उत्तररामचरित' को विचारणीय बनाया गया है। 'मृच्छकटिक' में चारुदत्त के पुत्र बालक रोहसेन का खिलौना के प्रति बालसुलभ आकर्षण तथा बालस्वभाव का प्रकाशन हुआ है। साथ ही वसन्तसेना का आहत वात्सल्य भी चित्रित हुआ है। हर्षवर्धन के नागानन्द में शैशव-चित्रण के लिए कोई स्थान नहीं है, यह बताया जा चुका है। उसमें गरुड़ के भक्षण के लिए शंखचूड के जाने के प्रसंग में जीमूतवाहन के, गरुड़ के समक्ष उपस्थित होने से उसके माता-पिता के हृदय का करुणवात्सल्य बहुत ही अच्छे ढंग से चित्रित हुआ है। इस दृष्टि से मूल्यांकन करने पर नागानन्द सर्वोत्तम रचना के रूप में सामने आता है।

भवभूति के तीन नाटकों में से सर्वप्रथम 'मालतीमाधव' पर विचार किया गया है। उसमें साक्षात् रूप से बालचेष्टा, बाललीला, बालक्रीड़ा आदि के लिए कोई अवसर नहीं है। केवल मालती के लापता होने पर बौद्ध संन्यासिनी कामंदकी के शोकपूर्ण वचनों में करुण वात्सल्य तथा मालती की शैशवावस्था का चित्र बिम्बित होता है। 'महावीरचरित' में मात्र एक प्रसंग ऐसा है जिसमें वात्सल्य स्नेह का उद्घाटन हुआ है। जनकपुरी में उपस्थित राम के प्रति राजा जनक का वात्सल्य-प्रेम जाग जाता है। अन्य कोई भी शैशव चित्र वहाँ उपस्थित नहीं है।

भवभूति के नाटकों में 'उत्तररामचरित' एक ऐसा नाटक है, जिसमें संयोग वात्सल्य तथा वियोग वात्सल्य दोनों का अच्छा समुद्घाटन हुआ है। उसमें लव-कुश के प्रति सीता का; लव, कुश और चद्रकेतु के प्रति राम का, चन्द्रकेतु के प्रति सुमन्त्र का, लव के प्रति कौसल्या का वात्सल्य जागृत होकर जिस प्रकार सहृदय के हृदय को आह्लादित करता है, वह नितान्त आनन्दकर है। सीता के प्रति कौसल्या, अरुन्धती तथा जनक का करुण वात्सल्य भी अत्यन्त चारु ढंग से व्यंजित

हुआ है। वात्सल्य के अतिरिक्त लव, चंद्रकेतु के शैशव स्वभाव, उनकी बालचेष्टा आदि का तथा जनक के द्वारा सीता की स्मृति में की गयी उक्तियों में सीता का शैशव रूप आँखों के सामने नाचने लगता है। बालसुलभ चेष्टा और क्रीड़ा आदि के लिए वाल्मीकि का आश्रम और अश्वमेध अश्व की रक्षा के सन्दर्भ में लव और चन्द्रकेतु के वाग्युद्ध को दृष्टिगत करना अपेक्षित है। 'उत्तररामचरित' के सप्तम अंक के अन्त में लव, कुश, राम, सीता, जनक आदि के मिलन में एक अतीव आनन्ददायी संयोग-वात्सल्य का चित्र बिम्बित होता है, जो अन्यत्र सुलभ नहीं है। नाटक में छोटे वृक्ष एवं पशु-पक्षी भी सीता के वात्सल्यस्नेह के भाजन बनते हैं। इन सब का सम्यक् विचार पञ्चम अध्याय में किया गया है।

षष्ठ अध्याय

'प्रमुख गद्य एवं चम्पू काव्यों में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण' नामक अध्याय को दो भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम भाग के अन्तर्गत 'कादम्बरी, हर्ष-चरित और दशकुमारचरित' के तीन गद्यकाव्यों तथा द्वितीय भाग के अन्तर्गत तीन चम्पूकाव्यों—'नलचम्पू', 'चम्पूरामायण' तथा 'चम्पूभारत' का वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण की दृष्टि से विवेचन किया गया है। सर्वप्रथम 'कादम्बरी' की विवेचना की गयी है। राजा तारापीड तथा उनकी पत्नी विलासवती के सन्ताना-भाव जनित दुःख का वर्णन तारापीड के उस कथन को विवेचित किया गया है, जिसमें उनके द्वारा भावी पुत्र के विविध रूपों, क्रीड़ाओं आदि की विविध कल्पनायें की गयी हैं। वस्तुतः तारापीड के कथन में बालक का सर्वाङ्ग स्वरूप एवं बाल-सम्बन्धी चेष्टा, क्रीड़ा, लीला आदि का एक बिम्ब खड़ा हो जाता है। इस अध्याय में इस सन्दर्भ पर विशद प्रकाश डाला गया है। रानी विलासवती के गर्भ से चंद्रापीड नामक पुत्र की प्राप्ति हुई, जिसे देखकर तारापीड का वात्सल्य ही तृप्त हो गया। उसी सन्दर्भ में शुकनास के पुत्र की उत्पत्ति की भी चर्चा की गयी है। इसके साथ 'महाश्वेतावृत्तान्त' के अन्तर्गत महाश्वेता के जन्म तथा जन्मोत्सव पर भो प्रकाश डाला गया है। कादम्बरी के वैशम्पायन की कथा को भी सन्दर्भित किया गया है, जिसमें वैशम्पायन के शैशव-भाव तथा उसके पिता के करुण-वात्सल्य स्नेह का वर्णन है। कादम्बरी के शैशव-चित्रण और वात्सल्य-प्रसंग का मूल्यांकन करने पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि कादम्बरी में तारा-पीड के मुख से पुत्र-लालसा के सन्दर्भ में जो कुछ निकला है, उसमें बालक का सर्वाङ्ग स्वरूप उसकी क्रीड़ा, लीला, चेष्टा सभी का समग्र बिम्बन होता है। तारापीड के कथन की सम्यक् समीक्षा करने पर यह कहने में संकोच नहीं होता कि बाणभट्ट शैशव-विज्ञान के विशेष मर्मज्ञ हैं।

बाणभट्ट की दूसरी कृति 'हर्षचरित' को भी षष्ठ अध्याय में लिया गया है, परन्तु एक स्थल को छोड़कर अन्य कोई स्थल नहीं है, जिसमें शैशव-चित्रण की कोई स्थिति बनती हो। वह प्रसंग है मृत्युशैय्या पर पड़े प्रभाकरवर्धन के वात्सल्य-स्नेह का, जिसका प्रकाशन पुत्र हर्षवर्धन के प्रति हुआ है। माता का पुत्र-वात्सल्य भी अति स्वल्प रूप में वर्णित है, परन्तु वह मर्मस्पर्शी है।

दण्डी के 'दशकुमारचरित' में यद्यपि अनेक कुमारों की उत्पत्ति का वर्णन है, परन्तु वहाँ शैशव-चित्रण के लिये कोई अवसर नहीं है। उक्त दृष्टि से राजा राजहंस के पुत्र राजवाहन के उत्पत्ति-प्रसंग को सन्दर्भित किया गया है। राजवाहन की उत्पत्ति से राजहंस के आनन्द का भी दिग्दर्शन कराया गया है। हर्षचरित में राजवाहन की शिशु-क्रीड़ा आदि के विषय में कोई चर्चा नहीं है। केवल उनके संस्कार आदि का उल्लेख किया गया है। रत्नोद्भव के पुत्र पुष्पोद्भव का प्रसंग भी महत्त्वपूर्ण है, जिसमें रत्नोद्भव और उनकी पत्नी सुवृत्ता का पुत्रवात्सल्य प्रकटित हुआ है। एक प्रकार से दशकुमारचरित में शैशव-चित्रण की कोई स्थिति नहीं बनी है।

'प्रमुख चम्पू काव्यों में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण' नामक द्वितीय भाग में सबसे पहले 'नलचम्पू' में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण की स्थिति पर विचार किया गया है। उसमें भीम और उनकी पत्नी प्रियंगुमंजरी के सन्तानाभावजनित दुःख, प्रियंगुमंजरी के गर्भ से कन्यारत्न (दमयन्ती) की उत्पत्ति, उत्पत्ति के उपलक्ष्य में महोत्सव, दमयन्ती की बालसुलभ क्रीड़ाओं एवं चेष्टाओं का विवेचन किया गया है। इसी के साथ ही राजा वीरसेन के पुत्र 'नल' की उत्पत्ति, पुत्रोत्सव एवं सर्वत्र होने वाले आनन्दोत्सव का वर्णन भी किया गया है। नलचम्पू में मुख्य रूप से ये ही दो प्रसंग महत्त्वपूर्ण हैं और उनकी चर्चा की गयी है। एक जगह वनप्रस्थान के समय वीरसेन का नल के प्रति करुण-वात्सल्य भी अच्छे ढंग से प्रकाशित हुआ है। 'चम्पूरामायण' में दशरथ के चारों पुत्रों की उत्पत्ति का वर्णन है। उनकी क्रीड़ा आदि का कोई प्रसंग चित्रित नहीं है। विश्वामित्र के द्वारा राम-लक्ष्मण की याचना, कैकेयी की वर-याचना और राम वनगमन, सुमन्त्र का आगमन, ये कतिपय प्रसंग ऐसे हैं जो नलचम्पू में आये हैं और जिनमें करुण-वात्सल्य या वियोग-वात्सल्य का अच्छा परिपाक हुआ है। ये सभी बातें षष्ठ अध्याय में विवेचना का विषय बनी हैं। 'चम्पूरामायण' का सही मूल्यांकन करने पर यह कहा जा सकता है कि उसमें दशरथ के चारों पुत्रों के संक्षिप्त वर्णन के अतिरिक्त, शिशुक्रीड़ा आदि के लिये कोई विशेष स्थान नहीं है। इतना अवश्य है कि राम के वनगमन और वन से सुमन्त्र के आगमन का प्रसंग ऐसा है, जिसमें करुण-वात्सल्य का सम्यक् प्रकाशन हुआ है।

'चम्पूभारत' में पाण्डु के निरपत्यताजन्य क्लेश-वर्णन के प्रसंग में उनकी पुत्रलालसा सम्बन्धी उस कल्पना को दृष्टिगत किया गया है, जिसमें उन्होंने पुत्र के विषय में अति सजीव चित्र खींचा है। उसमें सन्तानहीन प्राणि मात्र की तद्विषयक कल्पना साकार हो जाती है, इसको बताया गया है। पुत्राभाव में उन्हें 'तात' सम्बोधन से वंचित होने तथा पिण्डादि क्रिया के लुप्त होने का भय है। सौभाग्य-वश उन्हें पाँच पुत्रों की प्राप्ति होती है, वे हैं—युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव। पाँचों पाण्डुपुत्रों के स्तनपान सम्बन्धी विवाद के (कुन्ती द्वारा) किये गये समाधान को भी सन्दर्भित किया गया है। पूरे चम्पूभारत में बाल भीम की चपलता, औद्धत्य, बुभुक्षा आदि की, उक्त अध्याय में, सम्यक् विवेचना की गयी है। चम्पूभारत के वास्तविक मूल्यांकन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि चम्पूभारत में बालपाण्डवों के बालस्वभाव, बालस्वरूप तथा बाल-क्रीड़ा आदि का अति भव्य चित्र प्रस्तुत हुआ है जो अन्यत्र सुलभ नहीं हैं। बाल-पाण्डवों की क्रीड़ा तथा तोतली बोली में पारस्परिक बातचीत आदि को जितने अच्छे ढंग से चम्पूभारत मे चित्रित किया गया है, वह नितान्त प्रशंसनीय है। वस्तुत. चम्पू-भारत का सही मूल्यांकन यह कहने में ही हो सकता है कि उसमें शिशु जगत् से सम्बद्ध सब कुछ सुचारु, आकर्षक एवं सजीव रूप से चित्रित है। निस्सन्देह अनन्तभट्ट शिशुमनोविज्ञान तथा बाल स्वभाव-क्रीड़ा आदि के विशेष पारखी हैं।

२. तुलनात्मक विवेचन

इस शोध-प्रबन्ध में जितनी काव्य-कृतियों को विवेचनार्थ परिगृहीत किया है, उन सबका तुलनात्मक विवेचन सम्भव नहीं है, पर विशेष रूप से निम्नांकित बातें कहीं जा सकती हैं —

प्रथम अध्याय में प्रतिपादित विषयों की तुलनात्मक विवेचना का कोई अवसर नहीं है। द्वितीय अध्याय से लेकर षष्ठ अध्याय तक की काव्य कृतियों में वात्सल्य एवं शैशव जगत् के चित्रित चित्रों को लेकर तुलनात्मक समीक्षा की जा सकती है। एतदर्थ समस्त काव्यकृतियों को चार भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

(क) रामकथाश्रित काव्य-कृतियाँ—इस वर्ग में बाल्मीकीय रामायण, भासकृतप्रतिमानाटक, रघुवंश, भट्टिकाव्य, जानकीहरण, उत्तररामचरित, महा-वीरचरित तथा चम्पूरामायण आदि लिये जा सकते हैं।

(ख) महाभारतकथाश्रित काव्य-कृतियाँ—इस वर्ग में महाभारत के अतिरिक्त, अभिज्ञानशाकुन्तल, शिशुपालवध, नैषधीयचरित, नलचम्पू आदि का परिगणन किया जा सकता है।

(ग) भागवताश्रित काव्य-कृतियाँ—इसमें श्रीमद्भागवत के अतिरिक्त भास के बालचरित को रखा जा सकता है।

(घ) अन्य काव्य-कृतियाँ—इस वर्ग में उन काव्य-कृतियों को रखा जा सकता है, जो रामायण अथवा महाभारत की कथा पर आश्रित नहीं हैं। इस दृष्टि से इस वर्ग में कुमार-सम्भव, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय, बुद्धचरित, सौन्दरनन्द, विक्रमांकदेवचरित, मृच्छकटिक, नागानन्द तथा कादम्बरी, हर्षचरित एवं दशकुमारचरित आदि को लिया जो सकता है।

१. रामकथा के मार्मिक प्रसंगों को कवियों ने अपने काव्य में वर्णनीय विषय के रूप में अंगीकार किया है। वाल्मीकिरामायण में जिन मार्मिक प्रसंगों को विशेष रूप से दृष्टिगत किया गया है, वे हैं—विश्वामित्र की राम-याचना, कैकेयी की वरयाचना तथा रामवनगमन एवं सुमन्त्र का आगमन आदि। वाल्मीकि ने रामायण में शिशु या बाल-सम्बन्धी स्वभाव, क्रीडा-लीला आदि के प्रति कोई विशेष अभिरुचि नहीं दिखायी है। यही स्थिति भास के प्रतिमानाटक, रघुवंश, भट्टिकाव्य, महावीरचरित एवं चम्पूरामायण की भी है। उत्तररामचरित में अपेक्षाकृत बालचित्रण के कुछ अधिक अवसर प्राप्त हैं। इतना अवश्य है कि रामकथा के उक्त मार्मिक प्रसंगों के चित्रण में कवियों की दृष्टि रमी है। वाल्मीकिरामायण एवं उत्तररामचरित में करुण-वात्सल्य का अच्छा परिपाक हुआ है। वात्सल्यचित्रण की दृष्टि से रामायण का क्षेत्र विस्तृत है और उत्तररामचरित का उसकी अपेक्षा संकुचित। यहाँ यह कह देना भी प्रासंगिक है कि वाल्मीकि रामायण तथा विशेष कर उत्तररामचरित में वात्सल्यरस अपने पूर्ण परिपाक के साथ परिलक्षित होता है। उत्तररामचरित का वियोगवात्सल्य और अपेक्षाकृत संयोगवात्सल्य भी निरतिशय सघन है।

२. महाभारत में अनेक उत्पत्तिप्रसंग हैं, पर उन सबमें बाल क्रीडा, लीला आदि के महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ नहीं है। इतना अवश्य है कि पाण्डुपुत्रों में भीम को एक नटखट बालक तथा दुर्योधन को एक षड्यन्त्रकारी बालक के रूप में चित्रित किया गया है। महाभारत के 'सर्वदमन' (शकुन्तलापुत्र) का शैशव-चित्रण भी महत्त्वपूर्ण है। शाकुन्तल में भी सर्वदमन का भव्य शैशवचित्र है। शिशुपालवध एवं नैषधीयचरित शैशवचित्रण की दृष्टि से महत्त्वहीन हैं। नलचम्पू में बालिका-दमयन्ती का शैशवचित्र आकर्षक ढंग से चित्रित है। 'चम्पूभारत एक ऐसा काव्य है जिसमें बाल-स्वभाव, बाल-क्रीडा आदि को विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। महाभारतकथाश्रित काव्यों में 'चम्पूभारत' का बालचित्र सर्वश्रेष्ठ है।

३. 'श्रीमद्भागवत' में चित्रित शैशव-जगत् अपने आप में सर्वोत्तम है। उसमें शैशव-चित्रण एवं वात्सल्य के परिपाक—दोनों को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। भागवतकथाश्रित भास के बालचरित में बालकृष्ण की अद्भुत बाल-लीलाओं को महनीय स्थान प्राप्त हुआ है। अद्भुत बाललीला की दृष्टि से 'श्रीमद्भागवत' के बाद 'बालचरित' का दूसरा स्थान है। श्रीमद्भागवत की भाँति बालचरित में भी देवकी-वसुदेव आदि के करुण वात्सल्य के भव्य चित्र चित्रित हैं।

४ इस श्रेणी में आने वाले काव्यों में मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय, हर्षचरित तथा नागानन्द, सौन्दरनन्द आदि में शैशव-चित्रण को महत्त्व नहीं दिया गया है। इतना अवश्य है कि उक्त ग्रन्थों में वात्सल्य रस के कतिपय चित्र अवश्य मिलते हैं, चाहे संयोगपक्ष के हों अथवा वियोग पक्ष के। वात्सल्य-चित्रण की दृष्टि से 'नागानन्द' को सर्वोपरि स्थान पर रखा जा सकता है। बुद्धचरित एक ऐसा महाकाव्य है कि उसमें बुद्ध का बालस्वरूप अलौकिक रूप से वर्णित है और जिन परिस्थितियों में उनका जन्म हुआ है उनमें उनके माता-पिता का आनन्द, चिन्ता और भय से मिश्रित हो जाता है। मृच्छकटिक में आंशिक रूप से बालक्रीड़ा तथा बालस्वभाव के साथ ही वात्सल्य को भी स्थान प्राप्त हुआ है। विक्रमांकदेव-चरित तथा कादम्बरी ये दो ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनमें बाल्य-चित्रण को महनीय स्थान दिया गया है। दोनों में अन्तर यह है कि 'विक्रमांकदेवचरितम्' में शैशव-चित्रण राजा आहवमल्लदेव के पुत्र विक्रमादित्य के शैशव-चित्रण तक ही सीमित है, जब कि कादम्बरी में शैशव-चित्रण चन्द्रापीड, वैशम्पायन, महाश्वेता आदि अनेक बालकों को समेटता है। तारापीड की पुत्र-विषयक कल्पना में शैशव का सर्वांग-पूर्ण चित्र बिम्बित हो जाता है। इन दोनों ग्रंथों में पुत्राभावजनित क्लेश अपने भव्य रूप में उद्घाटित हुआ है। इस वर्ग की एक महत्त्वपूर्ण काव्य-रचना का ससम्मान उल्लेख करना इसलिए आवश्यक है कि उसमें सर्वांगपूर्ण शैशवचित्र चित्रित है—वह काव्य रचना है, कालिदास का 'कुमारसम्भव' नामक महाकाव्य। उसमें शिव-पार्वती के पुत्र कुमार 'कार्तिकेय' के बालस्वभाव, बालक्रीड़ा, बाललीला तथा बाल-चपलता आदि का एक से एक बढ़कर बिम्बग्राही चित्र चित्रित हुआ है।

३. निष्कर्ष

शोध-प्रबन्ध में वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण की दृष्टि से जितनी काव्य-कृतियों को परिगृहीत किया गया है, उनका सम्यक् आकलन करने पर निम्नांकित स्थितियाँ सामने आती हैं, जो सम्बद्ध काव्यों में किसी न किसी रूप में आयी हैं—

१. सन्तानाभाव के कारण माता-पिता का दुःख तथा सन्तान-प्राप्ति-विषयक लालसा।

२. सन्तान-जन्म के समय माता-पिता एवं अन्य का हर्षोल्लास।

३. शिशुस्वरूप, शिशुक्रीड़ा, शिशुचेष्टा आदि।

४. नवजात शिशुओं की शिक्षा-दीक्षा।

५. संतान के संयोग में संयोग-वात्सल्य तथा संतान के वियोग में वियोग-वात्सल्य का परिपाक।

उक्त के अतिरिक्त शैशव-चित्रण की परिधि में मानवेतर प्राणियों (पशु-पक्षियों) के बच्चों को भी संगृहीत किया जा सकता है और वात्सल्य रस के आलम्बन के रूप में पशु-पक्षी तथा वृक्षलता आदि को भी लिया जा सकता है, क्योंकि काव्यों में उनकी स्थिति है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि संस्कृत-काव्यों में शिशु के भौतिक स्वरूप, चेष्टा, क्रीड़ा आदि के साथ शिशु सम्बन्धी मानवीय भाव (माता-पिता आदि के भाव) को भी स्थान मिला है। 'श्रीमद्भागवत', भास के 'बालचरित', कालिदास के 'कुमारसम्भव', बिल्हण के 'विक्रमांकदेवचरित', अनन्तभट्ट के 'चम्पूभारत' में जहाँ अन्य बातों के साथ-साथ स्वरूप, चेष्टा आदि को महनीय स्थान दिया गया है, वहीं 'वाल्मीकिरामायण', 'उत्तररामचरित' तथा 'नागानंद' आदि काव्यों में वात्सल्य भाव (रस) को महत्त्वपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित किया गया है। वात्सल्य एवं शैशव-चित्रण सम्बन्धी चित्रों से सम्बद्ध संस्कृत-काव्य निश्चित रूप से काव्य-सम्पत्ति के महनीय अंश हैं।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

अध्यात्मरामायणम् : : मुनिलाल : गीताप्रेस, गोरखपुर।

अनर्घराघवम् : : आचार्य रामचन्द्र मिश्र : चौंखम्भा विद्याभवन, वाराणसी।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् : : शारदारंजन राय : कलकत्ता, १९४९।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् : : डॉ० राजदेव मिश्र ; श्री घनश्यामदास एण्ड सन्स चौक, फैजाबाद।

अभिनव का रस विवेचन : : नगीनादास पारिख : विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, १९७४।

अभिनव रससिद्धान्त : : डॉ० दशरथ द्विवेदी : विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, १९७४।

अमरकोष : : मणिप्रभा व्याख्योपेत : चौखम्भा संस्कृत सीरीज-आफिस, वाराणसी, १९६८।

अमरकोष : : डॉ० हरिदत्त शास्त्री : रतिराम शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ, १९६२।

अमरकोष : : रामाश्रमी टीका सहित : चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, १९७०।

अलंकारशास्त्र का इतिहास : : डॉ० कृष्णकुमार : साहित्य भण्डार, सुभाषबाजार मेरठ, १९७५।

आश्चर्यचूडामणि : : शक्तिभद्र : एस० कुप्पूस्वामी की भूमिकासहित, मद्रास, १९२९।

आनन्दरामायणम् : : श्री रामतेज पाण्डेय : पण्डित पुस्तकालय, काशी।

इन्दुमती-स्वयंवर-वर्णन : : डॉ० प्रभाकरशास्त्री : शास्त्री सदन, खूंटेटा मार्ग, जयपुर, १९६८।

उत्तररामचरितम् : : प्रो० शिवबालक द्विवेदी तथा हरिदत्त शास्त्री : ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर—१२

उत्तररामचरितम् ; : श्री ब्रह्मानन्द शुक्ल : साहित्य भण्डार, सुभाष-बाजार, मेरठ, १९७४।

उत्तररामचरितम् : : पं वी० एस० घाटे : नागपुर, १८८५

कठोपनिषद्	: : डॉ० राजदेव मिश्र	: घनश्यामदास एण्ड सन्स, चौक फैंजाबाद, १९८९ ।
कल्याण (बालक अंक)	: : सत्ताइसवें वर्ष का विशेषांक	: गीताप्रेस गोरखपुर, नवीन संस्करण ।
कादम्बरी	: : पाण्डेय रामतेज	: पण्डित पुस्तकालय, काशी, १९५६ ।
कादम्बरी (महाश्वेता वृत्तान्त)	: : डॉ० राजदेव मिश्र	: घनश्यामदास एण्ड सन्स, चौक फैंजाबाद ।
कालिदास-ग्रन्थावली	: : सीताराम चतुर्वेदी	: भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, सं० २०१९ विक्रमी, तृतीय संस्करण ।
कालिदास दर्पण	: : डॉ० शिवप्रसाद भारद्वाज	: विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान, होशियारपुर, १९८३ ।
कालिदास और भवभूति के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन	: : डॉ० सुरेन्द्रदेव शास्त्री	: साहित्य भण्डार, सुभाषबाजार मेरठ, १९६९ ।
काव्यगुणविमर्श	: : डॉ० ऊषा सिंह (भूमिका-डॉ० राजदेव मिश्र)	: शारदा प्रकाशन, नियाँवारोड, फैंजाबाद, १९९२ ।
काव्यप्रकाश:	: : आचार्य विश्वेश्वर सिद्धांत शिरोमणि	: ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी ।
किरातार्जुनीयम्	: : श्रीमद् आदित्य नारायण पाण्डेय	: चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९६८ ।
कुमारसम्भवम्	: : पं० शेषराज शर्मा रेग्मी	: चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९८७ ।
कादम्बरी	: ; श्रीनिवास शास्त्री	: साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ, १९६९ ।
चम्पूकाव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन	: : डॉ० छविनाथ त्रिपाठी	: चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी ।
चम्पूभारतम्	: : आचार्य रामचन्द्र मिश्र	: चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी ।
चम्पूरामायणम्	: : आचार्य रामचन्द्र मिश्र	: चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी ।

चम्पूरामायण का साहित्यिक परिशीलन	:: डॉ० करुणालाल श्रीवास्तव	: काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६८।
जानकीहरणम्	:: ब्रजमोहन व्यास	: मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, १९६९।
डिकशनरी इंग्लिश एण्ड संस्कृत	:: मोनियर विलियम्स	: मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७४।
तापसवत्सराज	:: डॉ० देवदत्त शर्मा प्रो० इंद्रदत्त उनियाल	: साहित्य भण्डार; सुभाष बाजार, मेरठ, १९६९।
दशकुमारचरितम्	:: प्रो०बाबूराम त्रिपाठी	: नवजीवन प्रकाशन, मोतीकटरा, आगरा।
दशकुमारचरितम्	:: श्रीरामतेज पांडेय	: पण्डित पुस्तकालय, बनारस।
दशरूपकम्	:: सम्पादक — डॉ० अमरनाथ पाण्डेय	: भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी।
दशरूपकम्	:: डॉ० भोलाशंकर व्यास	: चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी।
ध्वन्यालोक:	: रामसागर त्रिपाठी	: मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
नलचम्पू:	: डॉ० कैलाशपति त्रिपाठी	: चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९७७
नागानन्दम्	: पं० बलदेव उपाध्याय	: चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी
नाट्यशास्त्रम्	: पं० बटुकनाथ शर्मा तथा पं० बलदेव उपाध्याय	: चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९२९
नाट्यशास्त्रम्	: (सम्पादक) श्री मधुसूदन शास्त्री	: कशी हिन्दू विश्वविद्यलय, वाराणसी, वि० सं० २०२८
नीतिविधिविमर्श:	: डॉ० हरिहरनाथ त्रिपाठी	: सं० सं० वि० वि० वाराणसी १९८८
नैषधीयचरितम्	: ऋषीश्वरनाथ भट्ट	: मास्टर खेलाड़ी लाल एण्ड सन्स, संस्कृत बुक डिपो, बनारस, १९४९
नैषध-परिशीलन	: डॉ० चन्द्रिकाप्रसाद शुक्ल	: हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद

पाश्चात्यदर्शन	: डॉ० वी० बी० सिंह	: शास्त्री सदन, जत्तीबाड़ा, मेरठ, १९९०
पुराणपर्यालोचनम्	: पं० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी	: चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९७६
पुराण-विमर्श	: आचार्य बलदेव उपाध्याय	: चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
प्रतिमानाटकम्	: डॉ० कपिलदेव द्विवेदी	: रामनारायण लाल बेनी-माधव, इलाहाबाद, १९५८
प्रसन्नराघवम्	: आचार्य शेषराज शर्मा	: चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
प्रियदर्शिका	: पं० रामचन्द्र मिश्र	: चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
बाणभट्ट और उनकी कादम्बरी	: डॉ० महेश भारतीय	: विमल प्रकाशन, रामनगर, गाजियाबाद
बालरामायणम्	: जीवानन्द विद्यासागर	: कलकत्ता, १८८५
बुद्धचरितम्	: सम्पादक-महन्त श्री रामचन्द्रदास शास्त्री	: चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९९३
बृहत्कथामंजरी	: शिवदत्त शर्मा	: निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १८०१
बृहद् हिन्दीकोश	: कालिका प्रसाद	: ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी सं० २०२०
भक्तिरसामृत-सिन्धु	: : डॉ० श्यामनारायण पाण्डेय	: साहित्य निकेतन, कानपुर, १९६५
भट्टिमहाकाव्यम्	: : डॉ० चन्द्रमौलि द्विवेदी	: भारतीय विद्या प्रकाशन, कचौड़ीगली, वाराणसी, १९८७
भवभूति ग्रन्थावली	: : रामप्रताप त्रिपाठी	: लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र	: : डॉ० वीरेन्द्र कौशिक	: साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ
भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त	: : प्रो० राजवंश सहाय हीरा	: चौखम्बा प्रकाशन, काशी, १९६७

भारतीय दर्शन	: : डॉ० विश्वनाथ प्रसाद	: शिक्षासाहित्य प्रकाशन, आगरा, १९६७
भारतीय साहित्य शास्त्र	: : आचार्य बलदेव उपाध्याय	: प्रसाद परिषद्, काशी, १९५०
ॱॱव-प्रकाशन	: : शारदातनय	: गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज, बड़ौदा, १९३०
भॱस की भाषा सम्बन्धी नाटकीय विशेषताएँ	: : डॉ० जगदीश दत्त दीक्षित	: आर्य बुक डिपो, करोलबाग, नई दिल्ली १९६७
भासनाटकचक्रम्	: : आचार्य बलदेव उपाध्याय	: चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
मनुस्मृति	: : मणिप्रभा टीका सहित	: चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी
मनुस्मृति	: : डॉ० राजदेव मिश्र	: घनश्याम दास एण्ड सन्स, चौक, फैजाबाद, १९८८
महाकवि अश्वघोष और उनका काव्य	: : डॉ० हरिदत्त शास्त्री	: साहित्य निकेतन, कानपुर, १९६५
महाकवि भवभूति	: : डॉ० शिवबालक द्विवेदी	। ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर, १९८५
महाकवि भवभूति के नाटकों में ध्वनितत्त्व	: : डॉ० शिवबालक द्विवेदी	: आराधना ब्रदर्स, गोविन्द नगर, कानपुर
महाकवि भारवि एवं माघ	: : डॉ० शिवाकान्त शुक्ल भूमिका-डॉ० राजदेव मिश्र	: शारदाप्रकाशन, नियाँवा रोड, फैजाबाद, १९९२
महावीरचरितम्	: : आचार्य रामचन्द्र मिश्र	: चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६८
ॱहाभारत (छहों खण्ड सम्पूर्ण)	: : पं० रामनारायण दत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'	: गोविन्द भवन, गीताप्रेस, गोरखपुर
मालतीमाधवम्	: : शेषराजशर्मा शास्त्री	: चौखम्बा संस्कृत सीरीज
ॱच्छकटिकम्	: : डॉ० कृष्णकान्त त्रिपाठी	: ग्रन्थम रामबाग, कानपुर, १९५५
मेघदूतम्	: : सुधांशु चतुर्वेदी	: स्टूडेण्ट स्टोर, बिहारीपुर, बरेली, १९६४

मेदिनीकोश:	: : पं० जगन्नाथ शास्त्री	: चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
याज्ञवल्क्यस्मृतिः	: : डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय	: चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, १९६७
रघुवंश परिशीलन	: : डॉ० अन्नपूर्णा देव	: आर्य बुक डिपो, करोलबाग, नई दिल्ली, १९८२
रघुवंशमहाकाव्यम्	: : साहित्याचार्य हरगोविन्द मिश्र	: चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९८३
रत्नावली	: : डॉ० शिवराज शास्त्री	: साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ
रत्नावली नाटिका	: : तारणीश शा	: रामनारायण लाल बेनी-माधव, इलाहाबाद १९६९
रसगंगाधरः	: : साहित्याचार्य पं० मधु-सूदन शास्त्री	: काशी हिन्दू वि० वि०, वाराणसी, वि०सं० २०२६
रस-चिन्तन	: : डॉ० रमाशंकर तिवारी	: भारतीय विद्यासंस्थान, जगतगंज, वाराणसी १९८९
रामायण-मीमांसा	: : स्वामी करपात्री जी महाराज	: संतशरण वेदान्ती, धर्म संघ शिक्षा मण्डल, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी १९६८
रामकथा के पात्र	: : डॉ० भ० ह० राजूरकर	: ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर
वाल्मीकिरामायण	: : पाण्डेय राम नारायण दत्त शास्त्री 'राम'	: गीता प्रेस, गोरखपुर
वाल्मीकिरामायण एवं संस्कृत नाटकों में राम	: : डॉ० (कु०) मंजुला सहदेव	: विमल प्रकाशन, ४१३ ए, रामनगर, गाजियाबाद, १९७९
विकासात्मक मनोविज्ञान	: : डॉ० जे० एन० लाल	: महेन्द्र प्रकाशन, नसीराबाद, गोरखपुर, १९८७
विक्रमांकदेवचरितम्	: : पं० विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज	: संस्कृत साहित्य अनुसंधान समिति, वाराणसी, १९५८
विक्रमोर्वशीयम्	: : तारणीश झा	: रामनारायण लाल बेनी-माधव, इलाहावाद
वेणीसंहारनाटकम्	: : पं० रामचन्द्र शुक्ल	: रामनारायण लाल बेनी-माधव, इलाहाबाद १९७१

वैदिक साहित्य और संस्कृति	: : आचार्य बलदेव उपाध्याय	: शारदा मन्दिर काशी, १९६७
वैदिक दर्शन	: : जयदेव वेदालंकार	: भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, १९९१
वैजयन्तीकोषः	: : पं० हरगोविन्द शास्त्री	: चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९७१
शान्तरस : एक विवेचन	: : आचार्य परशुराम चतुर्वेदी	: भारतीय विद्याप्रकाशन, वाराणसी, १९६८
शिशुपालवधम्	: : पं० हरगोविन्द शास्त्री	: चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७२
संस्कृत साहित्य की संक्षिप्त रूपरेखा	: : डॉ० राजदेव मिश्र	: घनश्याम दास एण्ड सन्स, चौक, फैजाबाद
संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास	: : वाचस्पति गैरोला	: चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६७
संस्कृत साहित्य का इतिहास	: : पं० बलदेव उपाध्याय	: शारदा मन्दिर, वाराणसी, १९६८
संस्कृत रूपकों के नायक नाट्य शास्त्रीय विमर्श	: : डॉ० राजदेव मिश्र	: शारदा प्रकाशन, आलोक पुरी, नियाँवा रोड, फैजाबाद १९८८
संस्कृत-इंग्लिश-संस्कृत डिक्शनरी	: : सी० जे० भट्ट	: भारतीय बुक कारपोरेशन, नई दिल्ली, १९८९
संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी	: : मॉनियर विलियम्स	: मोतीलाल बनारसीदास, १९७४
संस्कृत हिन्दी इंग्लिशकोश	: ; डॉ० सूर्यकान्त	: ओरियन्टल लॉगमैन, दिल्ली, १९७५
संस्कृत काव्यकार	: : डॉ० हरिदत्त शास्त्री	: साहित्य भण्डार, मेरठ, १९६३
संस्कृत-सुकवि-समीक्षा	: : पं० बलदेव उपाध्याय	: चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९८३
संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ	: : चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा	: रामनारायण लाल बेनी माधव, इलाहाबाद, १९६७
संस्कृत साहित्य का इतिहास	: : वे० वरदाचार्य, अनुवादक डॉ० कपिलदेव द्विवेदी	: रामनारायण लाल बेनी माधव, इलाहाबाद, १९६२

संस्कृत के महाकाव्यों में बालवर्णन	: : डॉ० अन्नपूर्णा मिश्रा	: ११७/८१ क्यू०, शारदा-नगर, कानपुर, १९९३
संस्कृत साहित्य का समालोचनात्मक इतिहास	: : डॉ० बाबूराम त्रिपाठी	: विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा, १९७३
संस्कृत साहित्य का सुबोध इतिहास	: : सुधीर कुमार गुप्त	: भारती मन्दिर, ३१-सी नईबस्ती, खुरजा, १९५६
संस्कृत साहित्य कोश	: : डॉ० राजहंस सहाय 'हीरा'	: चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी
संस्कृत-काव्यशास्त्र	: : डॉ० देवदत्त कौशिक	: भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९८१
संस्कृत कवि-दर्शन	: : डॉ० भोलाशंकर व्यास	: चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी
साधारणीकरण और समानान्तर चिन्तन	: : डॉ० सुलेखचन्द्र शर्मा	: देववाणी परिषद, दिल्ली, १९८४
साहित्यदर्पणः	: : आचार्य विश्वनाथ	: भारतीय बुक कारपोरेशन, दिल्ली
सौन्दरनन्द	: : सूर्य नारायण चौधरी	: मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९४८
हरविजयम्	: : पं० व्रजलाल सुगुना	: चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
हर्षचरितम्	: : रामचन्द्र शुक्ल	: रामनारायण लाल बेनी-माधव, इलाहाबाद १९६२

●